





गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें ।

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

बर्ग संख्या

आगत संख्या.....

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

चिकित्सास्थानस्यापञ्चदशाध्यायेभ्यो

विषयाणामनुक्रमणिका

चिकित्सास्थान	विषय	पृष्ठ
षोडश अध्याय	कुम्भकामला का स्वरूप	२५२७
विषय	कामला की असाध्यता	"
पाण्डुरोगचिकित्सित का	पाण्डु और कामला की	
उपक्रम	चिकित्सा	२५२८
पाण्डुरोगों की संख्या	खेहनार्थ घृतों की व्यवस्था	"
और भेद	दाडिमाद्यघृत	२५२९
पाण्डुरोग का स्वरूप वा	कटुकघृत	"
सम्प्राप्ति	पथ्याघृत पुस्तकालय	२५३१
पाण्डुरोग का हेतु और	दन्तीघृत	"
लक्षण	द्राक्षाघृत पुस्तकालय	२५३२
पाण्डुरोग का पूर्वरूप	हृदिनादिघृत	"
पाण्डुरोग के सामान्य लक्षण	दो अन्य घृत योग	२५३३
वातज पाण्डु के हेतु और	विरेचन के योग विषयनिशान्त	"
लक्षण	विशालादि फाण्ट	२५३६
पैत्तिक पाण्डु के हेतु वा	अन्य योग	"
सम्प्राप्ति	लोहभस्म प्रयोग	२५३८
पैत्तिक पाण्डु के लक्षण	नवायस चूर्ण	"
श्लैष्मिक पाण्डु का हेतु	गुडादि मण्डूरवटिका	२५३८
और लक्षण	मण्डूरवटक	२५३९
सन्निपातिक पाण्डु का	योगराज	२५४२
हेतु और लक्षण	योगराज	२५४३
मिर्ची के खाने से उत्पन्न	शिलाजतुवटक	२५४५
पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति	पुनर्नवामण्डूर	२५४६
पाण्डुरोग के असाध्यता	दाव्यादिलेह	२५४७
के लक्षण	कामलानाशक दो योग	२५४७
कामला का हेतु और	त्रिफलाद्य लेह	"
सम्प्राप्ति	धान्यवलेह	२५४८
कामला के लक्षण और	मण्डूरवटक	२५४९
भेद	गौडारिष्ट	२५५०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
बीजकारिष्ट	२५५०	व्यपेता हिक्का का लिङ्ग	२५६८
धात्र्यरिष्ट	२५५२	जुद्धहिक्का	२५६६
अन्नपान में प्रयोज्य द्रव	२५५३	अन्नजा हिक्का	२५७०
दोषापेक्षचिकित्सा	२५५३	हिक्काओं की साध्यासा-	
मृत्तिकाभक्षण जनित		ध्यता	२५७२
पाण्डुरोग की चिकित्सा	२५५४	श्वास की सम्प्राप्ति	२५७४
व्योषाद्यघृत	२५५४	महाश्वास का लक्षण	२५७५
मिष्टी के दोष को नष्ट		ऊर्ध्वश्वास	२५७६
करने वाले द्रव्य	२५५४	छिन्नश्वास	२५७७
शाखाश्रित कामला की		तमक श्वास	२५७८
चिकित्सा	२५५५	प्रतमक	२५७९
शाखाश्रित कामल का हेतु		सन्तमक	२५८०
सम्प्राप्ति और लक्षण	२५५६	जुद्धश्वास	२५८१
पथ्य	२५५६	श्वासों की साध्यासाध्यता	२५८२
पित्त के कोष्ठ में वापिस		हिक्का और श्वास की	
लाने के लिये योग	२५५८	चिकित्सा	२५८३
हलीमक का स्वरूप	२५५८	हरिद्राद्यधूमवर्ति	२५८५
हलीमकचिकित्सा	२५५९	धूम के अन्य कतिपय	
अध्यायोक्त विषय	२५६०	योग	२५८६
सप्तदश अध्याय		क्षतक्षीण आदि में अनु-	
हिक्काश्वासचिकित्सित का		बन्धज हिक्का और श्वास	
उपक्रम	२५६१	में चिकित्साक्रम	२५८७
अग्निवेश का प्रश्न	२५६१	अस्वेद्य	२५८८
आत्रेय का उत्तर	२५६१	स्वेदार्थ उत्कारिका योग	२५८९
हिक्का और श्वास के हेतु	२५६२	अवस्थिकी चिकित्सा	२५९०
हिक्का और श्वास की		हिक्काश्वास में संशोधन	
सामान्य सम्प्राप्ति	२५६३	पर विचार	२५९१
हिक्काओं का पूर्वरूप	२५६४	निदिग्धिकाद्ययूष	२५९२
श्वासों का पूर्वरूप	२५६४	रास्नादियूष	२५९३
हिक्का की विशिष्ट सम्प्राप्ति	२५६५	क्षारयूष	२५९४
महाहिक्का का लिङ्ग	२५६५	अन्य यूप योग	२५९५
गम्भीरा हिक्का	२५६६	वैगन का यूप	२५९६
		पथ्य अन्न	२५९७

विषय	पृष्ठ
हिङ्गवादि यवागू	२५६२
दशमूल्यादियवागू	"
अन्नपान के संस्कारार्थ	
द्रव्य	२५६३
प्यास लगने पर पानार्थ	
द्रव	"
पाठादिसन्धान (सुरासव)	२५६४
हिङ्गवादिचूर्ण	२५६५
सौवर्चलादिचूर्ण	"
तीन कल्कयोग	"
पित्तानुग श्वास में मधूलि-	
काद्युत्कारिका	२५६६
वातानुबन्ध श्वास में पथ्य	"
वातपित्तानुबन्ध श्वास में	
अनुपान	२५६७
कफपित्तानुबन्ध श्वास में	
अनुपान	"
मधुकादियोग	२५६८
गदह आदि के शकट्रसों के	
प्रयोग	"
अश्वगन्धाक्षारलेह	२५६९
अन्य लेहयोग	"
आवस्थिक संशोधन	"
श्वास में वायुमार्ग का नित्य	
शोधन होना चाहिये	२६००
शठ्यादिचूर्ण	"
मुक्ताद्यचूर्ण	२६०१
शठ्यादिचूर्ण (अपर)	२६०२
लोहभस्मप्रयोग	"
तामलक्यादियोग	"
नावनयोग	२६०३
घृत और लेहयोग	२६०४
हिक्काप्रच्यवन भाव	"

विषय	पृष्ठ
निदानत्याग	२६०५
घृतप्रयोगविधान	"
दशमूलाद्यघृत	"
तेजोवत्यादिघृत	२६०६
मनःशिलादिघृत	२६०७
अन्य घृतयोग	"
श्वास और हिक्का में हितकर	
अन्नपान वा औषध	२६०८
शमन और वृंहणकर्म का	
विधान	२६०९
अध्यायोक्तविषय	२६१०
अष्टादश अध्याय	
कासचिकित्सित का उप-	
क्रम	२६११
कास के भेद	"
कास का पूर्वरूप	"
कास की सम्प्राप्ति और	
निर्वचन	२६१२
वेदना वा शब्द की विषमता	
में हेतु	२६१३
वातज कास के हेतु	२६१४
" " लक्षण	"
पैत्तिक कास के हेतु	२६१५
" " लक्षण	"
कफकास के हेतु	२६१६
" लक्षण	"
क्षतज कास का हेतु और	
सम्प्राप्ति	"
क्षयज कास का हेतु व	
सम्प्राप्ति	२६१८
क्षयजकास के लक्षण	"
क्षयज तथा क्षतज कास	
की साध्यासाध्यता	२६१९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
वातकासचिकित्सा	२६२०	पित्तकास में अन्नपान-	
कण्टकारीघृत	२६२१	व्यवस्था	२६३८
पिप्पल्यादिघृत	२६२२	शरादिपञ्चमूलक्षीर	२६३६
त्र्यूषणाद्यघृत	२६२३	स्थिरादिक्षीर	"
रास्नाघृत	"	सर्पिर्गुड	२६४०
विडङ्गादिचूर्ण	२६२४	शर्करादिरस	२६४१
द्विजारादिचूर्ण	२६२५	घृतयोग	"
शल्यादिकल्क	"	कफकासचिकित्सा	२६४२
दुरालभादि लेह	"	कफकास में हितकर	
दुःस्पर्शादिलेह	"	अन्नपान	"
विडङ्गादिलेह	"	पुष्करमूलादि पानीय	"
चित्रकादिलेह	२६२६	कट्फलादि क्वाथ	२६४३
अगस्त्यहरीतकी	२६२७	पाठादियोग	"
अन्य योग	२६२८	नागरादियोग	"
धूमविधान	"	पिप्पलीप्रयोग	२६४४
धूमपानविधि	"	कासमर्द आदि के रस	"
मनःशिलादिधूम	२६३०	देवदारवादि लेह	"
प्रपौण्डरीकाद्य धूमवर्ति	२६३१	पिप्पल्यादि लेह	"
मनःशिलादिधूमवर्ति	२६३२	कफकासनाशक चार लेह	"
हरितालादिधूमवर्ति	"	सौवर्चलादिचूर्ण	२६४५
इङ्गुदीत्वगादिधूम	"	दशमूलादिघृत	"
वातकास में पथ्य	२६३३	कण्टकारीघृत	२६४६
यवान्यादिपेया	"	कुलत्थादिघृत	२६४७
अन्य पेयायोग	"	धूम के योग	"
पैतिककासचिकित्सा	२६३५	आवस्थिक चिकित्सा	२६४८
पित्तकास में पांच लेह	२६३६	क्षतजकासचिकित्सा	२६४९
शर्करादिलेह	२६३७	पिप्पल्यादिलेह	"
मृद्वीकादिलेह	"	पित्तकास की चिकित्सा	
क्षीरपगोशकृद्रसलेह	"	का अतिदेश	२६५०
त्वगादिलेह	"	आवस्थिकचिकित्सा	"
पिप्पल्यादिलेह	२६३८	द्विमेदादिधूमवर्ति	२६५२
पित्तकासनाशक विदार्या-		गनः शिलादिधूम	"
दियोग	"		

विषय	पृष्ठ
अन्य धूमयोग	२६५२
क्षयजकास में चिकित्सा- क्रम	२६५३
द्विपञ्चमूल्यादिघृत	२६५६
गुडूच्यादिघृत	२६५७
कासमर्दादिघृत	"
अन्य घृतयोग	२६५८
हरीतकी लेह	२६५९
अन्य लेहयोग	२६६१
द्राक्षादिलेह	"
चित्रकादिलेह	२६६२
पद्मकादिलेह	"
जीवन्त्यादिलेह	२६६३
अपर लेहयोग	२६६४
पेयायोग	"
गौरसर्पपादियवागू	"
अन्य आहारयोग	२६६५
क्षतकासोक्त धूमों का अतिदेश	"
क्षयकास में चिकित्सासूत्र	२६६६
क्षयकास में त्रिदोषहित कर्म करना चाहिये	"
दोषानुसार क्षयजकास का बलाबल	"
अध्यायोक्तविषयसंग्रह	२६६७
ऊनविंश अध्याय अतीसारचिकित्सित का उपक्रम	२६६८
अतीसार की प्रागुत्पत्ति	"
वातज अतीसार की सम्प्राप्ति	२६६९
वातज अतीसार के रूप	२६७०
पित्तातिसार की सम्प्राप्ति	२६७२

विषय	पृष्ठ
पित्तातिसार के लक्षण	२६७२
श्लेष्मातिसार की सम्प्राप्ति	२६७३
श्लेष्मातिसार के लक्षण	"
सन्निपातातिसार की सम्प्राप्ति	२६७४
सन्निपातातिसार के रूप	२६७५
अतिसार के असाध्य- लक्षण	२६७६
आगन्तु अतिसार के भेद और उनके लक्षण	२६७८
भयज और शोकज अति- सार में चिकित्सासूत्र	२६७९
आमातिसार में संग्राही औषध का निषेध	२६८१
प्रमथ्याविधान	२६८२
प्रमथ्या के तीन योग	"
पानार्थ संस्कृत जल	२६८४
आहारक्रम	२६८५
वातश्लेष्मनाशक दीपन पाचन गण	२६८६
आम के पक्क होने पर प्रवा- हिका की चिकित्सा	"
खड्योग	२६८७
वर्चःक्षय में अन्नपान	"
गुदभ्रंशचिकित्सा	२६८९
चाङ्गेरीघृत	"
चव्यादिघृत	२६९१
अनुवासनयोग	"
स्तब्ध गुदभ्रंश में कर्म	२६९२
अवास्थिक चिकित्सा	२६९३
पित्तातिसारचिकित्सा	२६९४
पानार्थ मुस्तादि जल	"
अन्नपान	"

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
दीपनीय आदि योगों का विधान	२६६५	वर्त्तिका	२७१०
अतिविषादि चूर्ण	"	कफजातीसारचिकित्सा	"
पित्तातिसारनाशक छुह योग	"	कफातीसार नाशक चार	"
पित्तातिसार में बकरी के दूध का प्रयोग	२६६६	क्वाथयोग	"
विरेचनविधान	२६६७	अजाज्यादिचूर्ण	२७११
विरेचनार्थयोग	"	रसाज्जनादिचूर्ण	"
अनुवासनविधान	२६६८	कफजातीसार में चारयोग	२७१२
शतपुष्पाद्यनुवासन	"	अन्य योग	"
पिच्छावस्ति विधान	"	बालवित्वादि लेह	२७१३
पिच्छावस्ति	२६६९	पथ्य	"
रक्तातिसार का हेतु तथा पित्तातिसार के अन्य उपद्रव	२७००	घृतयोगों का अतिदेश	"
रक्तातिसारचिकित्सा- बकरी के दूध का प्रयोग	२७०१	पिच्छावस्ति विधान	"
अन्नपान	"	अनुवासन	२७१४
नीलोत्पलादियोग	२७०२	कफ के क्षीण होने पर वात की वृद्धि और उस की आत्ययिकता	"
अन्य योग	२७०३	सन्निपातातिसारचिकित्सा	२७१५
दारुणादिघृत	"	अध्यायोक्तविषयसंग्रह	"
कृष्णमृदादियोग	२७०४	विंश अध्याय	
अन्य योग	"	छूर्दिचिकित्सा का उपक्रम	२७१६
गुदपाकचिकित्सा	२७०५	अग्निवेश का प्रश्न	"
अति रक्तस्राव में चिकित्सा	२७०६	आत्रेय का उत्तर	"
रक्तप्रवाहिका की चिकित्सा	२७०७	छूर्दि के भेद	२७१७
चिरकालिक अतिसार में गुदा में स्नेह प्रयोग	२७०८	छूर्दियों का पूर्वरूप	"
अतिसार की अतिप्रवृत्ति में बस्तिकर्म की प्रधानता	"	वातज छूर्दि के हेतु और सम्प्राप्ति	"
रक्तस्रावस्तम्भक योग	"	वातज छूर्दि के लक्षण	२७१८
		पैत्तिक छूर्दि का हेतु और सम्प्राप्ति	२७१९
		पैत्तिक छूर्दि के लक्षण	"
		कफज छूर्दि का हेतु व सम्प्राप्ति	"

विषय	पृष्ठ
कफज छर्दि के लक्षण	२७२०
त्रिदोषज छर्दि के हेतु और सम्प्राप्ति	,,
त्रिदोषज छर्दि के लक्षण	,,
असाध्य छर्दि	२७२१
द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि	,,
छर्दि का साध्यासाध्य	
विचार	२७२३
छर्दि.चिकित्सा	२७२४
वातज छर्दि की चिकित्सा	२७२५
पित्तज	,, २७२७
कफज	,, २७३०
त्रिदोषज	,, २७३३
द्विष्टार्थसंयोगज,, ,,	,,
उपद्रवों की चिकित्सा	२७३५
चिरप्रवृत्त छर्दि में चिकित्साक्रम	,,
अध्यायोक्तविषय-संग्रह	२७३६
एकविंश अध्याय	
विसर्प चिकित्सित का उप-क्रम	,,
अग्निवेश का प्रश्न	,,
भगवान् आत्रेय का उत्तर	२७३८
विसर्प का निर्वचन	,,
विसर्प के दोष और दूष्यों की संख्या	,,
विसर्प के भेद	२७३९
सात धातु(दोष, दूष्य)ओं का परिगणन	,,
विसर्प का निदान	,,
विसर्प की सम्प्राप्ति	२७४२
विसर्प के आश्रय वा आश्रय	

विषय	पृष्ठ
की भिन्नता से विसर्प के भेद	२७४२
विसर्प का साध्यासाध्य विचार	२७४३
तीनों विसर्पों में दोषों का विसर्पण कहाँ कहाँ होता है,,	
अन्तर्मागाश्रित विसर्प	,,
बहिर्मागाश्रित विसर्प	२७४४
असाध्य विसर्प	,,
वातिक विसर्प के हेतु और सम्प्राप्ति	२७४५
वातिक विसर्प के लक्षण	,,
पित्तज विसर्प के हेतु और सम्प्राप्ति	२७४७
पित्तज विसर्प के लक्षण	,,
श्लैष्मिक विसर्प के हेतु और सम्प्राप्ति	२७४८
श्लैष्मिक विसर्प के लक्षण	२७४९
वातपित्तज (अग्नि) विसर्प की सम्प्राप्ति	२७५०
वातपित्तज विसर्प के लक्षण	,,
कफपित्तज (कर्दम) विसर्प की सम्प्राप्ति	२७५२
कफपित्तज (कर्दम) विसर्प के विकार वा लक्षण	२७५३
कफवातज (ग्रन्थि) विसर्प की सम्प्राप्ति और लक्षण	२७५४
ग्रन्थिविसर्प के उपद्रव	२७५५
उपद्रव का लक्षण और उसका प्रतिकार	२७५६
सान्निपातिक विसर्प की चिकित्सा	२७५७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
विसर्प का साध्यासाध्य विचार	२७५८	नलदाद्य प्रलेप	२७६८
कफस्थानगत सामदोष में चिकित्सा सूत्र	२७६०	अन्य प्रदेहयोग	"
पित्तस्थानगत सामदोष में चिकित्सा सूत्र	२७६१	बलाद्यालेपन	२७६६
वातस्थानगत सामदोष में चिकित्सा सूत्र	"	अन्य प्रलेप वा प्रदेहयोग	"
रक्तपित्तानुबन्ध में भी प्रारम्भ में स्नेहन हितकर नहीं	"	प्रपौण्डरीकाद्य प्रलेप	२७७०
वातोल्बण तथा पित्तोल्बण विसर्पों में चिकित्साक्रम	"	अन्य कतिपय प्रलेपयोग	"
कफपित्तज में मदनादि-वमनयोग	२७६२	त्रिफलादिप्रदेह	२७७१
पटोलादिबमनयोग	"	खादिराद्यालेपन	"
तीन कषाययोग	२७६३	पांच आलेपयोग	२७७२
किराततिकादिकषाय	"	वातपित्तोल्बण विसर्प में प्रदे	
प्रपौण्डरीकाद्य काथ	२७६४	सम्बन्धी निर्देश	२७७३
द्राक्षाद्य शीतकषाय	"	वात-रक्त-पित्त-प्रधान विसर्प में बाह्य उपचार	"
पटोलाद्य शीतकषाय	"	दूर्वाघृत	"
पटोलादिकषाय	२७६५	दाव्याद्यवचूर्णन	"
महातिरुघृत का अतिदेश	"	प्रक्षालन और प्रलेप योग	२७७४
त्रायमाणाघृत का अतिदेश	"	प्रदेहों के लगाने का नियम	"
विसर्प में विरेचनयोग	"	विसर्पों में हितकर अन्नपान	२७७६
शाखाश्रित विसर्प की चिकित्सा	२७६६	अपथ्य	२७७८
रक्तनिर्हरण	"	दोषभेद से चिकित्सा	२७७९
उदुम्बरादिप्रदेह	२७६७	ग्रन्थिवीसर्पचिकित्सा	"
न्यग्रोधपादाद्य लेप	"	बलाद्यप्रलेप	२७८०
कालीयादिप्रलेप	२७६८	भेदनार्थ दन्त्यादिलेप	२७८१
शाद्वलादिप्रदेह	"	भेदनार्थ अन्तः प्रयोज्य औषध	२७८२
सारिवाद्य प्रलेप	"	लौह आदि से प्रपीडन	"
	"	दाहाविधान	२७८३
		शस्त्रकर्म	"
		कम्पिप्लकादितैल	२७८४
		गलगण्डचिकित्सा	२७८५
		विसर्पों में रक्तनिर्हरण की प्रधानता	"
		अध्यायोक्तविषय संग्रह	२७८६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
द्वाविंश अध्याय		मुखलेप	२८०६
तृणाचिकित्सित का		अन्य उपचार	२८०७
उपक्रम	२७८७	वातज तृणा चिकित्सा	२८०८
तृणा का हेतु और		पित्तज तृणा	२८०९
सम्प्राप्ति	"	आमज तृणा	२८११
औपसर्गिक तृणा	२७८८	क्षयज तृणा	२८१२
तृणा का पूर्वरूप तथा		मद्यज तृणा	"
अपना लक्षण	"	भक्तरोधजा तृणा	२८१३
तृणा के लक्षण	२७९०	गुरु भोजन से उत्पन्न	
वातज तृणा के लक्षण	"	तृणा	"
पित्तिक तृणा के लक्षण	२७९३	तालुशोष चिकित्सा	"
आमजा तृणा के लक्षण	२७९४	स्निग्ध भोजन से उत्पन्न	
सक्षयजा तृणा का		तृणा की चिकित्सा	२८१४
लक्षण	२७९७	मूर्च्छा में उत्पन्न तृणा की	
औपसर्गिक तृणा का लक्षण	२७९८	चिकित्सा	"
तृणा का असाध्य लक्षण	"	शृतशीतल के प्रयोग की	
तृणा में वात और पित्त		अवस्थायें	"
की हेतुता	२७९९	उष्णजल के प्रयोग की	
क्षयजा तृणा	"	अवस्थायें	२८१५
क्षयजा तृणा	"	जलपान कब हितकर नहीं	"
क्षयजा तृणा की शीतजलपान		धान्याम्बुप्रयोग	"
से शान्ति	२८००	अध्यायोक्त विषय संग्रह	२८१७
वातजलस्नान से उत्पन्न		त्रयोविंश अध्याय	
तृणा	२८०१	विषचिकित्सित का उप-	
तृणा की सामान्य		क्रम	"
चिकित्सा	२८०२	विष की प्रागुत्पत्ति तथा	
द्रवजल का प्रयोग	"	निर्वचन	"
द्रवजल (वर्षाजल) के		विष की योनि	२८१८
भाव में ग्रहणयोग्य जल	२८०३	वर्षा में विष शीघ्र विसर्पण	
य मन्थ आदि के योग	"	करता है, शरद् में मन्द-	
	२८०५	वीर्य होता है	"
द्विषयोग	"	जङ्गमविष	२८१९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
स्थावरविष	२८१६	लेप	२८३६
गरविष	२८२१	शीतल उपचार	”
जङ्गमविष के लक्षण	२८२२	विषवेग से उत्पन्न होने वाले	”
स्थावरविष के ”	”	उपद्रव	२८४०
विषों की गति	”	दंशच्छेद का लाभ	”
विष के आठ वेगों के पृथक्	”	दाह और रक्तसाव	२८४१
पृथक् लक्षण	२८२३	प्रथम और द्वितीय वेग	”
चौपायों में चतुर्विध विष-	”	में चिकित्सा	”
वेग	२८२६	हृदयरक्तक औषध	”
पक्षियों में त्रिविध विष-	”	तृतीय और चतुर्थ वेग में	”
वेग	२८२७	चिकित्सा	२८४२
विष के दस गुण	”	पांचवे और छठे वेग में	”
इन गुणों का देह पर प्रभाव	२८२८	चिकित्सा	२८४३
वातस्थान में पहुंचे विष के	”	अन्तिम वेग में चिकित्सा	”
लक्षण	२८३०	मृतसंजीवन	२८४४
पित्तस्थान में पहुंचे विष	”	वार्त्ताकादि अगद योग	”
के लक्षण	”	सुरसादि अगद योग	”
कफस्थान में पहुंचे विष	”	काकाण्डादि अगद योग	२८४५
के लक्षण	”	मृतसंजीवन अगद	”
दूषीविष का प्रभाव	२८३१	मन्त्र अपामार्जन और	”
विष का मारक प्रभाव कैसे	”	आत्मारक्षा	२८४८
होता है	२८३३	दोषस्थान के भेद से विष	”
विषमृत पुरुष में विष की	”	की चिकित्सा	”
स्थिति का स्थान	”	वातस्थान में स्थित विष	”
विष से मृत्यु होने के	”	की चिकित्सा	”
लक्षण	२८३४	पित्तस्थान में स्थित विष	”
विषचिकित्सा के २४ उप-	”	की चिकित्सा	”
क्रम	”	कफस्थान में स्थित विष	”
अरिष्टाबन्धन निष्पीडन	”	की चिकित्सा	२८४६
और उत्कर्तन	२८३६	रक्तस्थित दूषीविष-	”
चूषण और रक्तमोक्षण	२८३७	चिकित्सा	”
प्रतिसारण	२८३६	विषचिकित्सासम्बन्धी	”
त्रिकद्वादिघर्षण चूर्ण	”	निर्देश	”

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
उपधान और प्रथमन	२८४६	का देह पर प्रभाव	२८६६
विषसङ्क्रामण	२८५०	मूलविष में चिकित्सक्रम	२८७०
नस्यकर्म	२८५१	सविष सर्पों की श्रेणियां	„
अञ्जन	„	तीनों श्रेणियों के सर्पों के	„
गन्धहस्ती अगद	२८५२	लक्षण	२८७१
महागन्धहस्ती अगद	२८५४	प्रत्येक श्रेणी के सर्पविष	„
ऋषभकादि योग	२८५६	के गुण	२८७२
हिङ्गवादियोग	„	दर्वाकर सर्प के दंशलक्षण	„
कोलास्थ्यादि लेह	„	मराडली „	२८७३
बृहतीद्वयादिधूम	„	राजिमान् „	२८७४
शिखिवर्हादिधूमागद	२८६०	सर्प सर्पिणी और नपुंसक	„
नतादि धूमागद	„	सर्प की पहिचान	„
जत्वादि धूमागद	„	इन तीनों से दष्ट के लक्षण	२८७५
क्षारागद	„	गर्भिणी और सूता से दष्ट	„
विषदाता पुरुष की पहिचान	२८६२	के लक्षण	२८७६
सविष पानान्न की परीक्षा	२८६३	गौधेरकसर्प और उससे	„
सविष अन्न के गन्ध और	„	दष्ट के लक्षण	„
स्पर्श द्वारा लक्षण	२८६५	अत्यन्त हानि कर दंश वा	„
सविष अन्न का मुख में	„	सर्पित का लक्षण	२८७७
जिह्वा आदि पर प्रभाव	„	तीनों श्रेणियों के सर्प किस	„
सविष अन्न का	„	अवस्था में तीव्र विषयुक्त	„
आमाशय पर प्रभाव	२८६६	होते हैं	„
सविष अन्न का	„	सर्प की चार दाढ़ें	२८७८
पकाशय पर प्रभाव	„	दाढ़ों में विष की मात्रा	„
सविष दातौन का प्रभाव	२८६७	चारों दाढ़ों से दष्ट के पृथक्	„
सविष अञ्जन का	„	लक्षण	२८७९
सविष स्नान आदि का	„	कीटों की उत्पत्ति	„
प्रभाव	२८६८	दूषीविषकीटों से दष्ट के	„
भूमि पादुका आदि के	„	लक्षण	२८८०
विषजुष्ट होने पर प्रभाव	„	प्राणहर कीट से दष्ट के	„
सविष माला का प्रभाव	२८६९	लक्षण	„
कूप आदि में विष डालने	„	दूषीविष लूताओं से दष्ट	„
पर लक्षण और उस जल	„	के लक्षण	२८८१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
लूतादृष्ट के सामान्य लक्षण	२८८२	पैत्तिक विष के लक्षण	२८६५
दूषीविष चूहे से दृष्ट के लक्षण	२८८३	श्लैष्मिक विष के लक्षण	२८६६
असाध्यमूषिकदृष्ट के लक्षण	२८८४	वातिक विष की चिकित्सा	"
कृकलासदृष्ट के लक्षण	२८८५	पैत्तिक "	"
वृश्चिक (बीछू) दृष्ट के लक्षण	"	श्लैष्मिक "	"
असाध्य वृश्चिकदृष्ट के लक्षण	"	वृश्चिक और उच्चिटिङ्ग को छोड़ कर सर्वत्र शीतल विधान	२८६७
कणभदृष्ट के लक्षण	२८८६	वृश्चिकदृष्टचिकित्सा	२८६८
उच्चिटिङ्ग दृष्ट के लक्षण	"	उच्चिटिङ्गदृष्ट चिकित्सा	"
सविषमण्डकदृष्ट के लक्षण	"	पागल कुत्ते के लक्षण	"
सविष मत्स्यदृष्ट के लक्षण	२८८७	शृगाल आदि अन्य पागल जन्तुओं से काटे के लक्षण	२८६९
सविष जोंक से दृष्ट के	"	सविष और निर्विष दंश के लक्षण	"
गलगोडिका और शतपदी से दृष्ट के लक्षण	"	विषजनित हृदिदाह और प्रसेक में चिकित्सा	२८७०
मच्छुर से दृष्ट के लक्षण	२८८८	शिरोगत विषचिकित्सा	२८७१
असाध्य मच्छुर से दृष्ट के लक्षण	"	ऊर्ध्वदृष्ट वा अधोदृष्ट में विषसक्रामण	"
मक्षिकादृष्ट के लक्षण	"	नेत्रगत विष में पिप्पल्या-द्यञ्जन	"
स्थगिका मक्खी मारक है	"	कण्ठगत और आमाशयगत विष में चिकित्सा	"
स्थ न तथा काल भेद से सर्पदृष्ट पुरुषों की असाध्यता	२८८९	पकाशयगत विष में पिप्पल्यादियोग	२८७२
विषवृद्धि की अवस्थायें	२८९१	रसगत विष में योग	"
मन्दविष सर्प	२८९२	रक्तगत "	"
सर्प विषमोचन कब नहीं करता	"	मांसगत "	२८७३
उच्चिटिङ्ग आदि के विषों में दोषविशेष की प्रधानता का निर्देश	२८९३	सर्वधातुगत,	"
दोषानुसार चिकित्साक्रम	२८९५	पिप्पल्यादि प्रतिसारणयोग	"
वातिक विष के लक्षण	"	मांस्यादियोग	२८७४
		चन्दनादियोग	"
		सर्पदृष्ट में अगदयोग (दो)	२८७५

पृष्ठ
२६५
२६६
,
,
,
ड
२७
२८
०
१
२
३
४

विषय	पृष्ठ
दर्वीकर दष्ट में सिन्दु-	
वारादियोग और नस्य	२६०६
मण्डलीदष्ट में मज्जिष्ठादि योग ,,	
राजिमान् दष्ट में व्योषादि योग	२६०७
गृहधूमादि योग	,,
कीटविषनाशक योग	,,
लूता पर चन्दनादि योग	२६०८
मधूकादि योग	२६०९
कर्णिकापातनार्थ कुसुम्भ-	
पुष्पादिलेप	,,
कटभ्यादियोग	,,
सूषिकविषनाशक योग	२६१०
कुटजफलदियोग	,,
त्रिकण्टकविष-चिकित्सा	,,
वृश्चिकविष में कषोतविडा-	
दियोग	२६११
मण्डूकदष्ट में औषध	,,
मत्स्यदंश में योग	,,
जोंकों के दंश में चिकित्सा	२६१२
उच्छिष्टिङ्ग और कणभ दृष्ट	
की चिकित्सा	२६१३
परम अगद	,,
शतपदी विष में सर्जिकाय	
योग	२६१४
गृहगोधाविष में कपित्थाद्य	
योग	,,
सब विषों में प्रयोज्य योग	,,
पञ्चशिरीष अगद	२६१६
नखदन्तक्षत के लक्षण	,,
नखदन्तक्षत की चिकित्सा	,,
शङ्काविष का लक्षण	२६१७
शङ्काविष की चिकित्सा	,,

विषय	पृष्ठ
विषों में पथ्य	२६१८
विषमुक्त के लिये परिहार्य	२६१९
चौपायों में दष्ट के लक्षण	,,
देवदारवादि अगद	२६२०
स्त्रियों द्वारा गर का	
खिलाया जाना	,,
गरसेवन से लक्षण	,,
गर-चिकित्सा	२६२२
ताम्रप्रयोग	,,
स्वर्णप्रयोग	,,
नागदन्त्यादिघृत	२६२३
अमृतघृत	२६२४
सर्पदष्ट की सामान्य	
चिकित्सा	२६२६
विषापह द्रव्यधारण	२६२७
अध्यायोपसंहार	२६२८
चतुर्विंश अध्याय	
मदात्ययचिकित्सित का	
उपक्रम	२६२९
मद्यप्रशंसा	,,
मद्यपानविधि	२६३१
वातिक पुष्प के लिये	
विधान	२६३३
पैत्तिक पुरुष के लिये	
विधान	२६३४
श्लैष्मिक पुरुष के लिये	
विधान	,,
वातलादि प्रकृतियों के	
लिये विशेष विशेष मद्यों	
का निर्देश	,,
मद्य का गुणदोषमय होना	२६३५
यथाविधि पीतमद्य अमृत	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
सदृश होती है	२६३५	प्रशस्त देश और प्रशस्त	
अविधिपीत विषसदृश		काल में इष्ट विषयों के	
होती है	,,	साथ मद्यपान करना	
मद्य के दस गुण	२६३६	चाहिये	२६५३
ओज के दस गुण	,,	मद किन्हें सहसा नहीं	
मद्य के गुणों से ओज के		चढ़ता	,,
गुणों का पराभव	,,	मद किन्हें शीघ्र चढ़ता है	,,
हृदय ओज का स्थान है	२६३७	वातज मदात्यय का हेतु	२६५४
मद्य के अतिपान से हृदय		,, मदात्यय के लक्षण	,,
की विकृति	२६३८	पैत्तिक मदात्यय का हेतु	२६५५
मद्य के तीन मद	,,	,, मदात्यय के लक्षण	,,
पिष्टकृत मद्य की विशेषता	,,	शैथिल्य मदात्यय का हेतु	२६५६
मद का लक्षण	,,	,, मदात्यय के लक्षण	,,
प्रथम मद के लक्षण	२६३९	मद्य और विष के गुण एक	
मध्यम मद के	२६४०	से हैं	२६५७
मध्यम और उत्तम मद की		अन्तिम मद और विष की	
मध्यावस्था में लक्षण	२६४१	तुलना	,,
तृतीय (उत्तम) मद के		सब मदात्ययों की विदोष	
लक्षण	२६४२	जता	२६५८
अहित और अतिमात्रा		मदात्यय के सामान्य लक्षण	,,
में पीत मद्य के दोष	२६४४	मदात्यय में चिकित्साक्रम	२६६०
मद्य स्वभाव से अन्न है	२६४५	समपीत मद्य से मदात्यय	
युक्तियुक्त मद्य के गुण	२६४६	का नाश	,,
मद्यसेवन की युक्ति	२६४७	मदात्यय में मद्यप्रयोग	२६६१
तीनों प्रकार के मदों में		मदात्यय में अन्य अम्ल	
मन की अवस्थायें	२६४८	द्रव्यों की अपेक्षा मद्य का	
मद्य प्रकृतिदर्शक है	२६४०	प्रयोग क्यों श्रेष्ठ है	२६६३
सात्त्विक पानगोष्ठी	,,	वातिक मदात्यय की	
राजस	२६५१	चिकित्सा	२६६४
तामस	,,	पित्तोत्पन्न मदात्यय की	
पानगोष्ठी में त्याज्य साथी	,,	चिकित्सा	२६६८
,, ग्राह्य साथी	२६५२	अनुतर्ष की मात्रा	२६७१

विषय	पृष्ठ
कुल्ल एक योग	२६७२
पञ्चासल्लयोग	"
शीतल बाह्य उपचार	"
फलिन्यादिप्रलेप	२६७४
बदरीपल्लव आदियों के लेप	२६७५
परिषेक आदि में योग	"
कफज मदात्यय की चिकित्सा	२६७६
अष्टाङ्गलवण	२६८०
श्वेत अंगूर वा आवजोश की चटनी	"
कारवी का राग	२६८१
आम आदि के राग	२६८२
कफाधिक मदात्यय में अन्य उपचार	२६८३
सन्निपातज मदात्यय की चिकित्सा	२६८४
मदात्यय में हर्षोत्पादक कर्म का विधान	२६८५
दूध के प्रयोग का विषय	२६८६
मद्यत्याग के पश्चात् सहसा अतिमद्यपान से हानि	२६८७
ध्वंसक का लक्षण	२६८८
विक्षय का लक्षण	"
ध्वंसक और विक्षय की चिकित्सा	"
युक्तिपूर्वक मद्यसेवी को मदात्यय नहीं होता	२६८९
मद्यनिवृत्ति का फल	"
अध्यायोक्त विषय	"
पञ्चविंश अध्याय	
द्वित्रणीयचिकित्सित का	

विषय	पृष्ठ
उपक्रम	२६९१
व्रण के दो भेद	"
आगन्तु व्रणों का हेतु और चिकित्सा	२६९२
निजव्रणों की सम्प्राप्ति	२६९३
वातज व्रण का लक्षण	"
वातिक व्रण का चिकित्सासूत्र	२६९४
पैत्तिक व्रण का लक्षण	"
" " चिकित्सासूत्र	२६९५
कफव्रण का लक्षण	"
" चिकित्सासूत्र	"
व्रणों के २० भेद	२६९६
त्रिविध परीक्षा	२६९८
वारह प्रदुष्ट व्रण	३००१
व्रण के आठ अधिष्ठान	३००२
व्रणों की आठ गन्धें	"
व्रणों के चौदह प्रकार के स्त्राव	"
व्रणों के सोलह उपद्रव	३००३
कल्पान्तर से व्रणों के २४ दोष	"
व्रणों का साध्यासाध्यविचार	३००४
व्रणों में संशोधन	३००६
व्रणों के ३६ उपक्रम	"
व्रणशोथशमन-चिकित्सा-रक्तावसेचन आदि	३००७
शोथनिर्वापण प्रलेप	३०१०
विजयादिप्रदेह	"
सक्तु आदि प्रदेह	३०११
व्रण शोथपाकार्य उपनाह के योग	३०१२
विदग्ध व्रण शोथ का लक्षण	"

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
पक्क व्रणशोध का लक्षण	३०१२	रक्तपित्त प्रधान व्रणों में तैल	
शोधनभेदन उमादिगण	३०१३	के स्थान पर घृतों का प्रयोग	
छुह प्रकार का शस्त्रकर्म	३०१४	करना चाहिये	३०३०
पाठ्य रोग	"	पत्रच्छादन	"
व्यध्य रोग	३०१५	पट्टियां और द्विविध बन्ध	३०३१
छेद्य रोग	३०१६	अपथ्य	३०३२
लेख्य रोग	३०१७	पथ्य	"
प्रच्छान योग्य रोग	"	उत्सादन	३०३३
सीव्य रोग	"	अवसादन	३०३४
अवपीडन	३०१८	अग्निर्कर्म का विधान	३०३५
व्रणपीडनद्रव्य	"	दाहनिषेध	३०३७
निर्वापण	३०१९	क्षारकर्मविधान	"
सन्धान	"	काठिन्यकरधूपन	३०३८
अवचूर्णन	३०२०	मार्दवकर धूपन	"
अस्थिसन्धान	"	धूपन के लाभ	"
स्वेद	३०२२	काठिन्यकर प्रलेप	३०३९
आलेप योग	"	मार्दवकर प्रलेप	"
बलादिस्नेहशर्करा	"	व्रणावचूर्णन	३०४०
परिषेचन	३०२३	त्वक्शोधक प्रलेप	"
यवचूर्णाद्यालेप	"	कृष्णत्वकर अयोरज आदि	
उपनाहयोग	"	लेप	३०४१
एषण	"	कालीयकादिलेप	"
अशुद्ध व्रण का लक्षण	३०२५	ध्यामकादिलेप	३०४२
शोधन कषाय	"	लोमोत्पादन	"
शोधन प्रलेप	३०२६	व्रणोपद्रवचिकित्सा	३०४३
शुद्ध व्रण का लक्षण और	"	अध्यायोक्त विषय	"
रोपणविधान	"	षड्विंश अध्याय	
रोपण कषाय	३०२७	त्रिमर्मीय चिकित्सित का	
चन्दनादियोग	"	उपक्रम	३०४३
प्रपौण्डरीकाद्य रोपण प्रलेप	३०२८	वस्ति आदि तीन मर्मों की	
कम्पिप्लकाद्य तैल	"	प्रधानता	३०४४
प्रपौण्डरीकाद्य तैल	३०२९	उदावर्त का हेतु और	
अन्य तैलयोग	"	सम्प्राप्ति	३०४५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
उदावर्त के लक्षण	३०४६	शर्करा का स्वरूप	"
उदावर्तज रोग	"	शुक्रज मूत्रकृच्छ्र	३०६१
उदावर्त में चिकित्साक्रम	३०४७	रक्तज मूत्रकृच्छ्र	३०६२
श्यामादिवर्ति	३०४८	वातिकमूत्रकृच्छ्र की	
पित्ताकादि वर्ति	"	चिकित्सा	"
किमिघ्नादि वर्ति	"	पुनर्नवादिमिश्रकस्त्रेह	"
पित्तपल्यादि वर्ति	"	पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र की	
श्यामादि प्रधमनचूर्ण	"	चिकित्सा	३०६३
रक्तोघ्नादि "	३०४९	शतावर्यादिकाथ	३०६४
निरूहविधान	"	कतिपय योग	"
दोषभेद से निरूह में द्रव्य		मूत्रकृच्छ्रों में सामान्य	
योजना	"	एवांरुबीजादियोग	३०६५
उदावर्त में अन्नपान	३०५०	अन्य दो योग	"
विरेचन और अनुवासन		कफज मूत्रकृच्छ्र की	
विधान	"	चिकित्सा	"
हिङ्गवादिचूर्ण	३०५१	व्योषादि चूर्ण	३०६६
वचादि चूर्ण	"	प्रवालचूर्ण योग	"
हिङ्गवादिचूर्ण (अपर)	३०५२	सप्तचूदादि यवागू वा	
स्थिराद्यघृत	"	काथ	"
लवणयोग	"	त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र की	
आनाह का लक्षण और		चिकित्सा	३०६७
चिकित्सा	३०५३	अश्मरीज और शर्कराज	
परण्डतैल के प्रयोग का		मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा	"
विधान	३०५४	पाषाणभेदादि चूर्ण वा घृत	३०६८
मूत्रकृच्छ्रनिदान	३०५५	कतिपय योग	"
मूत्रकृच्छ्र की सम्प्राप्ति	३०५६	शुक्रादिचूर्ण	३०६९
घातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण	३०५७	अन्य कतिपय योग	३०७०
पित्तज	"	शुक्रज मूत्रकृच्छ्र की	
कफज	"	चिकित्सा	"
तन्निपातज	"	कार्पासमूलादियोग	"
अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र	"	रक्तजमूत्रकृच्छ्र की	
अश्मरियों की आकृति	३०५९	चिकित्सा	३०७२
अश्मरी का लक्षण	३०६०		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
श्वदंष्ट्राघृत	३०७२	शूलचिकित्सा	३०८५	विषय	विषय
मूत्रकृच्छ्र में परहेज	३०७३	सुरदावादिचूर्ण	"	क	क
हृद्रोग का हेतु	"	कृमिज हृद्रोग चिकित्सा	"	स	स
हृद्रोग से उत्पन्न होने वाले		प्रतिश्याय का हेतु और		६४	६४
सामान्य विकार	३०७४	सम्प्राप्ति	३०८६	अ	अ
वातज हृद्रोग के विशेष		वातज प्रतिश्याय का		वा	वा
लक्षण	"	लक्षण	३०८७	पि	पि
पैत्तिक हृद्रोग के विशेष		पैत्तिक प्रतिश्याय का		क	क
लक्षण	"	लक्षण	"	चि	चि
श्लैष्मिक हृद्रोग के विशेष		श्लैष्मिक प्रतिश्याय का		अ	अ
लक्षण	३०७५	लक्षण	"	त्रि	त्रि
त्रिदोषज हृद्रोग के लक्षण	"	सान्निपातिक प्रतिश्याय		ल	ल
कृमिज हृद्रोग के विशेष		का लक्षण	३०८८	वा	वा
लक्षण	"	दुष्ट प्रतिश्याय और		पै	पै
वातिक हृद्रोगचिकित्सा	३०७६	उसके उपद्रव	३०८९	क	क
पुनर्नवाद्य तैल	"	दुष्ट प्रतिश्याय का		स	स
हरीतक्यादि घृत	"	लक्षण	"	वा	वा
पुष्करमूलादिकल्क	३०७७	क्षवथु की सम्प्राप्ति	३०९०	पै	पै
पुष्करमूलादि काथ	"	नासाशोष का लक्षण	"	श्लै	श्लै
पथ्यादि कल्क	३०७८	नासाप्रतीनाह का	३०९१	स	स
ज्यूषणाद्यघृत	३०७९	परिस्त्रव का	"	छ	छ
पैत्तिक हृद्रोग की		पूतिनासा का	३०९२	ख	ख
चिकित्सा	३०८०	अपीनस का	"	नि	नि
द्राक्षाद्यघृत	३०८१	ग्राणपाक का	३०९३	वा	वा
कशेरुकाद्यघृत	३०८२	नासाश्वयथु की सम्प्राप्ति	"	चि	चि
कफज हृद्रोग चिकित्सा	"	नासार्वुद का लक्षण	"	श	श
कट्फलादिकाथ	३०८३	पूररक्त का	"	स	स
कृष्णाद्यचूर्ण	"	नाक में फुंसियों की		आ	आ
उदुम्बरादिलेह	"	सम्प्राप्ति	३०९४	न	न
त्रिदोषज हृद्रोगचिकित्सा	३०८४	दीप्त का लक्षण	"	वा	वा
		शिरोरोगनिदान	३०९५	चि	चि
		वातिक मुखरोग का लक्षण	३०९६	श	श
		पैत्तिक	"	स	स
			"	आ	आ
			"	न	न
			"	वा	वा

विषय	पृष्ठ
कफज मुखरोग का लक्षण	३०६८
सन्निपातिक " " "	"
६४ मुखरोग	"
अरोचक का हेतु	३०६६
वातज अरोचक का लक्षण	"
पित्तज " " "	३१००
कफज " " "	"
चित्तविपर्यय से उत्पन्न	"
अरोचक का लक्षण	"
त्रिदोषज अरोचक का लक्षण	"
वातिक कर्णरोग के लक्षण	३१०१
पैत्तिक " " "	"
कफज " " "	"
सन्निपातज " " "	"
वातिक नेत्ररोग के लक्षण	३१०२
पैत्तिक " " "	"
श्लैष्मिक " " "	"
सन्निपातज " " "	"
छयानवे नेत्ररोगों का अतिदेश	"
खालित्य और पलित का निदान	३१०३
वातिक प्रतिश्याय की चिकित्सा	३१०४
शताह्वादिधूम	"
सक्रुधूम	"
आवस्थिक चिकित्सा	३१०५
नस्यार्थ अणुतैल	"
वातज प्रतिश्याय में पथ्य	३१०६

विषय	पृष्ठ
वातज प्रतिश्याय में अपथ्य	३१०७
पैत्तिक प्रतिश्याय की चिकित्सा	"
पाठाद्य तैल	"
आवस्थिक चिकित्सा	"
पैत्तिक प्रतिश्याय में पथ्य	३१०८
कफज प्रतिश्याय की चिकित्सा	"
अर्पीनस आदि में उपक्रम	"
मनःशिलादि त्रेय चूर्ण	३१०९
भाग्यादि तैल	"
कफज प्रतिश्याय में पथ्य	३११०
दुष्ट प्रतिश्याय आदि की चिकित्सा	"
वातिक शिरोरोग चिकित्सा	"
उपनाह	"
रास्नादितैल	३१११
बलाद्यतैल	"
मायूरघृत	"
महामायूरघृत	३११३
पैत्तिक शिरोरोगचिकित्सा	३११५
चन्दनादिप्रलेप वा परिषेक	"
अवपीडयोग	३११६
यष्ट्याह्वादि नावनघृत	३११७
कफज शिरोरोगचिकित्सा	"
दोषों के अनुसार दाह और रक्तमोक्षण विधान	३११८
एरण्डादिधूम	"
सन्निपातज शिरोरोम-चिकित्सा	३११९
किमिज शिरोरोगचिकित्सा	"
त्वगादितैल वा प्रधमनचूर्ण	"

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
शिग्रवीजादि अवपीड	३१२०	पद्मकादिविडालक	३१३६
मुखरोगों की चिकित्सा	"	गैरिकादिविडालक	"
पिप्पल्यादि चूर्ण वा कवल	३१२१	श्लैष्मिकनेत्ररोग में	"
तेजोह्लादि दन्तमञ्जन	"	विडालक	"
क्षारगुडिका	३१२२	सान्निपातिक नेत्ररोग में	"
कालकचूर्ण	"	विडालक	३१३७
पीतकचूर्ण	३१२३	नेत्ररोग के पकने पर	"
मृद्वीकादि चूर्ण	"	अञ्जनविधान	"
कटुकादिकाथ	३१२४	वातज नेत्ररोग में	"
रसांत का प्रयोग	"	आश्च्योतन योग	"
तालुशोषचिकित्सा	३१२५	पैत्तिक नेत्ररोग में मृद्वीका-	"
मुखपाकचिकित्सा	"	दि आश्च्योतन	३१३८
मुखधावन योग	३१२६	कफज नेत्ररोग में नाग-	"
खदिरादिगुडिका और तैल	"	रादि आश्च्योतन	"
अरोचकचिकित्सा	३१३०	सान्निपातिक नेत्ररोग में	"
कवलग्रह के चार योग	"	आश्च्योतन	३१३९
कारव्यादियोग	३१३१	बृहत्यादिवर्ति	"
अरुचि में दोषानुसार कर्म	"	पित्तज वा रक्तज नेत्ररोग में	"
कर्णरोगचिकित्सा	"	सुमनःकोरकादिवर्ति	"
कर्णशूल में हिङ्गवादि तैल	३१३२	श्लैष्मिक नेत्ररोग में	"
देवदावादि तैल	"	सैन्धवाद्यवर्ति	"
गन्धतैल	३१३३	अमृताह्लादि वर्ति	३१४०
क्षारतैल	"	शङ्खादि वर्ति	"
मुख आदि के रोगों में	"	चूर्णाञ्जन	३१४१
प्रतिश्यायचिकित्सा का	"	तिमिरादिनाशक चूर्णाञ्जन	"
अतिदेश	३१३४	सौवीराञ्जनादिवर्ति वा	"
तरुणनेत्ररोग में विडालक-	"	चूर्णाञ्जन	३१४२
विधान	३१३५	सुखावृत्ती वर्ति	"
वातिक नेत्ररोग में नाग-	"	दृष्टिप्रदा वर्ति	३१४३
रादिविडालक	"	तिमिरघ्न नेत्राञ्जन	३१४४
अन्य विडालकयोग	३१३६	पिप्पल्यादि रसक्रिया	३१४५
पैत्तिक नेत्ररोग में	"	कृष्णसर्पवसादि रसक्रिया	"
चन्दनादिविडालक	"	धात्र्यादि रसक्रिया	"

विषय	पृष्ठ
घात्र्यादिरसक्रिया (अपर) ३१४६	
खालित्यादि चिकित्सा	"
नस्यार्थ पलितनाशक तैल ३१४७	
महानील तैल ३१४८	
प्रपौरडरीकाद्य तैल ३१५१	
पियालादि प्रलेप	"
तिलादि प्रलेप ३१५२	
अयश्चूर्ण योग	"
वातिक स्वरभेद चिकित्सा ३१५३	
पैत्तिक " " ३१५४	
श्लैष्मिक " " " ३१५५	
चव्यादिलेह ३१५५	
रक्तजस्वरभेदचिकित्सा	"
सान्निपातिक " " ३१५६	
त्रिमर्मजरोरों की चिकित्सा	
में नियम	"
वात आदि दोष परस्पर	
उपघातक नहीं होते ३१५७	
अध्यायोपसंहार	"
सप्तविंश अध्याय	
ऊरुस्तम्भचिकित्सित का	
उपक्रम ३१५८	
अग्निवेश का प्रश्न	"
गुरु का उत्तर	"
ऊरुस्तम्भ का कारण और	
लिङ्ग ३१५९	
ऊरुस्तम्भ नाम में हेतु ३१६१	
ऊरुस्तम्भ का पूर्वरूप ३१६२	
स्नेहन से उत्पन्न होने	
वाले दोष	"
ऊरुस्तम्भ की साध्या-	
साध्यता ३१६३	
ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा में	

विषय	पृष्ठ
स्नेहन आदि के निषेध	
में हेतु ३१६३	
संशमन आदि का विधान ३१६४	
हितकर अन्नपान और	
औषध	"
समझादियोग ३१६५	
श्रीवेष्टकादियोग	
चन्दनादियोग ०४४८८	
अन्य पांचयोग ३१६६	
शार्ङ्गघादियोग ३१६७	
मूर्वादियोग ३१६८	
स्वर्णक्षीर्यादियोग	"
फल्यादियोग ३१६९	
त्रिफलादियोग	"
अपतर्पणज ऊरुस्तम्भ की	
चिकित्सा	
पीलुपर्यादितैल ३१७०	
कुष्ठमद्यतैल	"
सन्धवाद्यतैल पुस्तकालय ३१७३	
अशुक्रद्वयतैल	"
वल्लभाकमृत्तिका ३१७४	
अन्य उत्सादन योग	"
दन्त्यादिप्रलेप ३१७४	
तर्कार्यादिपरिषेचन ३१७५	
वत्सकादिप्रलेप	"
श्यानाकादि परिषेक वा	
प्रलेप ३१७६	
अन्य उपचार	"
अध्यायोक्त विषयसंग्रह ३१७७	
अष्टाविंश अध्याय	
वातव्याधिचिकित्सित का	
उपक्रम ३१७७	

विषय	पृष्ठ
वायु की स्तुति	३१७८
वायु के भेद	"
प्राण का स्थान और कर्म	"
उदान का	" " " ३१७९
समान का	" " " "
व्यान का	" " " "
अपान का	" " " ३१८०
विमार्गगत वायुओं के कर्म	"
वायुप्रकोप का हेतु	३१८१
वातव्याधियों के पूर्वरूप	
लक्षण और अपाय	३१८२
कुपित वायु के लक्षण	"
कोष्ठाश्रित वायु के दुष्ट होने	
पर उत्पन्न होने वाले	
विकार	३१८३
सर्वाङ्गकुपितवातज विकार	३१८४
गुदाश्रित दुष्ट वायु के	
विकार	"
आमाशयाश्रित दुष्ट वायु	
के विकार	"
पकाशयाश्रित दुष्ट वायु	
के विकार	"
त्वचाश्रित दुष्ट वायु	
के विकार	३१८६
रक्तगत दुष्ट वायु	
के विकार	"
मांसमेदोगत दुष्ट वायु	
के विकार	३१८७
मज्जास्थित दुष्ट वायु	
के विकार	"
शुक्रगत दुष्ट वायु	
के विकार	३१८८
स्नायुवाश्रित दुष्ट वायु	

विषय	पृष्ठ
के विकार	३१८९
सिरागत दुष्ट वायु	
के विकार	"
सन्धिगत दुष्ट वायु	
के विकार	"
अर्दित का लक्षण	"
मन्यास्तम्भ वा अन्तरायाम	
का लक्षण	३१९२
बहिरायाम का लक्षण	३१९३
हनुस्तम्भ का लक्षण	३१९४
आक्षेपक का	३१९५
दण्डक का	"
पक्षवध का	३१९६
एकाङ्गरोग का	३१९७
गृध्रसी का	"
खल्ली का	३१९८
वायु के कोप में द्विविध	
हेतु	"
वात पित्त कफ सम्पूर्ण देह	
में आश्रित हैं और वायु ही	
शेष दोनों का प्रेरक है	"
पित्तावृत वात के लक्षण	३१९९
कफावृत	" " "
रक्तावृत	" " ३२००
मांसगत	" " "
मेद से आवृत वात के लक्षण	
अस्थ्यावृत	" " "
मज्जावृत	" " ३२०१
शुक्रगत	" " "
अन्नावृत	" " "
मूत्रावृत	" " "
पुरीषावृत	" " "
वातव्याधियों का साध्या-	

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
८६	साध्यविचार	३२०३
	वातरोगों में स्नेह विधान	"
	" स्वेदविधान	३२०४
	स्वेदन के लाभ	३२०५
	स्नेह के लाभ	"
	वातरोगों में संशोधन	३२०६
	संशोधनानन्तर उपचार	३२०८
६२	कोष्ठाश्रित वातचिकित्सा	३२०६
६३	गुदापक्वाशयाश्रित	" "
६४	आमाशयाश्रित	" "
६५	सर्वाङ्गगत	" ३२१०
	त्वगाश्रित	" "
६६	रक्ताश्रित	" "
६७	मांस और मेदमें आश्रित,,	" "
	अस्थिमज्जगत वात चिकित्सा,,	"
६८	शुक्रस्थित	" ३२११
	वातज गर्भशोष	" "
	हृदयाश्रित	" "
	नाभ्याश्रित	" "
	उद्वेष्टन चिकित्सा	३२१२
६९	सङ्कोच चिकित्सा	"
	बाहुगत तथा शिरोगत	"
७०	वातचिकित्सा	"
	नाभि से नीचे आश्रित	"
	वात की चिकित्सा	"
	अर्दित चिकित्सा	३२१३
७१	पक्षाघातचिकित्सा	"
	गृध्रसीचिकित्सा	"
	खल्लीचिकित्सा	"
	विवृतास्यचिकित्सा	३२१४
	भ्रंश और स्तब्ध चिकित्सा	"
	वातरोगों में हितकर	"
	आहार विहार	"

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
३२१५	वातरोगों में मांसरस	३२१५
	" उपनाह, अवगाहन,	"
	परिषेक	३२१६
	नाडीस्वेदयोग	"
	मुस्ताद्युपनाह	३२१७
	अन्य उपनाहयोग	"
	दशमूलादिघृत	३२१८
	खर्जूंगादिघृत	"
	चित्रकाद्यघृत	३२१९
	बलाद्यघृतमण्ड	३२२०
	वसायोग	"
	मज्जस्नेह	"
	चतुःस्नेह	३२२२
	निर्गुणडीतैल	३२२४
	कार्पासास्थ्यादितैल	३२२५
	मूलकतैल	"
	पञ्चमूलीतैल	३२२६
	यवाद्यतैल	३२२७
	सहाचरतैल	३२२८
	श्वदंष्ट्राद्यतैल	३२२९
	बलातैल	३२३०
	अमृताद्यतैल	३२३२
	रास्नातैल	३२३४
	मूलकाद्यतैल	३२३५
	वृषमूलादितैल	३२३६
	रास्नातैल (अपर)	"
	मूलकतैल (अपर)	३२३८
	लशुनतैल	"
	अगुर्वाद्यतैल का अतिदेश	"
	वातशोणितचिकित्सितोक्त	"
	तैलों का अतिदेश	३२३९
	वातनाश में तैल की	"
	प्रधानता	"

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
पित्तावृतवातचिकित्सा	३२४०	प्राणावृत व्यान के लिङ्ग	
कफावृतवातचिकित्सा	३२४१	और चिकित्सा	३२४५
कफपित्तसंसृष्ट वात-		व्यानावृत प्राण के लिङ्ग	
चिकित्साक्रम	"	और चिकित्सा	"
आमाशयगत कफ में वमन	"	प्राणावृत समान के लिङ्ग	
विधान	"	और चिकित्सा	"
पक्वाशयात कफ में विरेचन	"	समानावृत प्राण के लिङ्ग	
विधान	"	और चिकित्सा	३२४६
सर्वत्रगत पित्त में विरेचन	"	प्राणावृत उदान के लिङ्ग	
विधान	"	और चिकित्सा	"
पक्वाशयाश्रित विष्यन्दिन	"	उदानावृत प्राण के लिङ्ग	
कफ और पित्त में बस्ति	"	और चिकित्सा	"
विधान	"	उदानावृत अपान के लिङ्ग	
कफानुगत वात में निरूह-		और चिकित्सा	३२४७
विधान	३२४२	अपानावृत उदान के लिङ्ग	
पित्तसंसृष्ट वात में अनुवासन	"	और चिकित्सा	"
विधान	"	व्यानावृत अपान के लिङ्ग	
शिरोगत कफयुक्त वात में	"	और चिकित्सा	"
धूमनस्यादिविधान	"	अपानावृत व्यान के लिङ्ग	
उरःस्रोतोगत वायु में वाति-	"	और चिकित्सा	"
की चिकित्सा	"	समानावृत व्यान के लिङ्ग	
रक्तावृत और आढ्यवात में	"	और चिकित्सा	३२४८
चिकित्सा	"	उदानावृत व्यान के लिङ्ग	
मांस अस्थि मज्जा तथा शुक्र	"	और चिकित्सा	"
से आवृत वात में चिकित्सा	"	अनुक्तसंग्रह	"
अन्नावृतवातचिकित्सा	३२४३	पित्तावृत प्राण के लिङ्ग	३२४९
मूत्रावृत " "	"	कफावृत " "	"
पुरीषावृत " "	"	पित्तावृत उदान के " "	"
वातव्याधि में स्वस्थानस्थ	"	कफावृत " "	३२५२
प्रवृद्ध दोष की पूर्व	"	पित्तावृत समान के " "	"
चिकित्सा करनी चाहिये	"	कफावृत " "	"
पाँचों वायुओं का परस्पर	"	पित्तावृत व्यान के " "	३२५३
आवरण	३२४४	कफावृत " "	"

विषय	पृष्ठ
पित्तावृत अपान के लिङ्ग	३२५३
कफावृत " "	३२५४
मिश्रित आवरण	"
वायुविशेष-स्थान पर पित्त और कफ के आश्रित होने पर लिङ्ग	"
प्राण और उदान का कफ पित्त से आवृत होना अपेक्षया अधिक हानि-कर है	३२५५
आवृत वायु की उपेक्षा से असाध्यता	"
आवृत वायुओं के उपद्रव	"
इन आवृत वायुओं की चिकित्सा	"
अपान वायु के आवृत होने पर विशेष चिकित्सा	३२५७
पित्तावृत वात में पित्तनाशक और वातानुलोमक कर्म, कफावृत वात में कफनाशक और वातानुलोमक कर्म	"
वात पित्त कफ की गतियां दुर्विज्ञेय हैं	३२५८
अध्यायोक्ताविषय-संग्रह	"
एकोनविंश अध्याय	
वातशोणितचिकित्सित का उपक्रम	३२५९
वातरक्त के हेतु	"
वातरक्त की सम्प्राप्ति	३२६०
वातरक्त का स्थान	३२६२
वातरक्त का पूर्वरूप	३२६३
वातरक्त के भेद	३२६४

विषय	पृष्ठ
बाह्य वातरक्त का स्वरूप	३२६४
गम्भीर वातरक्त का स्वरूप	"
उभयाश्रित वातरक्त	३२६५
वाताधिक वातरक्त के लक्षण	"
रक्ताधिक वातरक्त के लक्षण	३२६६
पैत्तिक " " "	"
श्लैष्मिक " " "	"
वातरक्त का साध्यासाध्य-विचार	३२६७
वातरक्त की सामान्य-चिकित्सा	३२६९
रक्तमोक्षण	"
अन्य सामान्य उपचार	३२७१
बाह्य वातरक्त की चिकित्सा	"
गम्भीर " " "	"
वातिक " " "	३२७२
रक्तपैत्तिक " " "	"
कफाधिक " " "	"
कफाधिक वा वाताधिक वातरक्त में शीतलेप से हानि	३२७३
रक्ताधिक वा पित्ताधिक-वातरक्त में उष्ण लेपों से हानि	"
वातरक्त में पथ्यापथ्य	"
आवण्यादिघृत	३२७४
बलाघृत	३२७५
पारुषक घृत	"
जीवनीयघृत	३२७६
घृत और क्षीरयोग	३२७९
चतुःश्लेह	"

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
स्थिराद्य घृत वा तैल	३२८०	वातकफप्रधान वातरक्त में	
दूध के कतिपय योग	३२८१	गृहधूमादि प्रलेप	३२८६
बलाद्य दूध	"	तगरादि प्रलेप	"
दोषानुलोमक कतिपय योग	३२८२	मधुशिग्रुबीजलेप	"
काश्मर्यादियोग	३२८३	त्रिफलादिकटक	"
वातरक्तचिकित्सा में वस्ति की प्रधानता	"	आवस्थिकी चिकित्सा	३३००
मधुयष्ट्यादितैल	३२८४	अध्यायोक्तविषयसंग्रह	३३०२
सुकुमारक तैल	३२८५	त्रिंश अध्याय	
अमृताद्य तैल	३२८७	योनिव्यापच्चिकित्सित का	
महापद्मतैल	३२८८	उपक्रम	३३०३
खुद्दाकपद्मकतैल	३२८९	अग्निवेश का प्रश्न और गुरु का उत्तर	"
यष्टिमधुकतैल	"	योनिरोगों का सामान्य हेतु	३३०४
शतपाकमधुपर्णितैल	३२९०	वातला योनि	३३०५
सहस्रपाक वा शतपाक बलातैल	३२९१	पित्तला योनि	"
अन्य कतिपय तैलयोग	"	श्लैष्मिक योनिरोग	३३०६
पिण्डतैल	"	त्रिदोषज योनिरोग	"
अन्य परिषेचन आदि उपचार	३२९२	रक्तयोनि	३३०७
पित्तरक्तप्रधान वातरक्त में लेपयोग	३२९३	अरजस्का	"
तिलादिलेप	३२९४	अचरणा	३३०८
प्रपौण्डरीकाद्य प्रलेप	"	अतिचरणा	"
वातप्रधान वातरक्त में लेपयोग	३२९५	प्राक्चरणा	३३०९
कफप्रधान वातरक्त में अभ्यङ्गार्थ घृतयोग	३२९८	उपप्लुता	"
पद्मकादिघृत	"	परिप्लुता	"
परिषेचन	"	उदावर्तिनी	३३१०
सर्षपादिलेप	"	कर्णिनी	"
कपित्थत्वगादि लेप	"	पुत्रघ्नी	३३११
		अन्तर्मुखी	"
		सूर्वामुखी	३३१२
		शुष्का	"
		वामिनी	३३१३

विषय	पृष्ठ
षण्डी	३३१३
महायोनि	३३१४
इन विकारों से उपद्रव	३३१५
कौन योनिरोग किस दोष	
से होता है	,,
योनिरोगों में चिकित्सा-	
सूत्र	३३१६
योनिरोगों में पञ्चकर्म-	
विधान	,,
वातिक योनिरोगों की	
चिकित्सा	,,
बलाघ्नयमक	३३१८
काश्मर्यादिघृत	३३१९
पिप्पल्यादियोग	,,
वृषकादिचूर्ण	३३२०
रास्नादि दूध	,,
गुडूच्यादिपरिषेचन	,,
सैन्धवाद्यतैल	३३२१
गुडूच्यादितैल	,,
पैत्तिक योनिरोगों की	
चिकित्सा	३३२२
बृहच्छतावरीघृत	३३२३
जीवनीयघृत	३३२४
श्लैष्मिक योनिरोगों की	
चिकित्सा	३३२५
वर्तियोग	,,
पिप्पल्यादिवर्ति	,,
उदुम्बरादि तैल	३३२६
उदुम्बरतैल	३३२७
घातक्यादितैल	,,
योनिप्रक्षालनयोग	३३२८
लोहभस्मप्रयोग	३३२९

विषय	पृष्ठ
दोषानुसार वस्तियों में	
विशेषता	३३२९
सान्निपातिक योनिरोग में	
कर्म	,,
रक्तयोनि चिकित्सा	,,
वातासृग्दर में तिल-	
चूर्णादियोग	३३३०
वातासृग्दर में आहार	,,
पैत्तिक रक्तप्रदर में योग	,,
पुष्यानुगचूर्ण	३३३१
अन्य कतिपय योग	३३३४
मधुकादियोग	,,
कफज रक्तप्रदर में योग	३३३५
पैत्तिक रक्तप्रदर में महा-	
तिक्तघृत और गर्भस्त्राव-	
चिकित्सा का अतिदेश	,,
रक्तयोनि अरजस्का तथा	
पुत्रघ्नी में काश्मर्यादिघृत	,,
अरजस्का के लिये रुधिर-	
पान	,,
कर्णिनी आदि में उत्तर-	
वस्ति द्वारा तैल विधान	३३३६
अचरणा में विशेष योग	,,
प्राक्चरणा और अतिचरणा	
में विशेष विधान	३३३७
शताह्वादिसंयाव	,,
वामिनी और उपप्लुता में	
विशेष उपक्रम	,,
शल्लक्यादिस्नेहपिचु	३३३८
कर्णिनी में विशेषचिकित्सा-	
कुष्ठादिवर्ति	,,
उदावृत्ता तथा वातिकी में	
विशेष चिकित्सा	३३३९

विषय	पृष्ठ
महायोनि में कुलीरादिव- सायोग	३३३६
प्रसूता में उपक्रम	३३४०
सब योनिरोगों में विशेषतः महायोनि में वात- चिकित्सा का अतिदेश	„
श्वेतप्रदरचिकित्सा	„
पिच्छिला योनि की चिकित्सा	३३४२
पलाशादिकल्क	३३४३
स्तब्ध एवं कर्कश योनि की चिकित्सा	„
योनिदौर्गन्ध्य की चिकित्सा	„
योनिव्याप्त चिकित्सित का उपसंहार	३३४४
अग्निवेश के शुक्रदोष विषयक प्रश्न	„
आत्रेय का उत्तर	३३४५
दुष्ट शुक्र गर्भोत्पादक नहीं होता	३३४६
शुक्रदोष के हेतु और सम्प्राप्ति	„
शुक्र के आठ दोष	३३४७
वातदूषित वीर्य	३३४८
पित्तदूषित वीर्य	„
कफदूषित वीर्य	„
रक्तमिश्रित वीर्य	„
अवसादी वीर्य	३३४९
विशुद्ध शुक्र का लक्षण	„
शुक्रदोषोंकी सामान्य चिकित्सा,, दोषानुसार शुक्रदोष-	„

विषय	पृष्ठ
चिकित्सा	३३५०
अन्यधातुमिश्रित शुक्र की चिकित्सा	३३५१
शुक्रदोषों में प्रशस्त आहार आदि	„
क्लीबता के भेद	„
क्लैव्य (नपुंसकता) के सामान्य लक्षण	„
बीजोपघातज क्लीबता का हेतु और लक्षण	३३५२
ध्वजभङ्ग से उत्पन्न होने वाली क्लीबता का विवरण-	„
ध्वजभङ्ग का हेतु	३४५३
ध्वजभङ्ग के रूप	३३५४
जरासंभव क्लैव्य	३३५६
क्षयज क्लैव्य	३३५७
क्लीबता के साध्यासाध्य विचार	३३५९
क्लैव्य की सामान्य संज्ञित चिकित्सा	३३६०
अतिमैथुनोत्पन्न क्लीबता में चिकित्साक्रम	३३६१
अभिचारज क्लीबता में चिकित्सा	„
बीजोपघातज क्लैव्य की चिकित्सा	„
ध्वजभङ्गज की चिकित्सा	३३६२
जरासंभव और क्षयज क्लैव्य की चिकित्सा	„
प्रदर का हेतु सम्प्राप्ति लक्षण और निर्वचन	३३६३
प्रदर के भेद	३३६४

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
५०	वातज प्रदर के हेतु और लिङ्ग	३३६४	दौर्गन्ध्य की सम्प्राप्ति और प्रभाव	३३७३
५१	पैक्षिक प्रदर के हेतु और लिङ्ग	३३६५	अतिस्निग्धता की सम्प्राप्ति ,	
	श्लेष्मिक प्रदर के हेतु और लिङ्ग	३३६५	अतिस्निग्धता का प्रभाव ,	
	सन्निपातज प्रदर	३३६६	पिच्छिलता की सम्प्राप्ति और प्रभाव	३३७४
	विशुद्ध आर्तव का लक्षण	३३६७	गौरव की सम्प्राप्ति और प्रभाव	३३७५
५२	वातला आदि योनिव्याप चिकित्सा का अतिदेश	३३६८	स्तन्यदोषचिकित्सा ,	
५३	रक्तातिसार रक्तपित्त और रक्तार्श की चिकित्सा का अतिदेश	३३६९	वमनार्थ वचादियोग	३३७५
५४	स्तन्यदोषप्रकरण	३३७०	विरेचनार्थ योग	३३७६
५५	आठ क्षीरदोषों का वात आदि तीन दोषों में समावेश	३३७१	पथ्य	३३७७
५६	स्तन्यदोषों का सामान्य हेतु और सम्प्राप्ति	३३७२	शार्ङ्गेशादि जल	३३७८
५७	वातादि दोषानुसार लक्षण वा आठ क्षीरदोषों का उनमें समावेश	३३७३	स्तन्यशुद्ध्यर्थ तीन योग	३३७९
५८	विरसता की सम्प्राप्ति	३३७४	वैरस्य में द्राक्षादियोग	३३८०
५९	विरसता का दुष्प्रभाव	३३७५	पञ्चकोलादिलेप	३३८१
६०	फेनसङ्घात की सम्प्राप्ति	३३७६	फेनसङ्घात में पाठादियोग	३३८२
६१	फेनसङ्घात का दुष्प्रभाव	३३७७	अञ्जनादिलेप	३३८३
६२	रूक्षता की सम्प्राप्ति और दुष्प्रभाव	३३७८	किराततिलकादिकाथ	३३८४
६३	विवर्णता की सम्प्राप्ति	३३७९	यवपिष्टादिलेप	३३८५
६४	विवर्णता का दुष्प्रभाव	३३८०	रूक्षक्षीरा की चिकित्सा	३३८६
			लेपयोग	३३८७
			विवर्णता में यष्टीमधुकादियोग,,	
			,, लेपयोग	३३८८
			दौर्गन्ध्य में विषाणि-	
			कादियोग	३३८९
			हरितकप्रयोग	३३९०
			सारिवाद्यप्रलेप और पत्राद्य-	
			प्रलेप	३३९१
			अतिस्निग्धता की चिकित्सा,,	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
पिच्छिलता की चिकित्सा	३३८१	सग्रास और ग्रासान्तर	
मुस्ताद्ययोग	”	का उदाहरण	३३६०
तक्रारिष्ट का अतिदेश	”	मुहुर्मुहुः का उदाहरण	”
विदार्यादिप्रलेप	”	सामुद्र का ”	”
गौरव में त्रायमाण्णादि काथ	”	सभोज्य का ”	३३६१
पिप्पलीमूलादियोग	”	व्याध्यपेक्षकाल	३३६३
बलाद्य प्रलेप	”	जीर्णलिङ्गापेक्षकाल	३३६४
पृश्निपर्यादिप्रलेप	३३८२	ऋत्वपेक्ष काल	”
बालरोगों में चिकित्साक्रम	”	अन्यप्रकार से काला-	
चिकित्सास्थान का		पेक्ष योग	३३६५
उपसंहार	३३८४	कालापेक्ष का विवरण	”
दृढबलकृत संहिताभाग		प्रमाणापेक्ष सम्यग्योग	३३६६
का निर्देश	”	सात्स्व्यापेक्ष ”	”
उक्त वा अनुक्तरोगों में चिकित्सा		कदाचित् विरुद्धाभिमत क्रिया	
का सामान्य नियम	३३८७	भी करनी होती है	३३६८
दिनापेक्षकाल	३३८८	व्याधि के हटने पर भी कुछ	
रोग्यपेक्ष काल	”	काल तक चिकित्सा	
औषधापेक्षकाल	३३८९	करनी चाहिये	३४००
प्राग्भक्त का उदाहरण	”	द्वेष्य पथ्य को कल्पनाविशेषों	
मध्यभक्त का ”	”	से प्रिय बनाकर दें	३४०३
पश्चाद्भक्त वा अधोभक्त का		मन के अनुकूल विषय का फल	”
उदाहरण	३३९०	अध्यायोक्त विषय-संग्रह	३४०४

विषयानुक्रमणिका

कल्पस्थान	विषय	पृष्ठ
प्रथम अध्याय	हीनवेग में उपचार	३४२४
विषय	सब वमन योगों में अनुक्त	
मदनकल्प का उपक्रम	भी मधु सैन्धव का योग	
कल्पस्थान का प्रयोजन	वमनयोगों में मधु का उष्ण	
वमन और विरेचन का	से अविरोध	
अर्थ	मैनफल के ८ मात्रायोग	३४२५
वमन और विरेचन द्रव्यों	मैनफल के ५ दूध आदि	
के क्रमशः ऊपर और नीचे	के योग	३४२६
की ओर प्रवृत्त होने में हेतु	मैनफल का १ त्रेययोग	३४२८
और उस की प्रक्रिया	१ फाणितयोग	३४२६
वमन विरेचन द्रव्य किस	१ चूर्णयोग	३४३०
प्रकार क्रियासमर्थतम	६ वर्तिक्रियायें	
होते हैं	२० लेहयोग	
देशभेद	२० मोदक योग	
जाङ्गलदेश का लक्षण	और २० उत्कारिकायोग	३४३१
आनूपदेश का	१६ शष्कुली	
साधारण देश का	योग और १६ पूषयोग	३४३२
किस देश में उत्पन्न द्रव्य	षाडव आदि	
लेने चाहियें	में १० योग	३४३४
औषधद्रव्याहरणविधि	मैनफल के पर्याय	
औषधस्थापनविधि	अध्यायोक्त योगसंख्या-	
वमनविरेचन द्रव्यों के	संग्रह	३४३५
दोषानुसार भावनार्थ वा	द्वितीय अध्याय	
आलोडनार्थ द्रव्य	जीमूतकल्प का उपक्रम	३४३६
मदनफलों की श्रेष्ठता और	जीमूत के पर्याय	
उनकी ग्रहण स्थापनविधि	जीमूतक के गुण	
वमनौषध पानविधि और	जीमूत के पुष्प आदि में	
६ कषाययोग	६ योग	३४३७

विषय	पृष्ठ
१ सुरामण्डयोग	३४३८
१६ कषाययोग	३४३६
८ मात्रायोग	"
(जीमूत का १ चूर्णयोग)	"
४ स्वरसयोग	"
१ घृतयोग	३४४०
अध्यायोक्त योगसंख्या- संग्रह	"
तृतीय अध्याय	
इच्चाकुक्कल का उपक्रम	३४४१
कटुतुम्बी के पर्याय	"
कटुतुम्बी का वमनार्थ कहाँ प्रयोग होता है	"
कटुतुम्बी के दूध आदि में ५ योग	३४४२
कटुतुम्बी का १ सुरा- मण्डयोग	"
कटुतुम्बी के क्षीर और दधि योग	३४४३
मस्तु और तक्रयोग	३४४४
दूध में १ योग	"
१ घ्रेययोग	"
१ पल्लयोग	३४४५
१ तैलयोग	"
१ घृतयोग	"
६ वर्धमानयोग	"
६ कषाययोग	३४४६
८ मात्रायोग	"
५ लेहयोग	"
१ मन्थयोग	३४४६
१ मांसरसयोग	"

विषय	पृष्ठ
अध्यायोक्त योगसंख्यासंग्रह	३४४६
चतुर्थ अध्याय	
धामार्गवकल्प का उपक्रम	३४५०
धामार्गव के पर्याय	३४५१
धामार्गव का किनरोगों में प्रयोग होता है	"
धामार्गव के पत्राङ्गुरों के ६ योग	"
पुष्प आदियों में दूध आदि के ४ योग	३४५२
१ सुरायोग	"
६ कषाययोग	"
१ अन्नयोग	३४५३
१ घ्रेययोग	"
१२ शकृद्रसयोग	"
१० लेहयोग	३४५४
१ कल्कयोग	३४५५
११ कषाययोग	"
१ घृतयोग	"
अध्यायोक्त योगसंख्यासंग्रह	३४५६
पञ्चम अध्याय	
वत्सककल्प का उपक्रम	३४५६
वत्सक के पर्याय	३४५७
वत्सकबीज के पर्याय	"
वत्सक का स्त्रीपुंभेद	"
वत्सक का वमनार्थ कहाँ प्रयोग होता है	"
वत्सक के ६ कषाययोग	३४५८
५ चूर्णयोग	"
३ जलयोग	३४५९
१ कृशरायोग	"

विषय पृष्ठ
अध्यायोक्त योगसंख्यासंग्रह ३४५६

षष्ठ अध्याय

कृतवेधनकल्प का उपक्रम ३४६०
कृतवेधन के नाम ,,
कृतवेधन का वचनार्थ कहां
प्रयोग होता है ,,
कृतवेधन के दूध आदि में ४ योग,,
१ सुरायोग ,,
२२ कषाययोग ३४६१
१० पिच्छायोग ३४६२
६ वर्तिकायायें ,,
१ घृतयोग ,,
८ लेहयोग ३४६३
७ मांसरसयोग ,,
१ इक्षुरसयोग ३४६४

अध्यायोक्तयोगसंख्यासंग्रह ,,

सप्तम अध्याय

श्यामात्रिवृत्कल्प का
उपक्रम ३४६५
विरेचनद्रव्यों में त्रिवृन्मूल
श्रेष्ठ है ,,
त्रिवृत् के पर्याय ,,
त्रिवृत् के गुण ,,
त्रिवृत् की दो प्रकार की जड़ें और
उसमें अरुणमूल की श्रेष्ठता ३४६६
श्याममूल का कहां प्रयोग
करना चाहिये ३४६७
मूलोद्धार विधि ,,
विरेचनविधि ३४६८
अम्ल आदि से ६ योग ,,
सैन्धव आदि से १२ योग ,,
गोमूत्र में १८ योग ३४६९

विषय पृष्ठ
१ मुलहठी से योग ३४७०

जीवक आदि से १४ योग ,,

१ मुलहठी से योग (अपर) ,,

दूध आदि से ७ योग ,,

५ लेहयोग ,,

शर्करा से ४ योग ३४७२

२ लेहयोग ३४७३

पानक आदि में ५ योग ३४७४

१ तर्पणयोग ,,

१ मोदकयोग ३४७५

१ लेहयोग ,,

कल्याणकगुड ३४७६

४ मोदक योग ३४७८

६ ऋतुयोग ३४८१

१ चूर्णयोग ३४८३

१ तर्पणयोग ३४८४

३ घृतयोग ,,

१ दुग्धयोग ३४८५

२ मद्ययोग ,,

१ सौवीरक योग ३४८६

१ तुषोदकयोग ,,

षाडव आदि में १० योग ३४८७

विरेचनयोगों में वमन-

निवारणार्थ उपाय ,,

अध्यायोक्त योगसंख्यासंग्रह ३४८८

अष्टम अध्याय

चतुरङ्गलकल्प का उपक्रम ३४८९

अमलतास के पर्याय ,,

अमलतास का कहां प्रयोग

करना चाहिये ३४९०

अमलतास के फलों के

संग्रह की विधि ३४९१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अमलतास का द्राक्षारस		सेहुण्ड के पर्याय	३५०२
में १ योग	३४६१	सेहुण्ड के दूध का आह-	
सुरा, सीधु, दधिमण्ड,		रण काल	"
आमलकरस तथा सौवीर		सेहुण्ड के दूध की उप-	
प्रत्येक में १ योग	"	योगविधि	३५०३
त्रिवृत् कषाय में १ योग	३४६२	सौवीर आदि से ७ योग	"
वित्त्वकषाय में १ योग	"	घी से १ योग	३५०४
१ लेहयोग	३४६३	मांसरस से १ योग	"
२ घृत योग	"	गुडपानक से १ योग	"
१ अरिष्टयोग	"	१ त्रैययोग	३५०५
हृद्य द्रव्य के साथ विरेचन		१ लेहयोग	३५०६
योग देने चाहिये	३४६४	यूष आदि से ३ योग	"
अध्यायोक्तयोगसंख्या-		शुष्कमत्स्य और मांस के	
संग्रह	"	२ यागे	"
नवम अध्याय		२ घृतयोग	"
तित्वककल्प का उपक्रम	३४६५	१ सुरायोग	"
तित्वक के पर्याय	"	अध्यायोक्त योगसंख्या-	
तित्वक की उपयोगविधि	"	संग्रह	३५०७
दधिमण्ड आदि में ५ योग	३४६६	एकादश अध्याय	
१ सौवीरयोग	"	सप्तलाशङ्खिनीकल्प का	
१ सुरायोग	३४६७	उपक्रम	३५०८
१ अरिष्टयोग	३४६७	सप्तला और शङ्खिनी	
१ कम्पिप्लवकयोग	"	के पर्याय	"
३ लेहयोग	३४६८	इनका कहां प्रयोग होना	
४ घृतयोग	"	चाहिये	"
अध्यायोक्तयोगसंख्या-		इनकी संग्रहविधि	"
संग्रह	३५००	सप्तला और शङ्खिनी के	
दशम अध्याय		१६ कषाययोग	३५०९
सुधाकल्प का उपक्रम	३५०१	६ तैलयोग	"
स्तुही का कहां प्रयोग न		८ घृतयोग	३५१०
करना चाहिये	"	३ लेहयोग	३५१२
सेहुण्ड के भेद	३५०२	१ सुरायोग	"

विषय	पृष्ठ
१ कम्पिलकयोग	३५१२
४ मद्य (सन्धान) योग	३५१३
अध्यायोक्तयोगसंख्या- संग्रह	„
द्वादश अध्याय	
दन्तीद्रवन्तीकल्पक का उपक्रम	३५१४
दन्ती और द्रवन्ती के पर्याय	„
इनके ग्राह्य मूल और उपयोगविधि	३५१५
इनके गुण	„
दन्ती द्रवन्ती के ७ कल्क योग	३५१६
मांसरसों से ३ योग	३५१७
३ स्नेहयोग	„
६ लेहयोग	३५१८
१ चूर्णयोग	३५१९
१ इलुकाण्डयोग	३५२०
८ मांसरसयोग	„
३ यवागू आदि के योग	३५२१
१ उत्कारिकायोग	„
१ मोदकयोग	„
१ मद्ययोग	„
१ भक्ष्ययोग	„
१ चूर्णयोग	३५२२
१ मोदकयोग	३५२३
१ काथयोग	३५२४
१ कल्कयोग	„
(१ चूर्णयोग)	„
३ अरिष्टयोग	३५२५
१ मदिरायोग	„

विषय	पृष्ठ
४ सौवीरक आदि से योग	३५२६
अध्यायोक्तयोगसंख्यासंग्रह „	„
कल्पोक्त योगों की संख्या का उपसंहार	३५३०
प्रधान द्रव्य के नाम से योग की संख्या का निर्देश होता है,,	„
गौण द्रव्यों का प्रधान का अनुवर्तन करना	„
गौण प्रधान द्रव्य के वीर्य का बार्धक नहीं होता	„
विरुद्धवीर्य द्रव्यों के प्रयोग में हेतु	३५३१
द्रव्यों में बलाधान का प्रकार	„
इस स्थान में कहे गये योगों अनुसार अपनी बुद्धि से अन्य योगों की कल्पना भी की जा सकती है	३५३२
तीक्ष्ण वमन विरेचन द्रव्यों के लक्षण	३५३३
तीक्ष्णता में हेतु	„
मध्य औषध के लक्षण	„
मन्द औषध के लक्षण	३५३४
मध्य तथा अवर बल व्यक्ति में मध्य मन्द औषध का प्रयोग करना चाहिये	„
तीक्ष्ण मध्य मृदुरोगों में यथा- क्रम तीक्ष्ण मध्य मृदु औषध के प्रयोग का विधान	„
पित्तान्त वमनौषध देनी चाहिये	३५३५
दोष आदि के बल के अनु- सार पुनः औषध देनी	„

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
चाहिये	३५३५	वातावृत विरेचन औषध	
औषध के शोधन किये बिना		के लक्षण और चिकित्सा	३५३६
ही निकल जाने पर पुनः		पित्तावृत विरेचन औषध के	
औषध प्रयोगविधान	”	लक्षण और चिकित्सा	३५४०
वमन के पाक की प्रतीक्षा न		औषध के कफावृत होने पर	
करनी चाहिये	३५३६	लक्षण और चिकित्सा	”
विरेचन औषध किन अव-		सुस्निग्ध करकोष्ठ पुरुष को	
स्थाओं में पुन पिलानी		विरेचन से पूर्व लङ्घन	
चाहिये	”	कराना चाहिये	”
दुर्बल बहुदोष और दोषपाक		जिनमें विरेचन न लाकर विरे	
से स्वयं विरिक्त पुरुष में		चन औषध पच जाती है	
भेदनीय वा अनुलोमक भोजन		उनका परिगणन और	
के प्रयोग का आदेश	३५३७	वहां कर्तव्य	”
दोषशेष की शान्ति का		रुक्ताभोजी आदि पुरुषों के	
उपाय	”	दोष कर्म वायु धूप आदि से	
दुर्बल अल्पदोष आदि पुरुषों		शान्त हो जाते हैं	३५४१
में सृष्ट शोधन का प्रयोग		इनकी वायु से रक्षा की	
और उसमें हेतु	”	जाती है	”
दुर्बल महादोष पुरुष को		अतिस्निग्ध देह में रुक्ताविरे-	
बहुशः अल्प अल्प विरेचन		चन की व्यवस्था	३५४२
देने का आदेश	३५३८	संशोधन का प्रयोग साव-	
ऊर्ध्वागत कफसंसृष्ट विरे-		धानी से करना चाहिये	”
चन औषध में कर्तव्य	”	कल्पस्थानोक्त द्रव्यों का	
दोष की विबद्धता आदि में		प्रमाण वा मात्रा मध्यम	
उष्णजलपान	’	पुरुषों के लिये है	”
दोषरुद्ध औषध में उपचार	”	मानपरि भाषा	३५४३
विरेचन होने पर भी औषध		आर्द्र वा द्रवद्रव्यों में	
के उद्गार आते हों तो वहां		द्विगुणमान लेने का	
उपचार	’	आदेश	३५४४
उरःस्थित कफरुद्ध विरेचन		अनुक्त द्रवकार्य में जल	
औषध कफ के क्षीण होने		का ग्रहण करना चाहिये	३५४७
पर सायं वा रात्रि में		पादानिर्देश से चतुर्थांश लिया	
प्रवृत्त होती है	३५३९	जाता है	”

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
स्नेहपाक में अनुक्त प्रमाणों का		कालिङ्ग से मागधमान	
ग्रहण किस प्रकार किया		श्रेष्ठ है	३५४८
जाता है	३५४७	कल्पस्थान का उपसंहार वा	
त्रिविध स्नेहपाक, उनके		कल्पस्थानोक्त विषयों का	
लक्षण और उनका		निर्देश	३५४९
प्रयोगस्थान	”		

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
सिद्धिस्थान		अनुवासन का विधान	३५६१
प्रथम अध्याय		पुनः अनुवासन देने का काल	३५६२
कल्पनासिद्धि का उपक्रम	३५५१	चतुर्थ प्रश्न का उत्तर-	
अग्निवेश के १२ प्रश्न	"	बस्तियों की संख्या	३५६४
प्रथम प्रश्न का उत्तर	३५५२	विरेचन के पश्चात् और	
स्नेहन का लाभ	३५५३	निरूह के पश्चात् विरेचन	
स्वेद का गुण	३५५४	७ दिन तक न कराना	
वाम्य वा विरेच्य पुरुष के		च हिये	"
लिये भोजन	"	पांचवें प्रश्न का उत्तर-	
कफप्रधान में वमन और मन्द		वस्ति के गुण	३५६५
कफ में विरेचन सुख से		निरूह के गुण	"
होता है	"	अनुवासन के गुण	"
द्वितीय प्रश्न का उत्तर	३५५५	निरूह और अनुवासन के	
पेयादि संसर्जन क्रम	"	सामान्यतः पुनः गुणनिर्देश	३५५६
संसर्जन क्रम का फल	३५५७	छठे प्रश्न का उत्तर	३५६७
प्रधान शुद्धि आदि के लक्षण	"	वातनाशक होने से वस्ति	
वमन विरेचन में निर्गत		की प्रधानता	३५६८
दोष का मान	३५५८	सुनिरूढ (निरूह के सम्य-	
तृतीय प्रश्न का उत्तर-		ग्योग) के लक्षण	३५७०
सुकृत वमन के लक्षण	"	अकृत निरूह के लक्षण	"
अकृत	"	अतिकृत	"
अतिकृत	"	स्वनुवासित (अनुवासन के	
सम्यक्कृत विरेचन के लक्षण	"	सम्यग्योग) के लक्षण	३५७१
दुर्विरिक्त के लक्षण	"	अनुवासन के अयोग	
अतिकृत विरेचन के लक्षण	"	के लक्षण	"
विरेचनानन्तर घृतपान वा		अनुवासन के अतियोग	
अनुवासन का काल	३५६०	के लक्षण	"
निरूह वस्ति का काल और		स्नेह के लौटकर निकलने	
तत्सम्बन्धी अन्य निर्देश	"	का काल	"

विषय	पृष्ठ
शीघ्र अनुवासन तैल के बाहिर आ जाने में उसका पुनः प्रयोग	३५७२
कर्म काल और योग में वस्तिसंख्यायें	”
शिरोविरेचन विधि	३५७६
शिरोविरेचन के सम्यग्योग के लक्षण	”
शिरोविरेचन के अयोग के लक्षण	”
शिरोविरेचन के अतियोग के लक्षण	”
अतियोग व अयोग में चिकित्सा सूत्र	३५७७
आठवें प्रश्न का उत्तर—पर-हेज़ का काल	”
सातवें प्रश्न का उत्तर—परि-हरणीय	”
नौवें और ग्यारहवें प्रश्न का उत्तर—प्रयुक्त वस्ति के अन्दर न जाने और सुख पूर्वक बाहिर न निकलने में हेतु	३५७८
दसवें प्रश्न का उत्तर—वस्ति के शीघ्र निर्गमन में हेतु	”
बारहवें प्रश्न का उत्तर—किन साध्यरोगों में भी कर्म से सिद्धि नहीं होती	”
अध्यायोक्त विषयसंग्रह	३५८०
द्वितीय अध्याय पञ्चकर्मीय सिद्धि का उपक्रम	३५८०
अचिकित्स्य व्याक्तियां	३५८१

विषय	पृष्ठ
अवाग्य (वमन के अयोग्य)	३५८२
अवाग्यों को वमन न कराने में हेतु	३५८३
अवाग्यों में अपवाद	३५८६
वाग्य (वमनार्ह)	”
अविरेच्य (विरेचनार्ह)	३५८७
अविरेच्यों को विरेचन न देने में हेतु	३५८८
विरेच्य (विरेचनार्ह)	३५८९
अनास्थाप्य (आस्थापन के अयोग्य)	३५९२
अनास्थाप्यों का आस्थापन न कराने में हेतु	३५९४
आस्थाप्य	३५९६
अननुवास्य (अनुवासन के अयोग्य)	३५९८
अननुवास्यों को अनुवासन न कराने में हेतु	३५९९
अनुवास्य (अनुवासनार्ह)	३६०१
शिरोविरेचन के लिये अयोग्य व्यक्ति	३६०२
उनके शिरोविरेचन के लिये अयोग्य होने में हेतु	३६०३
शिरोविरेचनार्ह	३६०५
शिरोविरेचन का काल	३६०६
अध्यायोक्त विषय-संग्रह	३६०७
उक्त विधि और निषेध आदि में वैद्य को स्वयं ऊहा से भी काम लेना चाहिये	”
तृतीय अध्याय वस्तिसूत्रीय सिद्धि का उपक्रम	३६०८

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अग्निवेश के १० प्रश्न	३६०६	निरूह में कषाय आदि की मात्रा	३६२६
प्रथम प्रश्न का उत्तर—वस्ति की सफलता के लिये किन बातों का विचार आवश्यक है	”	छुटे प्रश्न का उत्तर—निरूह-प्रणिधानकी मात्रा	३६२८
द्वितीय प्रश्न का उत्तर—वस्तिनेत्र के द्रव्य	३६१०	शयनविधि—आठवें प्रश्न का उत्तर	३६२६
तृतीय प्रश्न का उत्तर—नेत्र का प्रमाण आकार वा अन्य गुण	”	निरूह में भोजनव्यवस्था	”
चतुर्थ प्रश्न का उत्तर—किनके लिये किसका किस गुणवाला वस्तिपुटक हो	३६१३	नौवें और दसवें प्रश्न का उत्तर—वस्तियां और उनका प्रयोगस्थान	”
पञ्चम प्रश्न का उत्तर—निरूहकल्पना	३६१४	वातव्याधिहरवस्ति स्थिराद्य निरूह	३६३०
बलाद्यवस्ति—वस्तिविधि	३६१५	परण्डमूलाद्य निरूह	३६३१
वस्ति के सम्यक्त्वा न देने से होने वाले विकार	३६२०	छागरस वस्ति	३६३२
वस्ति के उपादान द्रव्यों के मिलाने का प्रकार	३६२२	पलाशवस्ति	”
वस्ति के लेते समय वाम-पार्श्व पर लेटने में हेतु	”	यष्ट्याह्ववस्ति	३६३३
यदि वस्ति देते हुए रोगी को बीच में ही मलमूत्र का वेग हो तो उससमय कर्त्तव्य	३६२३	यष्ट्याह्वादि वस्ति	”
प्रथम द्वितीय और तृतीय वस्ति के फल	”	चन्दनाद्यवस्ति	”
वस्ति के लौट आने पर पश्चात्कर्म	३६२४	द्राक्षादिवस्ति	३६३५
निरूह के पश्चात् अनुवासन विधान और सातवें प्रश्न का उत्तर	”	कोशातकादिवास्ति	३६३६
		पटोलाद्यवस्ति	”
		दशमूलाद्य निरूह	३६३७
		रास्नाद्य वस्ति	”
		पुनर्नवाद्य वस्ति	३६३८
		दोषानुसार निरूहकल्पना और निरूह संख्या	३६४०
		निरूह में प्रतिभोजन	३६४१
		उपसंहार	”
		चतुर्थ अध्याय	
		स्नेहव्यापदिकी सिद्धि का उपक्रम	३६४२
		दशमूलाद्यनुवासन	”

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
२६	जीवनीयादि वसा	३६४३
२६	शताह्वाद्यनुवासन	”
२८	जीवन्त्याद्यनुवासन	”
२८	पित्तघ्न अनुवासन	३६४४
२८	सैन्धवाद्यनुवासन (कफघ्न)	”
”	कतिपय कफघ्न अनुवा-	
”	सनयोग	३६४५
३०	विडङ्गाद्यतैल	३६४६
३०	स्नेहवस्ति के गुण	३६४७
३०	स्नेहवस्ति की छूह व्यापत्	”
३०	छूहों व्यापदों के हेतु	३६४८
३१	वातावृत स्नेह के लक्षण	”
३१	वातावृत स्नेह की चिकित्सा	३६४९
३२	पित्तावृत स्नेह के लक्षण	”
३२	और चिकित्सा	३६५०
३३	कफावृत स्नेह के लक्षण	३६५१
३३	कफावृत स्नेह की चिकित्सा	”
३४	अत्यन्नावृत स्नेह के लक्षण	”
३४	अत्यन्नावृत स्नेह की	”
३६	चिकित्सा	३६५२
३७	पुरीषावृतस्नेह के लक्षण	”
३७	और चिकित्सा	”
३८	निरन्न पुरुष को स्नेहवस्ति	”
३८	देने पर विकार	३६५३
४०	उनकी चिकित्सा	३६५४
४१	रूक्षता के कारण वस्ति के	”
४१	न निकलने पर उसकी	”
४१	उपेक्षा करनी चाहिये	३६५५
४१	अनुवासन से पूर्व भोजन	३६५६
४१	अनुवासनानन्तर उष्ण जल	”
४१	की व्यवस्था	३६५७
४१	उष्णजल के लाभ	”
४१	किनका प्रतिदिन अनुवासन	”

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
३६५८	करना चाहिये	३६५८
”	उसमें हेतु	”
”	आमतैल के प्रयोग का	”
३६५९	निषेध	३६५९
”	युगपत् करठ और गुदा	”
”	में स्नेहप्रयोग का निषेध	”
”	अनुवासन वा निरूह के	”
”	एकान्त रूप में प्रयोग का	”
३६६०	निषेध	३६६०
”	मात्रावस्ति का विधान	”
३६६२	मात्रावस्ति के गुण	३६६२
”	अध्यायोक्तविषय संग्रह	”
”	पञ्चम अध्याय	”
”	नेत्रवस्तिव्यापदिकी सिद्धि	”
३६६३	का उपक्रम	३६६३
”	नेत्र के ८ दोष	”
”	उन दोषों से हानि	”
३६६५	वस्ति पुटक के ८ दोष	३६६५
”	उन दोषों से हानियां	”
”	वस्तिप्रणेत (दाता) के	”
३६६७	१० दोष	३६६७
”	इन से होने वाले विकार	”
३६६८	और उनकी चिकित्सा	३६६८
३६७१	अध्यायोपसंहार	३६७१
”	षष्ठ अध्याय	”
”	वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि	”
३६७२	का उपक्रम	३६७२
”	वमन वा विरेचन देने का	”
”	काल	”
३६७३	वमन आदि में स्नेहस्वेद	३६७३
”	विधान	”
”	किन का विरेचन से पूर्व	”

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अतिस्नेहन न होना		जीर्णौषध के लिङ्ग	३६८२
चाहिये	३६७४	अर्जीण औषध के लक्षण	”
किन्हे स्नेहविरेचन और		औषध किन अवस्थाओं में	
किन्हे रुक्ताविरेचन देना		अवश्य व्यापत्कर होती है	”
चाहिये	३६७५	चतुष्पाद की विगुणता से	
औषध का सम्यग्योग कब		होने वाली १० व्यापत्	”
होता है	”	अयोग वा अतियोग का	
स्नेहन का लाभ	३६७६	अभिप्राय	३६८३
स्वेद का लाभ	”	पीतौषध का संशोधन न	
स्नेह स्वेद द्वारा दोष की		होने पर आवस्थिक	
बहिर्गमनोन्मुखता में दृष्टान्त	”	कर्तव्य	३६८५
अर्जीण में औषध देने		अयोगजन्य व्यापत् और	
से हानि	३६७७	उनकी चिकित्सा	३६८६
मात्रावत् औषध का लक्षण	”	अतियोगजन्य व्यापत् और	
एकाग्रमन का विवरण	३६७८	उनकी चिकित्सा	३६८७
वमनाविरेचनाविधि-वमनवि-		मन्थयोग	३६८८
रेचन से पूर्व का भोजन	”	अन्य कतिपययोग	”
पीतौषध के शुद्धलिङ्ग	”	वमनातियोग में विशेष	
शुद्धलिङ्गों के दीखने पर		विधान	३६९०
शेष (अर्जीण) औषध का		उद्धार में चिकित्सा	”
वमन कराना अभीष्ट है	३६७९	जिह्वाप्रवेश चिकित्सा	”
लघुता न होने पर कोष्ठ में		जिह्वानिःसरण में	
शेष औषध का वमन न		चिकित्सा	३६९१
कराना चाहिये	”	वाग्रह आदि की चिकित्सा	”
जीर्णौषध के लिङ्ग न दीखने		पेयादिक्रम का आदेश	”
पर वमित को लङ्घन		आध्मान का हेतु और	
कराना चाहिये	३६८०	लक्षण	”
जीर्णौषध लिङ्ग दीखने पर		आध्मान की चिकित्सा	३६९२
पेया आदि संसर्जन क्रम		विरेचनातियोगजन्य	
कराना चाहिये	”	परिकर्तिका	”
पेयादि क्रम कराने में हेतु	”	परिकर्तिका का प्रतीकार	३६९३
तर्पणादिक्रम कराने की		परिस्त्राव का स्वरूप और	
अवस्था	३६८१	चिकित्सा	३६९४

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
५२	हृद्ग्रह का निदान लक्षण और चिकित्सा	३६६७	अतियोगज दाह में विशेष उपक्रम	३७११
	अङ्गग्रह का हेतु लक्षण और चिकित्सा	३६६६	क्लम का स्वरूप और चिकित्सा	३७१२
	जीवादान का निदान	३७००	पिप्पल्यादिकाथ	३७१३
	जीवरक्त और रक्तपित्त की विभेदक परीक्षा	३७०१	वचादियोग	३७१३
५३	जीवादानचिकित्सा	३७०१	अन्य कतिपय योग और उपक्रम	३७१४
	रक्तपान और रक्त की वस्ति का आदेश	३७०२	आध्मान का रूप	३७१४
५५	श्यामादि वस्ति	३७०२	आध्मान की चिकित्सा	३७१४
५६	गुदभ्रंश और संज्ञानाश की चिकित्सा	३७०३	हिक्का का रूप और चिकि- त्सा	३७१६
५७	विभ्रंश का स्वरूप और चिकित्सा	३७०३	बलाद्यनुवासन	३७१७
५८	स्तम्भ का हेतु लक्षण और चिकित्सा	३७०४	हृत्प्राप्ति का रूप और चिकित्सा	३७१७
५९	क्लम का हेतु लक्षण और चिकित्सा	३७०५	ऊर्ध्वग व्यापत् का रूप	३७१८
६०	अध्यायोक्त विषयसंग्रह और उपसंहार	३७०६	ऊर्ध्वग व्यापत् की चिकित्सा	३७१८
६१	सप्तम अध्याय वस्तिव्यापदिकी सिद्धि का उपक्रम	३७०७	पकाशयस्थित वस्ति में औषध	३७२०
६२	अग्निवेश के ५ प्रश्न प्रथम और द्वितीय प्रश्न का उत्तर-वस्ति के अस- म्यग्योग से उत्पन्न व्या- पत् और उनकी संख्या	३७०८	उरःस्थित वस्ति में औषध	३७२१
६३	अयोग का रूप	३७०९	शिरःस्थित वस्ति में औषध	३७२१
६४	अयोगचिकित्सा	३७१०	प्रवाहिका का रूप	३७२२
६५	बिल्वाद्यवस्ति	३७११	प्रवाहिका की चिकित्सा	३७२२
	अतियोग का रूप	३७११	शिरोवेदना का रूप	३७२२
			शिरोवेदना की चिकित्सा	३७२३
			अङ्गशूल का रूप	३७२४
			अङ्गशूल की चिकित्सा	३७२४
			परिकर्तिका का रूप	३७२५
			परिकर्तिका-चिकित्सा	३७२६
			परिस्रव का रूप	३७२७
			परिस्रव की चिकित्सा	३७२७
			वस्ति को तीक्ष्ण वा मृदु करने का प्रकार	३७२८

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
पकाशयस्थित वस्ति के सर्व		संग्रह	३७३६
देहगत विकारों के नाश		इन अतीसारों के उपद्रव	३७३७
में दृष्टान्त	३७२६	आमोपवेशचिकित्सा	"
अध्यायोपसंहार	"	शकृदतिसारचिकित्सा	"
अष्टम अध्याय		रक्तातिसार पिच्छातिसार	
प्रासृतयोगिकी सिद्धि का		और कफातिसार की	
उपक्रम	३७३०	चिकित्सा	३७३८
अध्याय का अभिधेय	"	संसर्गातीसारों की	
वातघ्न तथा बलवर्णकारक		चिकित्सा	"
निरूहयोग	"	अतिसारोक्त संसर्गों का	
वातघ्न निरूह	"	सब रोगों में अतिदेश	३७४१
स्नेहनीय निरूह	३७३१	छहों के संसर्ग में षड्रस	
शुक्रकारक निरूह	"	(छहों रसों से युक्त)	
मेहादिनाशक पञ्चतिक्रानिरूह	"	पाचन का विधान	"
क्रिमिनाशक निरूह	३७३२	आमरहित पांच के संसर्ग में	
वृषताकारक वस्ति	"	षाड्रसिक वस्ति	"
मलरोध तथा आनाह नाशक		सब अतीसारों में सामान्य	
वस्ति	३७३३	योग	३७४२
आनाह और मूत्रकृच्छ्र हर		यवागू योग	"
वस्तियोग	"	उक्त अतीसार चिकित्सा का	
मृदुवस्ति से जड़ीभूत में		संक्षिप्त वर्णन	३७४४
तीक्ष्ण निरूह की व्यवस्था	"	अध्यायोक्त विषयसंग्रह	३७४५
तीक्ष्ण वस्ति से कर्षित में		नवम अध्याय	
मधुर प्रत्यास्थापन	"	त्रिमर्मीय सिद्धि का उपक्रम	"
गुददाह आदि में त्रिवृत्कल्क		मर्माँ में अधिक पीड़ा का	
का प्रयोग	३७३४	हेतु	३७४६
पुरीषक्षय में उपचार	"	शाखाश्रित से स्कन्धाश्रित	
आमातिसार वा आमोपवेश		मर्म और स्कन्धाश्रितों में	
का स्वरूप और चिकित्सा	३७३५	हृदय वस्ति वा शिर इन	
पुरीषातिसार प्रभृति		तीन मर्माँ की प्रधानता में	
५ अतिसारों में चिकित्सा		हेतु	"
का अतिदेश	"	इन तीन मर्माँ में आश्रित	
अतिसार के ३६ भेदों का		भाव	३७४७

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
३६	हृदयआदि तीन मर्मों की	
३७	विशेषतः रक्षा करनी	
	चाहिये	३७४८
	हृदयाभिघात से उत्पन्न	
	विकार	३७४६
३८	शिर पर चोट से उत्पन्न विकार	३७५०
	वस्ति पर अभिघात से होने	
	वाले विकार	३७५०
	मर्मों की वात से विशेषतः	
४१	रक्षा करनी होती है	३७५१
	मर्मपरिपालनार्थ वस्ति कर्म	
	की प्रधानता और वातव्या-	
	धिचिकित्सा का अतिदेश	३७५१
	हृदय के वाताक्रान्त होने	
	पर चिकित्सा	३७५१
४२	शिर के वाताक्रान्त होने पर	
	चिकित्सा	३७५२
	वस्ति के वाताक्रान्त होने पर	
	चिकित्सा	३७५२
४४	मर्मपरिपालनप्रकार	३७५३
४५	अपतन्त्रक की सम्प्राप्ति	
	और लक्षण	३७५४
	अपतन्त्र की चिकित्सा	३७५७
	मरिचादि शीर्षविरेचन	३७५८
४६	हिङ्गवादियोग	३७५८
	(अपर)	३७६०
	तन्द्रा का हेतु और सम्प्राप्ति	३७६०
	तन्द्रा का लक्षण	३७६०
	तन्द्राचिकित्सा	३७६१
	१३ मूत्रदोष	३७६१
	मूत्रैकसाद की सम्प्राप्ति	३७६१
४७	लक्षण और चिकित्सा	३७६१
	मूत्रजठर का हेतु सम्प्राप्ति	

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
३७६२	और लक्षण	३७६२
३७६३	मूत्रजठरचिकित्सा	३७६३
	कृच्छ्र का हेतु सम्प्राप्ति	
	और लक्षण	३७६३
	मूत्रोत्सङ्ग का स्वरूप	३७६४
	मूत्रसंक्षय का स्वरूप	३७६४
	मूत्रातीत का लक्षण	३७६५
	वाताष्टीला की सम्प्राप्ति	३७६६
	वातवस्ति का स्वरूप	३७६७
	उष्णवात का स्वरूप	३७६७
	वातकुण्डलिका की सम्प्राप्ति	
	और लक्षण	३७६८
	मूत्रगून्थ की सम्प्राप्ति	३७६८
	और लक्षण	३७६८
	विडविघात की सम्प्राप्ति	
	और लक्षण	३७६९
	वस्तिकुण्डलिका का हेतु	३७६९
	सम्प्राप्ति और लक्षण	३७७०
	वस्तिकुण्डल की साध्या-	३७७०
	साध्यता	३७७०
	कुण्डलीभूत वस्ति का	
	लक्षण	३७७१
	मूत्रदोषों की चिकित्सा	३७७१
	उत्तरवस्ति की विधि	३७७१
	पिप्पल्यादिवर्ति	३७७२
	स्त्रियों को उत्तरवस्ति देने	३७७३
	में विशेषता	३७७३
	स्त्रियों में उत्तरवस्तिदानकाल,	
	स्त्रियों में उत्तरवस्ति यन्त्र के	
	पुष्पनेत्र का विधान	३७७४
	स्त्रियों में पुष्पनेत्र कितना	
	प्रविष्ट करना चाहिये	३७७४
	उत्तरवस्ति के समय रग्णा	

विषय	पृष्ठ
की स्थिति	३७७६
उत्तर वस्ति देने के पश्चात्	
वर्तिप्रणिधान	”
तीन दिन उत्तर वस्ति देकर	
तीन दिन विश्राम के पश्चात्	
पुनः उत्तरवस्ति देनेका आदेश	”
शङ्खक की सम्प्राप्ति और	
लक्षण	३७८०
शङ्खकचिकित्सा	३७८१
अर्धावभेदक का हेतु सम्प्राप्ति	
और लक्षण	३७८२
अर्धावभेदकचिकित्सा	३७८३
सूर्यावर्त का हेतु सम्प्राप्ति	
और लक्षण	३७८४
सूर्यावर्तचिकित्सा	३७८६
अनन्तवात का हेतु सम्प्राप्ति	
लक्षण और चिकित्सा	३७८७
शिरःकम्प का स्वरूप	
और चिकित्सा	३७८८
नस्तःकर्म विधान	”
नस्तःकर्म के पांचभेद	”
नाचन के दो भेद	३७८९
अवपीड के दो भेद	”
ध्मापन का विवरण	३७९०
त्रिविध धूम का अतिदेश	”
प्रतिमर्ष का विवरण	३७९१
नस्य का त्रैविध्य	”
रेचननस्य का प्रयोगस्थान	”
तर्पणनस्य	३७९२
शमननस्य	”
विरेचन और तर्पण नस्य	”
किन द्रव्यों से कल्पित किये	
जाते हैं	३७९३

विषय	पृष्ठ
नस्तःकर्मविधि	३७९४
प्रध्मापनविधि	३७९६
शिरोविरेचन के बाद पथ्य	”
शिरोविरेचन के बाद अपथ्य	
से विकारोत्पत्ति और उन	
की चिकित्सा का निर्देश	३७९८
अशिरोविरेच्य पुरुषों में	
शिरोविरेचन कराने से	
हाने वाले विकार और	
उनका प्रतिकार	३७९९
प्रतिमर्ष का विवरण	३८००
अध्यायोक्त विषयसंग्रह	३८०४
दशम अध्याय	
वस्तिसिद्धि का उपक्रम	३८०५
बल आदि की परीक्षा के	
बाद दी गई वस्तियां अपने	
अपने रोगों को निवृत्त	
करती हैं	”
वस्तिप्रशंसा	”
विरेचन की अपेक्षा वस्ति की	
उत्कृष्टता	३८०६
वस्ति के भेद और गुण	”
कौनसी वस्ति कहां प्रयुक्त	
करानी चाहिये	३८०७
वृंहणीय और विशोधनीय	
वस्ति के अयोग्य व्यक्ति	”
कार्य विशेष से वस्तियों के	
संस्कारक द्रवद्रव्य	”
वस्तियों में आवापद्रव्य	३८०८
तीक्ष्ण और मृदु वस्तियों	
का काल	”
वातरोगनाशक ३ सिद्ध-	

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
७६४	वस्तियां	३८१०
७६६	पित्तरोगनाशक	
	३ सिद्धवस्तियां	३८११
	श्लेष्मरोगनाशक	
	३ सिद्धवस्तियां	३८१२
७६८	पकाशयशोधक	
	४ सिद्धवस्तियां	३८१२
	वीर्य और मांस वर्धक	
	४ सिद्ध वस्तियां	३८१३
७६९	सांग्राहिक ४ सिद्धवस्तियां	३८१४
८००	परिस्रव में २ सिद्धवस्तियां,,	
८०४	दाहघ्न ,, ,,	३८१५
	परिकर्तिका में ,, ,,	३८१६
८०५	प्रवाहिका में ,, ,,	३८१६
	अतियोग में ,, ,,	३८१७
	जीवादान में ३ सिद्धवस्तियां	३८१७
	रक्तापित्त में सिद्धवस्तियां	३८१८
	प्रमेह में १ सिद्धवस्ति	३८१९
	वस्तिसंख्यासंग्रह	३८२०
	गुल्म आदि रोगों में आति- देशिक वस्तियां	३८२०
	एकादश अध्याय	
	फलमात्रासिद्धि का उपक्रम	३८२०
८०७	वस्तियों में कौन सा फल	
	श्रेष्ठ है-मुनियों के मत	३८२१
	आत्रेय का निश्चय	३८२३
	वस्ति किसप्रकार सर्वतः शरीर से दोषहरण करती है	३८२४
	हाथी आदि पशुओं में वस्ति कर्म विधि	३८२६

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
	वस्तिपुटक के लिये कौन सी वस्ति लें	३८२६
	वस्तिनेत्र का प्रमाण	३८२७
	निरूह और अनुवासन की प्रणिधान मात्रा	३८२८
	पशुओं में सामान्य वस्ति कल्पना	३८२८
	विशेष कल्पनायें	३८२९
	सदातुर पुरुष	३८२९
	उनके सदातुर होने में हेतु	३८३०
	सदातुरों के लिये हित- फलवर्ति का प्रयोग	३८३०
	सदातुरों के लिये तदनन्तर निरूह और अनुवासन	३८३१
	सदातुरों के लिये बलवर्णकर निरूह और अनुवासन	३८३२
	शिशु के लिये निरूह और अनुवासन	३८३३
	शिशु और वृद्ध के लिये निरूह से बढ़कर अन्य कर्म नहीं	३८३३
	अध्यायोक्तविषयसंग्रह	३८३३
	द्वादश अध्याय	
	उत्तरवस्तिसिद्धि का उपक्रम	३८३४
	पञ्चकर्मनन्तर अपचार से रोगी की रक्षा	३८३४
	पञ्चकर्मनन्तर पेयादि कम- पालन का आदेश	३८३४
	रसाभ्यासक्रम	३८३५
	प्रकृतिगत पुरुष के लक्षण	३८३५
	अपथ्यत्याग का आदेश	३८३५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
त्याज्य आठ महादोषकर भाव	३८३८	मुस्ताद्य यापनवस्ति	३८४६
इन आठ परिहायों से होने वाली व्याधियाँ	"	शालपर्यादि यापनवस्ति	३८४८
उच्चैर्भाषण से होने वाले विकार	३८३९	सहचरादि और बृहत्यादि यापन वस्ति	३८५०
रथक्षोभ से होने वाले विकार,, अधिक चलने से होने वाले विकार	३८४०	बलाद्य यापनवस्ति	३८५१
अधिक बैठा रहने से होने वाले विकार	३८४१	" (अपर) "	
अजीर्ण भोजन से होने वाले विकार	"	हृषुषाद्य यापनवस्ति	३८५२
अहित भोजन से होने वाले विकार	"	पञ्चमूल्यादि यापनवस्ति	३८५३
दिवास्वप्न से होने वाले विकार	३८४२	बलाद्य यापनवस्ति (अपर) "	
मैथुन से होने वाले विकार	३८४३	"	
ऊँचा बोलने से होने वाले विकारों की चिकित्सा	"	शालपर्यादि यापन-वस्ति (अपर)	३८५३
रथक्षोभ अधिक चलना तथा अधिक बैठा रहने से होने वाले विकारों की चिकित्सा	३८४४	पञ्चमूल्यादि यापन वस्ति	३८५४
अजीर्णभोजनोत्पन्न विकार-चिकित्सा	"	३ आतिदेशिक वस्तियाँ	"
अहितभोजनोत्पन्न विकार-चिकित्सा	"	पञ्चमूल्यादि वस्ति	३८५५
दिवास्वप्नज विकार-चिकित्सा	३८४५	द्विपञ्चमूल्यादि वस्ति	"
मथुनज विकारों की चिकित्सा	"	मयूराद्य वस्ति	३८५६
		११६ आतिदेशिक वस्तियाँ	"
		गोधाद्य वस्ति	"
		कूर्माद्य वस्ति तथा १० आति-देशिक वस्तियाँ	३८५७
		गोवृषाद्य वस्ति	३८५८
		कर्कटकरसाद्य वस्ति	"
		उक्त वृष्यवस्तिषु में प्रति-भोजन और अनुपान	"
		दशमूलाद्य वस्ति	३८५९
		६८ आतिदेशिक वस्तियाँ	"
		मधुघृताद्यवस्ति	३८५९
		मधुघृताद्य वस्ति (अपर)	३८६०
		" " "	"
		सुराद्य वस्ति	"
		द्विपञ्चमूल्याद्य वा दशमू-लाद्य वस्ति	३८६१

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
५४६	शतावर्यादि स्नेहवस्ति	३८६२	इन विकारों की दीपनकर्म	
५४८	बलादि स्नेहवस्ति	३८६४	द्वारा चिकित्सा तथा	
५५०	सहचराद्य स्नेहवस्ति	३८६६	प्रसङ्गतः सेवन का निषेध	३८७३
५५१	इन स्नेहों को वीर्यबलाधानार्थ		सिद्धिस्थान का निर्वचन	”
”	शतपाक वा सहस्रपाक		संहिता का उपसंहार	”
”	करना चाहिये	३८६७	इस संहिता के पाठ का	
५५२	यापनावस्तियों में वर्ज्य	३८७०	माहात्म्य	३८७४
५५३	वस्ति संख्यासङ्ग्रह	”	संस्कर्ता का कार्य	”
”	इन वस्तियों में मधुसंयोग		दृढबल द्वारा ग्रन्थपूर्ति का	”
”	का गुण	३८७२	वचन	”
५५३	वस्ति के अनिर्गमन में		इस तन्त्र में तन्त्रत्वापादन	३८७५
५५४	कर्तव्य	”	३६ तन्त्रयुक्तियाँ	३८७६
”	यापना वस्ति के अतिसेवन		तन्त्रयुक्तियों का प्रयोजन	३८६३
५५५	से होने वाले विकारों का		इस शास्त्र की सर्वोत्तमता	३८६४
”	परिगणन	”		

षोडशोऽध्यायः ।

250

अथातः पाण्डुरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम पाण्डुरोगचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः ।

चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥ २ ॥

पाण्डुरोगों की संख्या—पाण्डुरोग पांच हैं । १ वातज २ पित्तज ३ कफज ये तीन, चौथा सन्निपात (त्रिदोष) से और पांचवां मिट्टी के खाने से उत्पन्न होने वाला ॥ २ ॥

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु ।

शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते ॥ ३ ॥

ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः ।

व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ॥ ४ ॥

सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः ।

वैवर्ण्यं भजते,

पाण्डुरोग का स्वरूप वा सम्प्राप्ति—पित्तप्रधान दोष जिस पुरुष की धातुओं में कुपित हो जाते हैं उसकी धातुओं में शिथिलता और गुरुता उत्पन्न हो जाती है । तदनन्तर वर्ण बल स्नेह और जो भी अन्य ओज के गुण हैं वे भी दोष (वात आदि) और दूष्य (रस रक्त आदि) के अत्यन्त दूषित हो जाने के कारण क्षीण हो जाते हैं । जिससे अल्प रक्त और अल्प मेद वाला निःसार और शिथिल इन्द्रियों वाला वह पुरुष शीघ्र विवर्णता (पाण्डुता) को प्राप्त होता है ।

ओजःक्षय के लक्षण सूत्रस्थान १७ अध्याय में कहे जा

चुके हैं। ओज के अपने दस गुण चिकित्सास्थान २४ अध्याय में कहे हैं—

‘गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं मधुरं स्थिरम् ।

प्रसन्नं पिच्छिलं श्लक्ष्णमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥’

आठ सार विमानस्थान अध्याय ८ में (१२१० पृष्ठ पर) कहे जा चुके हैं। पाण्डुरोगी उन सारों से रहित हो जाता है।

पित्तप्रधान कहने का यह अभिप्राय है कि, अन्य दोष के साथ जब पित्त की प्रधानता होती है। तभी पाण्डुरोग की उत्पत्ति होती है। जब पित्त के साथ वात भी पाण्डु का आरम्भक होता है तब वातज कहाता है। जब पित्त के साथ कफ आरम्भक होता है तब कफज कहाता है इत्यादि ॥ ३—४ ॥

तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ॥ ५ ॥

क्षाराम्ललवणात्युष्णविरुद्धासात्म्यभोजनात् ।

निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥ ६ ॥

विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद्वायामान्मैथुनात्तथा ।

प्रतिकर्मतुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात् ॥ ७ ॥

कामचिन्ताभयक्रोधशोकोपहतचेतसः ।

समुदीर्णं यथा पित्तं हृदये समवास्थितम् ॥ ८ ॥

वायुना बलिना क्षिप्तं स्रोतोभिर्दशभिः स्मृतम् ।

प्रपन्नं केवलं देहं त्वद्भांसान्तरमाश्रितम् ॥ ९ ॥

प्रदूष्य कफवातासृक्त्वद्भांसानि करोति तत् ।

वर्णान्हरितहारिद्रान्पाण्डून्बहुविधांस्त्वचि ॥ १० ॥

स पाण्डुरोग इत्युक्तः,

अब उस पाण्डुरोग का हेतु और लक्षण कहा जायगा, सुन—
पाण्डुरोग का हेतु और सम्प्राप्ति—क्षार अम्ल लवण

१ ‘त्वद्भांसान्तरंस्थितम्’ ग. । २ ‘पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान्’ ग. ।

अत्युष्ण विरुद्ध तथा असात्म्य भोजन से, निष्पाव (सेम), उड़द, पियाक (तिलकल्क), तिलतैल; इनके सेवन से, अन्न के विदग्ध होने पर दिन में सोने से, व्यायाम से तथा मैथुन से, चिकित्सा की विषमता से, ऋतुवैषम्य से, वेगों के रोकने से एवं काम चिन्ता भय क्रोध वा शोक से अस्त पुरुष का हृदयदेश में स्थित प्रवृद्ध हुआ पित्त बलवान् वायु द्वारा फेंका जाता हुआ दशों स्रोतों अर्थात् धमनियों द्वारा सम्पूर्ण देह में प्राप्त होकर त्वचा और मांस के मध्य में आश्रित हो कफ वात रक्त त्वचा और मांस को दूषित करके त्वचा में बहुत प्रकार के हरे हल्दी के सदृश एवं पाण्डु वर्णों को उत्पन्न करता है—उसे पाण्डुरोग कहा जाता है। सुश्रुत उ० अ० ४४ में सम्प्राप्ति इस प्रकार कही है—

‘व्यायामममूलं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ।

निषेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति ॥’ ६-१० ॥

तस्य लिङ्गं भविष्यतः ।

हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा ॥ ११ ॥

पाण्डुरोग के पूर्वरूप—हृदयस्पन्दन (हृदय का धड़कना), रूक्षता, पसीना न आना, श्रम (थकावट); ये पाण्डु के पूर्वरूप हैं। अन्यत्र ये पूर्वरूप कहे हैं—

‘त्वक्स्फोटनष्ठीवनगात्रसादमृद्भक्षणप्रेक्षणकूटशोथाः ।

विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यस्तस्य पुरःसराणि ॥’ ११ ॥

सम्भूतेऽस्मिन्भवेत्सर्वः कर्णक्ष्वेडी हतानलः ।

दुर्बलः सदनोऽन्नद्विद् श्रमभ्रमनिपीडितः ॥ १२ ॥

गात्रशूलज्वरश्वासगौरवारुचिमान्नरः ।

मृदितैरिव गात्रैश्च पीडितोन्मथितैरिव ॥ १३ ॥

१ ‘स्वेदाबाधः’ पा० ।

३१६

शूनाक्षिकूटो हरितः शीर्णलोमा हतपूभः ।

कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः घृविनोऽल्पवाक् ॥ १४ ॥

पिण्डकोद्वेष्टकथ्यरुपादरुक्सदनानि च ।

स्युरध्वारोहणायासैः,

पाण्डुरोग के सामान्य लक्षण—पाण्डुरोग के होने पर रोगियों को कर्णद्वेड (कानों में शब्द होना), अग्निनाश, दुर्बलता, देह की शिथिलता, अन्न में द्वेष (आहार में इच्छा न होना), श्रम (थकावट), भ्रम, गात्रशूल, ज्वर, आस, गुरुता तथा अरुचि होती है । अवयवों में मर्दन पीडन वा उन्मथन (उखाड़ना वा मथना) के सदृश पीड़ाएँ होती हैं । अक्षिकूट में शोथ, देह का हरितवर्ण होना, लोमों का नष्ट होना, देह की कान्ति का नाश, क्रोध, शीत से द्वेष, निद्रालुता (अधिक नींद आना), मुख से लार बहना, थोड़ा बोलना, चलने से सवारी से वा परिश्रम से पिण्डलियों में उद्वेष्टन (खल्ली पड़ना) कमर ऊरु तथा पैरों में वेदना और शिथिलता; ये लक्षण होते हैं ॥ ११-१४ ॥

विशेषश्चास्य वक्ष्यते ॥ १५ ॥

आहारैरुपचारैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः ।

जनयेत्कृच्छ्रपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाङ्गताम् ॥ १६ ॥

अङ्गमर्दं ज्वरं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम् ।

शकृच्छ्रोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान् ॥ १७ ॥

अब पृथक्कया कहा जाता है—

वातज पाण्डु के हेतु और लक्षण—वातवर्धक आहार विहार से कुपित हुआ वायु कष्टसाध्य पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है । देह रूक्ष एवं अरुण वर्ण हो जाता है । अङ्गमर्द, ज्वर, तोद (वेदना), कम्प, पार्श्वशूल, शिरःपीड़ा, पुरीष का

१ ' स्फुरणारोहणा० ' पा० । २ ' ०रुपवासैश्च ' ग. ।

अत्यन्त शुष्क होना, मुख की विरसता, शोथ, आनाह, निर्व-
 लता; ये लक्षण होते हैं । सुश्रुत उ० अ० ४४ में—

‘ कृष्णेक्ष्णं कृष्णशिरावनद्धं तद्वर्णविण्मूत्रनखाननञ्च ।
 वातेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद् युक्तं तथान्यैस्तदुपद्रवैश्च ’ १५.१७

पित्तलस्याचितं पित्तं यथोक्तैः स्वैः प्रकोपणैः ।
 दूषयित्वा तु रक्तादीन्पाण्डुरोगाय कल्पते ॥ १८ ॥

पैत्तिकपाण्डु के हेतु वा सम्प्राप्ति—पित्तल प्रकृति पुरुष में उक्त
 पित्तप्रकोपक कारणोंसे कुपित हुआ पित्त रक्त आदि धातुओं को दूषित
 करके पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है ॥ १८ ॥

स पीतो हस्तिभो वा ज्वरदाहसमन्वितः ।
 तृष्णामूर्च्छापुरीतस्तु पीतमूत्रशकृन्नरः ॥ १९ ॥

खेदनः शीतिकामश्च न चान्नमभिनन्दति ।
 कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च ॥ २० ॥

उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धेऽन्नेऽस्य जायते ।
 दौर्गन्ध्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्बल्यं तम एव च ॥ २१ ॥

पैत्तिक पाण्डु के लक्षण—पैत्तिक पाण्डु के रोगी का वर्ण
 पीतवर्ण का अथवा हरी आभा वाला हो जाता है । ज्वर, दाह,
 तृष्णा तथा मूर्च्छा होती है । मूत्र और पुरीष का वर्ण पीला होता
 है । पसीना आता है । रोगी को शीत पसन्द होता है । आहार
 में रुचि नहीं होती । मुख का स्वाद कटु वा तिक्त होता है ।
 गरम और खट्टा रस अनुपशय है । अन्न के विदग्ध होने पर खट्टे
 डकार आते हैं और विदाह होता है । देह से दुर्गन्ध आती है ।
 मल पतला होता है । रोगी दुर्बल हो जाता है । उसकी आंखों

१ ‘ छर्दिमूर्च्छापिपासार्त्तः ’ ग. । ‘ तृष्णामूर्च्छापिपासार्त्तः ’ च. । तृष्णा-
 मूर्च्छापिपासार्त्त इत्यत्र तृष्णानिमित्ता मूर्च्छा तृष्णामूर्च्छा तेन पिपासया न
 पौनस्त्यम् चक्रः ।

के सामने अंधेरा आता है । सुश्रुत उ० अ० ४४ में इस प्रकार कहा है—

‘ पीतेक्षणं पीतशिरावनद्धं तद्वर्णविएमूत्रनखाननञ्च ।

पित्तेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद्युक्तं तथान्यैस्तदुपद्रवैश्च ’ ॥१६॥

विवृद्धः श्लैष्मलैः श्लेष्मा पाण्डुरोगं स पूर्ववत् ।

करोति गौरवं तन्द्रां छर्दिं श्वेतावभासताम् ॥ २२ ॥

प्रसेकं लोमहर्षं च सादं मूर्च्छां भ्रमं क्लमम् ।

श्वासकासौ तथाऽलस्यमरुचिं वाक्स्वग्रहम् ॥ २३ ॥

शुक्लमूत्राक्षिवर्चस्त्वं कटुरुक्षोष्णकामताम् ।

श्वयथुं मधुरास्यत्वमिति पाण्ड्वामयः कफात् ॥ २४ ॥

श्लैष्मिक पाण्डु का हेतु और लक्षण—कफवर्द्धक आहार-विहार के सेवन से प्रवृद्ध हुआ कफ पूर्ववत् अर्थात् रक्त आदि धातुओं को दूषित करके पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है ।

गुरुता, तन्द्रा, कै, देह की श्वेत आभा होना, लाला प्रसेक, लोमाञ्च, शिथिलता, मूर्च्छा, भ्रम, क्लम, श्वास, कास, आलस्य, अरुचि, वाग्ग्रह (अच्छी प्रकार बोल न सकना), स्वरग्रह (स्वर की क्षीणता), मूत्र आंख और पुरीष का श्वेतवर्ण होना, कटुरुक्ष तथा उष्ण की अभिलाषा, शोथ, मुख के स्वाद का मधुर होना; ये लक्षण होते हैं । इन लक्षणों से कफज पाण्डुरोग जाना जाता है । सुश्रुत उ० अ० ४४ में कहा है—

‘शुक्लेक्षणं शुक्लशिरावनद्धं तद्वर्णविएमूत्रनखाननञ्च ।

कफेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद्युक्तं तथान्यैस्तदुपद्रवैश्च ’ ॥२२-२४॥

सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम् ।

त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम् ॥ २५ ॥

सान्निपातिक पाण्डुरोग का हेतु और लक्षण—सब अन्नों का सेवन करने वाले पुरुष के सब दोष दुष्ट होकर

दुःसाध्य त्रिदोषज पाण्डुरोग को उत्पन्न करते हैं । इसमें तीनों दोषों के पाण्डुरोगों के लक्षण हुआ करते हैं ।

अभिप्राय यह है कि वातल पित्तल श्लेष्मल द्रव्यों के सेवन से तीनों दोष प्रवृद्ध हो जाते हैं और उससे अत्यन्त दुःसाध्य पाण्डुरोग हो जाता है । जिसमें लक्षण वातज पित्तज तथा कफज तीनों प्रकार के पाण्डुरोगों के पाये जाते हैं । त्रिदोषज पाण्डुरोग के प्रकृतिसमसमवेत होने से सुश्रुत उ० अ० ४४ में भी कहा है—

‘सर्वात्मके सर्वमिदं व्यवस्येत् ॥’ २५ ॥

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः ।

कषाया मारुतं, पित्तमूषरा, मधुरा कफम् ॥ २६ ॥

कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भक्तं विरुक्षयेत् ।

पूरयत्यविषकैव स्रोतांसि निरुणाद्वि च ॥ २७ ॥

इन्द्रियाणां बलं तेज ओजो वीर्यं निहत्य च ।

पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥ २८ ॥

शूनगण्डाक्षिकूटभ्रः शूनपान्नाभिमेहनः ।

कृमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक् कफान्वितम् ॥ २९ ॥

मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति—मिट्टी खाने के स्वभाव वाले पुरुष में तीनों दोषों में से कोई एक कुपित हो जाता है । कषायरस वाली मिट्टी वायु को कुपित करती है । ऊसर (क्षाररसयुक्त) मिट्टी पित्त को और मधुर मिट्टी कफ को प्रकुपित करती है ।

मिट्टी के दोषप्रकोप द्वारा ही पाण्डुरोग को उत्पन्न करने के कारण सुश्रुतसंहिता में इसे पृथक् नहीं पढ़ा । इसका अन्तर्भाव दोषजों में ही किया है । और सामान्य हेतुओं में मृद्भक्षण को भी पढ़ दिया है । परन्तु लक्षणों और चिकित्सा में कुछ विशेषता

होने के कारण चरकाचार्य ने इसका पृथक् ही परिगणन किया है ॥

रूक्ष होने के कारण मिट्टी रस आदि धातुओं तथा भुक्त आहार को रूक्ष कर देती है । यतः मिट्टी पचती नहीं अतः अपक्व ही वह स्रोतों में भर जाती है, जिससे उनके मार्ग रुक जाते हैं । परिणाम यह होता है कि इन्द्रियों के बल तेज ओज और वीर्य का नाश होकर पाण्डुरोग उत्पन्न होता है ।

इस पाण्डुरोग में बल वर्ण एवं अग्नि नष्ट होती है । रोगी के गण्ड (गाल), अक्षिकूट (नेत्रकूट) तथा भौंहों में सूजन हो जाती है । पैर नाभि तथा मूत्रेन्द्रिय में शोथ हो जाता है । पेट में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं और रोगी को रक्त और कफ से युक्त अतिसार होता है ॥ २६-२८ ॥

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति ।

कालप्रकर्षाच्छूनानां यश्च पीतानि पश्यति ॥ ३० ॥

पाण्डुरोग की असाध्यता—चिरकाल से उत्पन्न हुए हुए पाण्डुरोग ने रूक्षता के कारण यदि देह को कर्कश कर दिया हो तो उसे असाध्य जानें । जिस पुरुष को दीर्घकाल से पाण्डुरोग होने के कारण शोथ हो गया हो और वह सब पीला ही देखता हो तो उसे भी असाध्य जानना चाहिये ॥ ३० ॥

बद्धाल्पविद्वक् सकफं हरितं योऽतिसार्यते ।

दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृषार्दितः ॥ ३१ ॥

स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात् ।

इति पञ्चविधस्योक्तं पाण्डुरोगस्य लक्षणम् ॥ ३२ ॥

जिस दीन (ग्लानियुक्त) श्वेत वर्ण से लिप्त के सदृश देह वाले अथवा श्वेत एवं अतिमललिप्त देह वाले कै मूर्च्छा और तृष्णा से

१ खरीभूत इति जठरतां गत इति विजयरचितः । २ ' कालप्रकर्षाच्छूनो ना ' पा० । ' कालप्रकर्षाच्छूनानां ' पा० । ३ ' यो वा ' पा० । ४ ' बद्धाल्पविद्वक् सहरितं सकफं ' पा० । ५ श्वेतानुदिग्धाङ्गो ' पा० ।

पीडित पाण्डुरोगी को बंधे हुए अल्प पुरीष से युक्त हरे वर्ण का और कफयुक्त अतिसार होता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है ।

तथा च जो पाण्डुरोगी रक्त की क्षीणता के कारण श्वेतता को प्राप्त हो गया हो, वह भी असाध्य है । अन्यत्र असाध्यता के अन्य लक्षण भी कहे हैं—

‘पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत् ।

पाण्डुसङ्घातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥’

सुश्रुत उ० अ० ४४ में तो कहा है—

‘अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यं म्लानं तथान्तेषु च मध्यशूनम् ।

गुदेऽथ शेफस्यथ मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम् ॥

विवर्जयेत्पाण्डुकिं यशोऽर्थी तथातिसारज्वरपीडितश्च’ ॥३२॥

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते ।

तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥ ३३ ॥

कामला का हेतु और सम्प्राप्ति—जो पाण्डुरोगी पित्तल द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करता है उसका प्रवृद्ध हुआ हुआ पित्त रक्त और मांस को जलाकर कामला रोग को उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

हारिदनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः ।

रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥ ३४ ॥

दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः ।

कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥ ३५ ॥

कामला के लक्षण—कामला में नेत्रों का वर्ण हल्दी का सा

१ ‘पालकिं’ इति पाठान्तरम् । अत्रोवाच विजयरक्षितः—“युक्तं चैतत् । एवं हि पठ्यमाने पाण्डुरोगावस्थाविशेषस्य पालकिनो लक्षणमपि कृतं स्यात् । उक्तं हि सुश्रुते—सकामलापालकिपाण्डुरोगः कुम्भाह्वयो लाघवकोऽल-साध्यः । अनेनैवाभिप्रायेण कश्चिदभियुक्तो लिखितवान्—अन्ते शूनः कृशो मध्ये त्वथा गुदशेफसि । शूनो ज्वरातिसारद्यैर्मृतकल्पस्तु पालकी ॥”

हो जाता है। त्वचा नख और चेहरे का वर्ण भी हल्दी का सा होता है। पुरीष और मूत्र लाल पीले से होते हैं। देह का वर्ण बरसाती मेंडक के सदृश होता है। इन्द्रियां दुर्बल हो जाती हैं। रोगी दाह अपचन दुर्बलता शिथिलता तथा अरुचि से क्षीण वा कृश हो जाता है।

यह कामला कोष्ठ तथा शाखाओं में आश्रित होकर पित्त की अधिकता के कारण होता है। सूत्रस्थान ११ अ० में (२८४ पृष्ठ पर) कोष्ठ और शाखा से किनका ग्रहण होता है, यह बताया जा चुका है। यथा—

‘ तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च । कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे ।’

यहां पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कामलारोग पाण्डुरोग के बिना भी अन्य हेतु से यदि पित्ताधिक्य हो तो हो सकता है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में कहा भी है—

‘ यः पाण्डुरोगी सेवेत पित्तलं तस्य कामलाम् ।

कोष्ठशाखाश्रयं पित्तं दग्ध्वासृङ्मांसमावहेत् ॥

हारिद्रनेत्रमूत्रत्वङ्गन्धवक्त्रशक्त्या ।

दाहाविपाकतृष्णावान् भेकाभो दुर्बलेन्द्रियः ॥

भवेत्पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगाद्वेऽपि च ॥’

बहुधा कामलारोगियों में मल का वर्ण श्वेत होता है और मूत्र एवं नेत्र का वर्ण अत्यन्त पीत होता है। ऐसे स्थानों पर कफ द्वारा मार्ग के रुद्ध होने के कारण पित्त पुरीष के साथ नहीं मिलने पाता और वह रक्त आदि धातुओं में पुनः चला जाता है। यही कारण है कि उस समय मूत्र अत्यन्त पीतवर्ण का हो जाता है और पुरीष श्वेत वर्ण का होता है। यह चिकित्सा के प्रसङ्ग में आचार्य स्वयं कहेंगे। सुश्रुत उ० अ० ४४ में

कामला का हेतु और सम्प्राप्ति इस प्रकार कही है—

‘वक्ष्यामि लिङ्गान्यथ कामलायाः ।

यो ह्यामयान्ते सहस्राक्षमम्लमद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम् ।

करोति पाण्डुं वदनं विशेषात् तन्द्राविलत्वं प्रथमोदितान्श्च’ ॥३४॥

कालान्तरात्स्वरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला ।

कृष्णपीतशकुन्मूत्रौ भृशं शूनश्च मानवः ॥ ३६ ॥

कुम्भकामला का स्वरूप—कामला के लगातार रहने से कालान्तर में यदि देह वा धातुएं अत्यन्त खर वा रूक्ष हो जाय तो उसे कुम्भकामला कहते हैं—यह कष्टसाध्य होता है । इसमें रोगी के पुरीष और मूत्र का वर्ण कालापीला सा होता है और शोथ अत्यधिक होता है । सुश्रुत उ० अ० ४४ में भी कुम्भकामला का स्वरूप कहा है—

‘भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाहः शोफो महांस्तत्र च पर्वभेदः॥’ ३६

सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिर्विण्मूत्रौ यश्च ताम्यति ।

दाहारुचितृषानाहतन्द्रामोहसमन्वितः ॥ ३७ ॥

नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते ।

साध्यानामितरेषां तु भेषजं संप्रवक्ष्यते ॥ ३८ ॥

कामला की असाध्यता—जिस कामलारोगी के नेत्र मुख के पुरीष और मूत्र का वर्ण लालिमा युक्त हो अथवा रक्त के संचय से चेहरे और नेत्र का वर्ण लाल हो और के पुरीष वा मूत्र के साथ रुधिर आता हो, जो ग्लानि दाह अरुचि प्यास आनाह तन्द्रा तथा मोह (मूर्च्छा) से युक्त हो, जिस की अग्नि और संज्ञा (चेतना) नष्ट होगई हो वह शीघ्र ही मर जाता है।

१ ‘पूर्वेरितौ तन्निद्रबलक्षयौ च’ पा० । २ प्रथमोदितान्श्चेति पाण्डुदितान् ।

३१७

इस (असाध्य) से भिन्न साध्य कामलाओं की चिकित्सा आगे कही जायगी ॥ ३७-३८ ॥

तत्र पाण्डुवामयी स्निग्धैस्तीक्ष्णैरुर्ध्वानुलोमिकैः ।

संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः ॥ ३९ ॥

पाण्डु और कामला की चिकित्सा—पाण्डुरोगी का पूर्व स्नेहन करके तीक्ष्ण वमन और विरेचन से शोधन करना चाहिये ।

कामला के रोगी का तो तिक्तरस युक्त मृदु विरेचन औषध से संशोधन कराना चाहिये ॥ ३९ ॥

ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत् ।

शालीन् सयवगोधूमान् पुराणान् यूषसंहितान् ॥ ४० ॥

मुद्गाढकीमसूरैश्च जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः ।

यथादोषं विशिष्टं च तयोर्भैषज्यमाचरेत् ॥ ४१ ॥

पाण्डुरोगी और कामला रोगी के कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर उन्हें पथ्यभोजन कराना चाहिये । जैसे यूषों के साथ पुराने शालि चावल जौ वा गेहूं का प्रयोग । यूषार्थ मूंग अरहर और मसूर हितकर हैं । अथवा जाङ्गल पशुपक्षियों के मांस-रसों के साथ शालि आदि का प्रयोग कराना चाहिये ।

यह सब पाण्डुरोग और कामलारोगों में सामान्य कर्म कहा है । चिकित्सा तो दोष के अनुसार भिन्न २ की जाती है ४०-४१

पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा ।

स्नेहनार्थं घृतं दद्यात्कामलापाण्डुरोगिणे ॥ ४२ ॥

स्नेहनार्थं घृतों की व्यवस्था—कामला वा पाण्डुरोगी को पञ्चगव्यघृत(अपस्मारोक्त) महातिक्तघृत(कुष्ठोक्त) अथवा कल्याणकघृत (उन्मादोक्त) स्नेहन के लिये प्रयोग कराना चाहिये ॥ ४२ ॥

१ 'मुद्गाढकीमसूराद्यैर्जाङ्गलैश्च' ग० ।

आगे

दाडिमाद्यं घृतम् ।

दाडिमात्कुडवो धान्यात्कुडवार्धं पलं पलम् ।

चित्रकाच्छृङ्गवेराच्च पिप्पल्यष्टमिका तथा ॥ ४३ ॥

तैः कल्कैर्विंशतिपलं घृतस्य सलिलाढके ।

सिद्धं हृत्पाण्डुगुल्मार्शः शीहवातकफार्तिनुत् ॥ ४४ ॥

दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवाते च शस्यते ।

दुःखप्रसविनीनां च वन्ध्यानां चैव गर्भदम् ॥ ६५ ॥

इति दाडिमाद्यं घृतम् ।

दाडिमाद्यघृत—गव्यघृत २० पल । कल्कार्थ—अनारदाना

४ पल, धनियां २ पल, चित्रक १ पल, सोंठ १ पल, पिप्पली

२ कर्ष । जल २ आढक । यथाविधि घृतपाक करें । यह हृद्रोग,

पाण्डु, गुल्म, अर्श, शीहा तथा अन्य वातज और कफज रोगों

को नष्ट करता है । यह अग्निदीपक है । श्वास कास का नाशक

है । मूढवात में प्रशस्त है । जिन स्त्रियों को प्रसव के समय अत्यन्त

कष्ट होता हो उनके लिये हितकर है । वन्ध्या स्त्रियों के लिये

यह घृत गर्भदाता है । मात्रा—आधा तोला । अष्टाङ्गसंग्रह चि०

अ० १८ में भी इस योग का संग्रह किया गया है—

‘दाडिमसारतः कुडवं धान्यकार्धकुडवं पिप्पल्यष्टमिकां शुण्ठी-

चित्रकयोश्च पलं पलमेकतः कल्कीकृत्य तोयाढके विंशतिपलं घृत-

स्य सिद्धं हृत्पाण्डुरोगगुल्मशीहार्शः श्वासकासमूढवातवातकफार्ति-

हरमग्निदीपनं वन्ध्यानां संमतं दुःखप्रसविनीनाञ्च ॥ ४३-४५ ॥

कटुकाद्यं घृतम्

कटुका रोहिणी मुस्तं हरिद्रे वत्सकात्फलम् ।

पटोलं चन्दनं मूर्वा त्रायमाणा दुरालभा ॥ ४६ ॥

१ ‘तैर्द्वात्रिंशत्पलं कल्कैर्घृतस्य०’ पा० ।

२ ‘कटुकां रोहिणीं’ ग० । ३ ‘मूर्वा त्रायमाणां दुरालभा’ ग० ।

कृष्णां पर्पटको निम्बो भूनिम्बो देवदारु च ।

तैः कार्षिकैर्घृतप्रस्थः सिद्धः क्षीरचतुर्गुणः ॥ ४७ ॥

रक्तपित्तं ज्वरं दाहं श्वयथुं सभगन्दरम् ।

अर्शास्यसृग्दरं चैव हन्ति विस्फोटकांस्तथा ॥ ४८ ॥

इति कटुकाद्यं घृतम् ।

कटुकाद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । कल्कार्थ—कटुकी, मोथा हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, पटोलपत्र, लालचन्दन, मूर्वामूल, त्राय-
माणा, दुरालभा, पिप्पली, पित्तपापड़ा, नीम की छाल, चिरायता,
देवदारु; प्रत्येक १ कर्ष । गौ का दूध ८ प्रस्थ यथाविधि घृत को
सिद्धकर मात्रा में रोगी को प्रयोग करायें । मात्रा—आधा तोला ।
यह घृत रक्तपित्त ज्वर दाह शोथ भगन्दर अर्श रक्तप्रदर तथा
विस्फोटकों को नष्ट करता है ।

पाण्डुरोग तथा कामला का प्रकरण होने से यह भी समझ
लेना चाहिये कि यह घृत उनका भी नाशक है । चक्रदत्त में भी
यह योग संगृहीत है । वहां इसका नाम मूर्वाद्यघृत है ।

‘मूर्वातिक्तानिशायासकृष्णाचन्दनपर्पटैः ।

त्रायन्तीवत्सभूनिम्बपटोलाश्वुददारुभिः ॥

अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं सिद्धं क्षीरचतुर्गुणम् ।

पाण्डुताज्वरविस्फोटशोथाशौरक्तपित्तनुत् ॥’

परन्तु यहां कल्क द्रव्यों में दारुहल्दी और नीम को नहीं
पड़ा । टिप्पणी में कहे गये पाठान्तर के अनुसार प्रकृत ग्रन्थोक्त योग
में भी नीम का समावेश नहीं । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १८ में
भी यह योग थोड़े से भेद से पड़ा है—

‘दुरालभाचन्दनपटोलत्रायमाणागुडूचीकिराततिक्तरोहिणीघन-
निशाद्वयेन्द्रयवदेवदारुपर्पटकाजमोदैः कार्षिकैः क्षीराढके घृतप्रस्थं

१ ‘सपिप्पलीं पर्पटकं भूनिम्बं देवदारु च’ ग० ।

साधयेत् पाण्डुरोगकामलारक्तपित्तज्वरदाहासृग्दरविस्फोटश्चयथुभग-
न्दरार्शोन्नम् ।'

यहां मूर्वा पिप्पली और नीम नहीं पढ़े गये । और गिलोय
तथा अजमोदा विशेष हैं ॥ ४६-४८ ॥

पथ्याघृतम्

पथ्याशतरसे पथ्यावृन्तार्धशतकल्कवान् ।

प्रस्थः सिद्धो घृतात्पेयः सपाण्ड्वामयगुल्मनुत् ॥ ४९ ॥

इति पथ्याघृतम् ।

पथ्याघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ को १०० हरड़ों के काथ में
तथा ५० हरड़ों के वृन्तों (फल की डंडी) के कल्क से यथा-
विधि सिद्ध कर रोगी पीवे । यह पाण्डुरोग और गुल्म को नष्ट
करता है । मात्रा— $\frac{3}{4}$ तोले से $\frac{1}{2}$ तोले तक ।

हरड़ों का काथ करने के लिये जल इतना डालना चाहिये
जो अवशिष्ट रह कर घी से चौगुना हो अर्थात् काथार्थ २ द्रोण
जल डालें और आधा द्रोण (८ प्रस्थ) रहने पर उतार कर
छान लें ॥ ४९ ॥

दन्तीघृतम्

दन्त्याश्चतुष्पलरसे पिष्टैर्दन्तीशिलाडुभिः ।

तद्वत्प्रस्थो घृतात्सिद्धः स्नीहपाण्ड्वर्तिशोफजित् ॥ ५० ॥

इति दन्तीघृतम् ।

दन्तीघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ को दन्ती ४ पल के रस में
दन्तीफल की मज्जा के कल्क से यथाविधि सिद्धकर रोगी को
मात्रा में प्रयोग करावें । यह स्नीहा, पाण्डुरोग और शोथ को
जीतता है ।

सामान्यतः काथ घृत से चतुर्गुण लिया जाता है अतः

१ 'दन्त्याः शतपलरसे' ग० ।

४ पल दन्ती को २ द्रोण जल में डालकर काथ करे जब चतुर्थांश अर्थात् आधा द्रोण (८ प्रस्थ) अवशिष्ट रह जाय तो उतारकर छान लें । अथवा तन्त्रान्तरोक्त—

‘ निकुम्भकुडवकाथप्रस्थे तत्कल्कसंयुतम् ।

सर्पिः प्रस्थं पचेत्स्त्रीहकामलापाण्डुरोगनुत् ॥’

इस वचन के अनुसार काथ घृत के समान ही लेना चाहिये अर्थात् ८ प्रस्थ जल डालकर काथ करें जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब उतार कर छान लें । दन्तीफल की मञ्जा का कल्क सामान्य नियम के अनुसार घृत से चतुर्थांश अर्थात् आधा प्रस्थ (८ पल) लिया जाता है । परन्तु वृद्धवैद्य इसके तीक्ष्ण वीर्य होने से घी से अष्टमांश (४ पल) लेते हैं । मात्रा—४ बूंद ।

द्राक्षाघृतम्

पुराणसर्पिषः प्रस्थो द्राक्षार्धप्रस्थसाधितः ।

कामलागुल्मपाण्ड्वर्तिज्वरमेहोदरापहः ॥ ५१ ॥

इति द्राक्षाघृतम् ।

द्राक्षाघृत—दसवर्ष का पुराना गव्यघृत २ प्रस्थ । कल्कार्थ—द्राक्षा (मुनक्का) आधा प्रस्थ । पाकार्थ जल ८ प्रस्थ । यथाविधि घृतपाक करें । यह कामला गुल्म पाण्डुरोग ज्वर प्रमेह एवं उदर-रोगों को नष्ट करता है । मात्रा—२ मासे ।

कई वैद्य चतुर्गुण जल न डालकर हारीत के—

‘ पिष्ट्वा गोस्तनिकायाश्च पलान्यष्टौ समावपेत् ।

पुराणसर्पिषः प्रस्थं पचेत् क्षीरचतुर्गुणम् ॥’

इस वचन के अनुसार इसे चौगुने दूध के साथ पकाते हैं ॥५१॥

हरिद्रादिघृतम्

हरिद्रात्रिफलानिम्बबलामधुकसाधितम् ।

सक्षीरं माहिषं सर्पिः कामलाहरमुत्तमम् ॥ ५२ ॥

इति हरिद्रादिघृतम् ।

हरिद्रादिघृत—भैंस का घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ—हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, नीम की छाल, बलामूल का छिलका, मुल-हठी; मिलित १ शराव । दूध ८ प्रस्थ । यथाविधि साधित यह घृत कामला को हरने में उत्तम है । मात्रा—आधा तोला ॥५२॥

गोमूत्रे द्विगुणे दार्वीकल्कान्नद्वयसाधितः ।

दार्व्याः पञ्चपलकाथे कल्के कालीयके परः ॥ ५३ ॥

माहिपात्सर्पिषः ग्रस्थः पूर्वः पूर्वे परे परः ।

दो घृत के योग—भैंस का घी २ प्रस्थ । गोमूत्र ४ प्रस्थ । कल्कार्थ—दारुहल्दी २ कर्ष । यथाविधि साधित करें । मात्रा—चौथाई तोला । इसे दार्वीघृत कह सकते हैं ।

भैंस के घी २ प्रस्थ को दारुहल्दी ५ पल के काथ और कालीयक काष्ठ (पीले अगर की लकड़ी) के कल्क में यथाविधि संस्कृत करें । मात्रा—चौथाई तोला । इसे कालीयकघृत नाम से कह सकते हैं ।

इन दोनों योगों में से प्रथमयोग पाण्डुरोग में प्रयुक्त कराया जाता है और दूसरा कामला में हितकर है ।

पूर्व घृत के साहचर्य के कारण दूसरे घृत में भी ५ पल दारुहल्दी का काथ घी से दुगुना और कल्क २ कर्ष लिया जाता है । काथार्थ ५ पल दारुहल्दी में १ द्रोण (४ आढक) जल डालें । जब १ आढक (४ प्रस्थ) शेष रह जाय तब उतार लें ।

स्नेहैरोभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत् ॥ ५४ ॥

पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा ।

इन स्नेहों के प्रयोग से जब रोगी का यथावत् स्नेहन होजाय तब विरेचन करावें ।

विरेचनार्थ केवल दूध अथवा गोमूत्र युक्त दूध बहुशः पिलाना चाहिये । वृद्धवाग्भट ने यह प्रयोग १ पक्ष तक कराने को कहा है—

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

‘पुनश्च स्निग्धं मूत्रयुक्तं गव्यं माहिषं वार्धमासं पयः पाययेत् ॥’

प्रकृतग्रन्थ में भी १ पल तक प्रयोग कराने को कहा जायगा ॥ ५४ ॥

दन्तीफलरसे कोष्णो काश्मर्याञ्जलिना युतम् ॥ ५५ ॥

द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा वा दद्यात्पाण्डुवामयापहम् ।

दन्तीफल के कोसे काथ में गाम्भारीफल १ अञ्जलि (४ पल) और मुनक्का ४ पल मलकर छान ले । इसे मात्रा में पाण्डुरोग के नाश के लिये विरेचनार्थ दें ।

कोष्ण काथ में मर्दन करने के कारण यह फाण्टयोग है । फाण्ट में मर्दन किये जाने वाले द्रव्य की अपेक्षा द्रव चतुर्गुण लिया जाता है । अतः गाम्भारीफल और मुनक्के का प्रमाण मिलित ८ पल होने के कारण दन्ती का काथ ३२ पल होना चाहिये । अथवा ‘दन्तीफलरसे’ ऐसा पाठ होगा । इस के अनुसार १ पल दन्ती का इतना काथ करें जो प्रक्षेप द्रव्य (८ पल) से चौगुना हो । इस योग की मात्रा ३ मासे जाननी चाहिये ॥ ५५ ॥

द्विशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलार्धं पैत्तिकः पिबेत् ॥ ५६ ॥

कफपाण्डुस्तु गोमूत्रयुक्तां क्लिन्नां हरीतकीम् ।

पैत्तिकपाण्डु का रोगी निसोत के चूर्ण में दुगुनी खांड मिला कर आधी पल मात्रा में विरेचनार्थ पीवे । इस योग की वर्तमान काल के उपयुक्त मात्रा तीन वा चार मासे जाननी चाहिये । अनुपान—जल ।

कफज पाण्डु का रोगी गोमूत्र में भिगोई हुई और कूटकर गोमूत्र में आलोडित की हुई हरड़ को मात्रा में पीवे ॥ ५६ ॥

आरग्वध रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य च ॥ ५७ ॥

सत्र्यूषणं बिल्वमात्रं पिबेन्ना कामलापहम् ।

१ ‘शृतम्’ पा० । २ ‘गोमूत्रक्लिन्नयुक्तां’ ग. । ३ ‘आरग्वधरसेने०’ पा० । ४ ‘बिल्वपत्रं’ पा० ।

अमलतास की मज्जा के साथ त्रिकटुचूर्ण मिलाकर १ पल प्रमाण में ईख के रस वा आंवले के रस के अनुपान से कामला का रोगी पीवे । यह कामला को नष्ट करता है ।

कई 'आरग्वधं रसेन' ऐसा न पढ़कर 'आरग्वधरसेन' पढ़ते हैं और इसे प्रथम योग के साथ सम्बन्धित करते हैं । अर्थात् अमलतास के रस से गोमूत्र से क्लिन्न हरीतकी को पीवे । तथा च 'बिल्वमात्रं' के स्थान पर 'बिल्वपत्रं' पढ़कर कामला में पृथक् योग स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार बिल्व के पत्ते और त्रिकटु एकत्र मिश्रित कर ईख के रस, विदारीकन्द के रस वा आंवले के रस के साथ प्रयोग कराना चाहिये । परन्तु वृद्धवाग्भट के अनुसार यह ठीक नहीं । वृद्धवाग्भट में पाण्डु के प्रकरण में तो—

‘सप्ताहं सूत्रेण वा हरीतकीः कल्किताः ।’

कहा है और कामला के प्रकरण में जाकर—

‘आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य वा ।

सत्र्यूषणं बिल्वमात्रं पाययेत् कामलापहम् ॥’

यह पढ़ा है । अतः पूर्वकृत व्याख्या ही ठीक है ।

वर्तमान काल के लिये १ पल मात्रा अनुपयोगी है । इसे ४ मासे तक की मात्रा में प्रयोग कराना चाहिये ॥ ५७ ॥

दन्त्यर्धपलकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा ॥ ५८ ॥

कामलीं त्रिवृतां वापि त्रिफलाया रसैः पिबेत् ।

दन्ती के आधे पल कल्क को १ पल गुड के साथ मिलाकर शीतल जल से कामला का रोगी पीवे । आधुनिक मात्रा—१ रत्ती ।

अथवा निसोत के चूर्ण को त्रिफला के रस से पीवे । चूर्ण की मात्रा—१ मासे से २ मासे तक जाननी चाहिये ॥ ५८ ॥

विशालाकंडुकामुस्तकुष्ठदारुकलिङ्गकान् ॥ ५६ ॥

कार्षिकानर्धकर्षां कुर्यादतिविषां तथा ।

कर्षौ मधुरसाया द्वौ सर्वमेतत्सुखाम्बुना ॥ ६० ॥

मृदितं तं रसं पूतं पीत्वा लिह्याच्च मध्वनु ।

कासं श्वासं ज्वरं दाहं पाण्डुरोगमरोचकम् ॥ ६१ ॥

गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तं च नाशयेत् ।

इन्द्रायण, कडुकी, मोथा, कुष्ठ, देवदारु, इन्द्रजौ; प्रत्येक १ कर्ष, अतीस आधा कर्ष, मूर्वामूल २ कर्ष; इस चूर्ण को सुहाते गरम जल में मलकर निर्मल वस्त्र से छान लें । इसे पीने के पश्चात् मधु को चाटें । यह कास श्वास ज्वर दाह पाण्डुरोग अरुचि गुल्म आनाह आमवात और रक्तपित्त को नष्ट करता है।

फाण्टयोग होने से जल चौगुना लिया जायगा । इस फाण्ट की आधुनिक मात्रा—४ तोला । अष्टाङ्गसंग्रहकार ने इसका फाण्ट करने को नहीं कहा वह चूर्ण को ही सुखोष्ण जल के साथ पीने को कहता है—

वत्सकबीजविशालाकुष्ठकटुकादारुमुस्तानां समाः भागाः मूर्वा-
भागद्वयमतिविषाभागार्धं च चूर्णितं सुखाम्बुना पीत्वा क्षौद्रमनु-
लिह्यात् । एतत्पाण्डुकामलाज्वरारुचिगुल्मानाहामवातरक्तपित्तकास-
श्वासानपोहति ॥' चि० अ० १८ ॥ ५६-६१ ॥

त्रिफलाया गुडूच्या वा दाव्या निम्बस्य वा रसम् ॥ ६२ ॥

शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिबेन्नरः ।

कामला से पीड़ित पुरुष प्रातःकाल त्रिफला, गिलोय, दारु-
हल्दी, नीम; इनमें से किसी एक का रस शीतल ही मधु
मिलाकर पीवे ॥ ६२ ॥

क्षीरमूत्रं पिबेत्पक्षं गव्यं माहिषमेव वा ॥ ६३ ॥

१ 'विशालात्रिफला०' पा० । २ 'प्रातः प्रातर्मधुयुतं' ग. ।

पाण्डुर्गोमूत्रसिद्धं वा सप्ताहं त्रिफलारसम् ।

पाण्डुरोगी गौ के दूध में गोमूत्र मिलाकर अथवा भैंस के दूध में भैंस का मूत्र मिलाकर एक पक्ष तक पीवे । अथवा गो-मूत्र से त्रिफला के काथ को सिद्ध कर सात दिन पीवे । अष्टाङ्ग-संग्रह चि० अ० १८ में भी कहा है—

‘मूत्रसिद्धां वा त्रिफलाम् ।’

तरुजान् ज्वलितान्मूत्रे निर्वाप्यामृद्य चाङ्कुरान् ॥ ६४ ॥

मातुलुङ्गस्य तत्पूतं पाण्डुशोथहरं पिबेत् ।

मातुलुङ्ग (बिजौरा) के वृक्ष में निकले हुए अङ्कुरों को अग्नि में जलाकर गोमूत्र में बुझावें और वहीं अच्छीप्रकार मसल दें । पश्चात् वस्त्रखण्ड से छान लें । इसे मात्रा में रोगी पीवे । यह पाण्डु और शोथ को अथवा पाण्डु से उत्पन्न शोथ को हरता है ॥ ६४ ॥

स्वर्णक्षीरं त्रिवृच्छ्यामे भद्रदारु सनागरम् ॥ ६५ ॥

गोमूत्राञ्जलिना पिष्टं मूत्रे वा कथितं पिबेत् ।

क्षीरमेभिः शृतं वापि पिवेदोषानुलोमनम् ॥ ६६ ॥

स्वर्णक्षीरी (सत्यनासी, चोक), त्रिवृत् (श्वेत निसोत), श्यामा (श्याम मूल वाली निसोत), देवदारु, सोंठ; इन्हें एक अञ्जलि (४ पल) परिमित गोमूत्र से पीसकर अथवा गोमूत्र में काथविधि से काथ बना मात्रा में पीवे ।

अथवा इन्हीं द्रव्यों से यथाविधि साधित दूध पीवे । यह दोष का अनुलोमन करता है ॥ ६५-६६ ॥

हरीतकीं प्रयोगेण गोमूत्रेणाथवा पिबेत् ।

जीर्णे क्षीरेण भुञ्जीत रसेन मधुरेण वा ॥ ६७ ॥

अथवा हरड़ के चूर्ण को गोमूत्र के अनुपान से प्रतिदिन पीवे ।

१ ‘पाण्डुर्गोमूत्रयुक्तं’ पा० ।

वृद्धवाग्भट इसका प्रयोग सातदिन तक प्रतिदिन करने को कहता है—

‘सप्ताहं मूत्रेण वा हरीतकीः कल्किताः ।’

अपैध के जीर्ण हो जाने पर दूध अथवा मधुर मांसरस से भोजन करावें ॥ ६७ ॥

सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः ।

पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद् भिषक् ॥ ६८ ॥

वैद्य लोहभस्म को गोमूत्र से सात दिन तक भावना देकर पाण्डुरोग की शान्ति के लिये दूध के अनुपान से रोगी को पिलावे । मात्रा—आधी रत्ती से दो रत्ती तक ॥ ६८ ॥

नवायसचूर्णम्

त्र्यूषणत्रिफलामुस्तविडङ्गचित्रकाः समाः ।

नवायोरजसो भागास्तच्चूर्णं चौद्रसर्पिषा ॥ ६९ ॥

भक्षयेत्पाण्डुहृद्रोगकुष्ठार्शःकामलापहम् ।

नवायसमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण भाषितम् ॥ ७० ॥

इति नवायसचूर्णम् ।

नवायसचूर्ण—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मोथा, वायविडङ्ग, चित्रक; प्रत्येक १ भाग, लोहभस्म ९ भाग; इन्हें एकत्र मिश्रित कर मधु और घी से सेवन करे । यह पाण्डु हृद्रोग कुष्ठ अर्श और कामला का नाशक है । कृष्णात्रेय ने इस चूर्ण का उपदेश किया है । मात्रा—१ रत्ती से ४ रत्ती तक ॥ ६९-७० ॥

गुडनागरमण्डूरतिलांशान्मानतः समान् ।

पिप्पलीद्विगुणां कुर्याद्गुटिकां पाण्डुरोगिणे ॥ ७१ ॥

गुड, सोंठ, गोमूत्रशोधित—मण्डूरभस्म, तिल; प्रत्येक १ भाग पिप्पली २ भाग; इन्हें एकत्र मिला गुटिका बनावें । इसे पाण्डु-

१ ‘०तिनिशान्’ ग. । २ ‘पिप्पलीं द्विगुणां दद्याद्’ ग. ।

रोग में प्रयुक्त कराना चाहिये । मात्रा—६ रत्ती ॥ ७१ ॥

मण्डूरवटकाः

त्रिफला त्र्युषणं मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकौ ।

दार्वी त्वङ्गाक्षिको धातुर्ग्रन्थिको देवदारु च ॥ ७२ ॥

एतान् द्विपलिकान्भागान्चूर्णं कुर्यात्पृथक् पृथक् ।

मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम् ॥ ७३ ॥

गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा तस्मिंस्तत्प्रक्षिपेत्ततः ।

उदुम्बरसमान्कृत्वा वटकांस्तान्यथाग्नि ना ॥ ७४ ॥

उपयुञ्जीत तक्रेण जीर्णे सात्म्यं च भोजनम् ।

मण्डूरवटका ह्येते प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ॥ ७५ ॥

कुष्ठान्यजरकं शोथमूरुस्तम्भं कफामयान् ।

अर्शांसि कामलां मेहं स्त्रीहानं शमयन्ति च ॥ ७६ ॥

इति मण्डूरवटकाः ।

मण्डूरवटक—हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, मोथा, वायविडङ्ग, चव्य, चित्रक, दारुहल्दी की त्वचा, स्वर्णमाक्षिकभस्म, पिप्पलीमूल, देवदारु; प्रत्येक का चूर्ण पृथक् पृथक् २ पल मात्रा में लें । अब मिलित चूर्ण से दुगुने प्रमाण में गोमूत्र में शोधित अञ्जन के सदृश कुष्णवर्ण के मण्डूर को लेकर आठगुने गोमूत्र में पकावें । जब गाढा हो जाय और पाक समाप्त किया जाने वाला हो तब त्रिफला आदि के चूर्ण का प्रक्षेप देकर अच्छी प्रकार मिला दें । नीचे उतार कर उदुम्बर (गूलर) के प्रमाण के वटक बनावें । इन्हें अग्नि के अनुसार मात्रा में तक्र के अनुपान से रोगी सेवन करे । औषध के जीर्ण होने पर सात्म्य भोजन करना चाहिये । ये मण्डूरवटक पाण्डुरोगियों के लिये जीवनदाता हैं । इनके सेवन से कुष्ठ अजीर्ण शोथ ऊरुस्तम्भ कफ-रोग अर्श कामला प्रमेह और स्त्रीहान्ता शान्त होती है । गो-

मूत्र को मण्डूर से आठ गुना लेना चाहिये और व्यवहार भी इसीप्रकार है ।

चक्रपाणि ने अपने संग्रहग्रन्थ में इस योग के अन्त में कहा भी है—

‘निर्वाप्य बहुशो मूत्रे मण्डूरं ग्राह्यमिष्यते ।

ग्राह्यन्त्यष्टगुणितं मूत्रं मण्डूरचूर्णतः ॥’

वहां इस योग को व्यूषणाद्यमण्डूर नाम से कहा गया है ।

परन्तु वाग्भट और वृद्धवाग्भट में गोमूत्र को मण्डूरमिश्रित त्रिफला आदि के चूर्ण से आठगुना लेने को कहा गया है । यथा वाग्भट में—

‘ताप्यं दाढ्यास्त्वचश्चव्यं ग्रन्थिकं देवदारु च ।

व्योषादिनवकञ्चैव चूर्णयेद् द्विगुणं ततः ॥

मण्डूरञ्चाञ्जननिभं सर्वतोऽष्टगुणे पचेत् ।

पृथग्विपके गोमूत्रे वटकीकरणक्षमे ॥

प्रक्षिप्य वटकान् कुर्यात् तान् खादेत् तक्रभोजनः ॥’

अ० ह० पा० चि० ॥

वृद्धवाग्भट ने—

‘माक्षिकधातुचविकादारुदार्वातिवग्रन्थिकान् त्रिफलादीनि च नव विचूर्च्य चूर्णाद् द्विगुणं च सुशुद्धं पृथङ्मण्डूरं ततो गोमूत्रं सर्वतोऽष्टगुणं पक्त्वा तस्मिन्स्तत्क्षिपेत् । अनन्तरं च वटकान् कुर्यात् । ते तक्रानुपानमभ्यस्ताः परमौषधं पाण्डुवामयिनां शोफार्शः-कुष्ठकामलामेहप्लीहाढ्यवातकफार्तानां च ॥’

हमारी समझ में गोमूत्रशोधित मण्डूरचूर्ण लेने की अपेक्षा यदि उसी शोधित मण्डूर को ही गोमूत्र से भावनार्थ दे देकर भस्म कर लिया जाय तो अधिक अच्छा होगा । इस मण्डूरभस्म को गोमूत्र में पकावें और आसन्नपाक काल में प्रक्षेप

देकर वटक बनावें ।

उदुम्बर कर्षप्रमाण का वाचक है । इस योग की गूलर के समान वा १ कर्ष की मात्रा बहुत अधिक है । इसे तो आजकल तीन या चार रत्ती मात्रा में प्रयुक्त कराना चाहिये ।

त्रिफला आदि के चूर्ण के प्रमाण में बहुत होने से पाक समाप्त होने से थोड़ा काल पूर्व उनका प्रक्षेप डाला जाता है । परिभाषा निम्न है—

‘ प्रायो न पाकश्चूर्णानां भूरिचूर्णस्य तेन हि ।

आसन्नपाके प्रक्षेपः स्वल्पस्य पाकमागते ॥’

यदि चूर्ण का परिमाण अल्प हो तो सम्यक् पाक होजाने पर ही उसका प्रक्षेप दिया जाता है ॥ ७२-७६ ॥

ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमलाः पञ्चपलाः पृथक् ।

चित्रकत्रिफलाव्योषविडङ्गैः पालिकैः सह ॥ ७७ ॥

शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुनाऽऽप्लुताः ।

अभ्यस्यास्त्वक्षमात्रा हि जीर्णे नियमिताशिना ॥ ७८ ॥

कुलत्थकाकमाच्यादिकपोतपरिहारिणा ।

योगराज—स्वर्णमाक्षिकभस्म, विशुद्ध शिलाजीत, चांदी की मैल (व्यवहार रजतमाक्षिकभस्म से है), मण्डूरभस्म; प्रत्येक ५ पल, चित्रक, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग; प्रत्येक १ पल, खांड ८ पल; इन चूर्णों को एकत्र मिश्रित करें। इसे मधु में मिला १ कर्ष प्रमाण में प्रयोग करना चाहिये । औषध के जीर्ण होने पर नियमित भोजन करना चाहिये । इस औषध के प्रयोग में कुलत्थ मकोय आदि तथा कबूतर का मांस अपथ्य है । इसका नाम योगराज है ।

इसके आगे का योग भी ऐसा ही है । केवल मण्डूरभस्म के स्थान पर लोहभस्म का भेद है । ‘अथवा ताप्याद्रिजतुरूप्या-

योमलाः' के समस्तपद होने से रजतमाक्षिक भस्म न लेकर रजत भस्म का भी कोई ग्रहण कर सकता है । हमने तो अगले योग को देखकर रजतमाक्षिक का ग्रहण ही उपयुक्त समझा है । इस योगपाठ को किसी ने उद्धरण के रूप में यहां लिखा होगा और पीछे से प्रमादवश इसे इसी ग्रन्थ का भाग समझ लिया गया प्रतीत होता है । अष्टाङ्गसङ्ग्रह में भी यह योग है—

‘शिलाजतुताप्यरूप्यायोमलाः पृथक् पञ्चपलिकास्त्रिफलादयश्च विगतघनाः पलांशाः श्लक्ष्णरजसः सितोपलापलाष्टकयुक्ताः चौद्रद्रुता योगराजः । कुलत्थादियूषानशिना यथाग्न्यभ्यवहतः समानः पूर्वैर्ण यक्ष्मविषविषमज्वरकासश्वासापस्मारहरश्च ।’

इस योग की आधुनिक मात्रा ४ रत्ती जाननी चाहिये ॥

त्रिफलायास्त्रयो भागास्त्रयस्त्रिकटुकस्य च ॥ ७६ ॥

भागश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च ।

पञ्चाशमजतुनो भागास्तथा रूप्यमलस्य च ॥ ८० ॥

माक्षिकस्य च शुद्धस्य लौहस्य रजसस्तथा ।

अष्टौ भागाः सितायाश्च तत्सर्वं सूक्ष्मचूर्णितम् ॥ ८१ ॥

माक्षिकेणाप्लुतं स्थाप्यमायसे भाजने शुभे ।

उदुम्बरसमां मात्रां ततः खादेद्यथाग्निं ना ॥ ८२ ॥

दिने दिने प्रयुञ्जीत जीर्णे भोज्यं यथोप्सितम् ।

वर्जयित्वा कुलत्थानि काकमार्चीं कपोतकम् ॥ ८३ ॥

योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः ।

रसायनमिदं श्रेष्ठं सर्वरोगहरं शिवम् ॥ ८४ ॥

पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमज्वरम् ।

कुष्ठान्यजरकं मेहं शोषं श्वासमरोचकम् ॥ ८५ ॥

१ त्रिफलादयः विगतघना इति मुस्तेन विना नवायसोक्तानि त्रिफलादीनि द्रव्याणि । २ पूर्वैरेति मण्डूरवटकेन ।

विशेषाद्ग्रन्थपसारं कामलां गुदजानि च ।

इति योगराजः ।

योगराज—त्रिफला (मिलित) ३ भाग, त्रिकटु (मिलित) ३ भाग, चित्रकमूल १ भाग, वायविडङ्ग १ भाग, शुद्ध शिलाजीत ५ भाग, रजतमल (व्यवहार रजतमाक्षिक भस्म का है) ५ भाग, विशुद्ध स्वर्णमाक्षिक भस्म ५ भाग तथा लोहभस्म ५ भाग, खांड ८ भाग । सबके सूक्ष्मचूर्णों को उक्त प्रमाण में मिलावें ।

इस चूर्ण को मधु से युक्तकर स्वच्छ लोहपात्र में रखें । तदनन्तर कर्षप्रमाण मात्रा में रोगी अग्नि के अनुसार प्रतिदिन सेवन करे । औषध के पच जाने पर कुलत्थ, मकोय और कपोतमांस को छोड़कर अभीष्ट भोजन करे । इस योग को योगराज कहते हैं । यह अमृत के सदृश हितकर है, श्रेष्ठ रसायन है । सब रोगों को हरता है और कल्याणकारक है । यह योगराज पाण्डुरोग विष कास यक्ष्मा विषमज्वर कुष्ठ अजीर्ण प्रमेह शोष श्वास अरुचि अपस्मार कामला और अशों को विशेषतः नष्ट करता है । आधुनिक मात्रा—४ रत्ती ॥ ७६—८५ ॥

शिलाजतुवटकाः

कौटजत्रिफलानिम्बपटोलघननागरैः ॥ ८६ ॥

भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि वा ।

शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा ॥ ८७ ॥

त्वक्क्षीरी पिप्पली धात्री कर्कटाख्या पलोन्मिता ।

निदिग्ध्याः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या त्रिगन्धकम् ॥ ८८ ॥

चूर्णितं मधुनः कुर्याच्चिपलेनाक्षिकान् गुडान् ।

दाडिमांशुपयःपक्षिरसतोयसुरासवान् ॥ ८९ ॥

तान् भक्षयित्वाऽनु पिबेन्निरन्नो भुक्त एव वा ।

३१६

पाण्डुकुष्ठज्वरलीहतमकाशोभगन्दरान् ॥ ६० ॥

हृद्रोगशुक्रमूत्राग्निदोषशोथगरोदरान् ।

कासासृग्दरपित्तासृक्शोषगुल्मगलामयान् ॥ ६१ ॥

ते च सर्वव्रणान् हन्युः सर्वरोगहराः शिवाः ।

इति शिलाजतुवटकाः ।

शिलाजतुवटक—८ पल विशुद्ध शिलाजीत को इन्द्रजौ, त्रिफला (मिलित) नीम, पटोलपत्र, मोथा, सोंठ; इनके रसों से बीस वा तीस दिन भावनायें देकर उतनी ही (८ पल) श्वेत निर्मल खांड, वंशलोचन, पिप्पली, आंवला, काकड़ासिंगी; प्रत्येक का चूर्ण १ पल, छोटी कटेरी के फल और जड़ (मिलित) का चूर्ण १ पल और युक्तिपूर्वक त्रिगन्ध (तेजपत्र, दालचीनी, इलायची) का चूर्ण एवं ३ पल मधु मिलाकर एक एक कर्ष प्रमाण के वटक बनावें । खाली पेट अथवा भोजन के पश्चात् इन वटकों को खाकर ऊपर से अनार का रस, दूध, पक्षियों का मांसरस, जल, सुरा वा आसव; इनमें से किसी एक को आवश्यकतानुसार पीना चाहिये । ये पाण्डुरोग कुष्ठ ज्वर लीहा तमकश्वास अर्श भगन्दर हृद्रोग वीर्यदोष मूत्रदोष अग्निदोष शोथ गर (संयोगजविष) उदररोग कास रक्तप्रदर रक्तपित्त शोष गुल्म गले के रोग तथा सब व्रणों को नष्ट करते हैं । ये सर्वरोगनाशक एवं कल्याणकारक हैं ।

शिलाजीत को भावना रसायनाधिकार (चि० अ० १) में बताये गये (१७५६ पृष्ठ पर) विधान के अनुसार ही देनी चाहिये । युक्तिपूर्वक (युक्त्या) त्रिगन्ध का चूर्ण कहने का अभिप्राय यह है कि जितनी मात्रा में उनके मिश्रण से उचित गन्ध हो उतनी मात्रा में ही उन्हें मिश्रित करें । यह कार्य त्रिगन्ध के प्रत्येक

१ ' पृतिहृच्छुक्रमूत्राग्नि० ' पा० ।

द्रव्य को १ कर्ष प्रमाण में मिलाने से हो जायगा । जैसा कि
अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १८ में कहा है—

‘त्रिफलाकुटलजफलघनपटोलपिचुमन्दमहौषधकषायैर्मासमर्ध-
मासं वा भावितान्यष्टौ शिलाह्वयपलानि समसितान्युपकुल्यातुगाक्षीरी-
धात्रीफलकर्कटशृङ्गयः पलं त्रिजातकत्रिकर्षं च क्षौद्रत्रिपलयुक्तान्
वटकान् वर्तयेत् । ते दाडिमाम्बुक्षीररससलिलसुरासवान्यतमानुपाना
वज्राभिधाना वज्रमिवानन्तरोक्तान् रोगान् दारयन्ति । हृद्रोगगलरोग-
गरोदरासृग्दरभगन्दरगुल्मवर्ध्मशुक्रमूत्रदोषांश्च ॥’

यहां इनका नाम वज्रवटक कहा है । आधुनिक मात्रा—
६ रत्ती ॥ ८६—९१ ॥

पुनर्नवामण्डूरम्

पुनर्नवा त्रिवृद्धोषविडङ्गं दारु चित्रकम् ॥ ९२ ॥

कुष्ठं हरिद्रे त्रिफला दन्ती चव्यं कलिङ्गकाः ।

कडुका पिप्पलीमूलं मुस्तं चेति पलोन्मितम् ॥ ९३ ॥

मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाद्रोमूत्रे व्याढके पचेत् ।

कोलवद्गुडिकाः कृत्वा तक्रेणालोज्य ना पिबेत् ॥ ९४ ॥

ताः पाण्डुरोगान् स्नीहानमर्शांसि विषमज्वरम् ।

श्वयथुं ग्रहणीदोषं हन्युः कुष्ठं किमींस्तथा ॥ ९५ ॥

इति पुनर्नवामण्डूरम् ।

पुनर्नवामण्डूर—पुनर्नवा, त्रिवृत् (निसोत), सोंठ, काली
मिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, देवदारु, चित्रक, कुष्ठ, हल्दी, दारु-
हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, दन्तीमूल, चव्य, इन्द्रजौ, कडुकी,
पिप्पलीमूल, मोथा; प्रत्येक १ पल, गोमूत्रशोधितमण्डूर-भस्म
सम्पूर्ण चूर्ण से दुगुनी अर्थात् ४० पल लें । सब से पूर्व मण्डूरभस्म
को ४ आढक (२५६ पल) गोमूत्र में पकावे । जब पाकासन्न
काल हो तब पुनर्नवा आदि के चूर्ण का प्रक्षेप देकर अच्छीप्रकार

आलोडित कर कोल प्रमाण की गुड़िकायें बनालें । इन्हें रोगी तक्र में आलोडित करके पीवे । ये गुड़िकायें पाण्डुरोग सीहा अर्श विषमज्वर शोथ ग्रहणीदोष कुष्ठ तथा क्रिमियों को नष्ट करती हैं । आधुनिक मात्रा—३ रत्ती ।

चक्रपाणि ने अपने संग्रहग्रन्थ (चक्रदत्त) में इस योग का समावेश किया है, वहां इस योग का यह पाठ है—

‘ पुनर्नवा त्रिवृत् शुण्ठी पिप्पली मरिचानि च ।

विडङ्गं देवकाष्ठं च चित्रकं पुष्कराह्वयम् ॥

त्रिफला द्वे हरिद्रे च दन्ती च चविकं तथा ।

कुटजस्य फलं तिक्ता पिप्पलीमूलमुस्तकम् ॥

एतानि समभागानि मण्डूरं द्विगुणं ततः ।

गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा स्थापयेत्स्निग्धभाजने ॥

पाण्डुरोथोदरानाहशूलार्शः क्रिमिगुल्मनुत् ॥

इसमें गोमूत्र के प्रमाण में भिन्नता है अर्थात् इसके अनुसार ४० पल मण्डूर को ३२० पल गोमूत्र में पकाया जायगा । यह कुष्ठ के स्थान पर पुष्करमूल पड़ा है । गुणों में ये दोनों द्रव्य लगभग समान ही हैं । अतएव जहां जिस द्रव्य के अभाव में जिस द्रव्य का ग्रहण करना चाहिये इसकी व्यवस्था है वहां कुष्ठ के अभाव में पुष्करमूल और पुष्करमूल के अभाव में कुष्ठ के ग्रहण का विधान है ॥ ६२-६५ ॥

‘ दूर्वात्त्वक्त्रिफला व्योषं विडङ्गमयसो रजः ।

मधुसर्पिर्युतं लिह्यात्कामलापाण्डुरोगवान् ॥ ६६ ॥

दाव्यादिलेह—दारुहल्दी की छाल, हरड़, बहेड़ा, आंवला सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, लोहभस्म; इन्हें एक समभाग में मिश्रित कर मधु और घी के साथ कामला और

पाण्डु में रोगी चाटे । मात्रा—४ रत्ती ।

कई इस योग का नाम दार्व्यादिलोह रखते हैं । वे इस में लोह की प्रधानता समझते हैं । अतएव वे लोहभस्म को दारुहल्दी आदि के समस्त चूर्ण के समान परिमाण में लेते हैं । यथा लोह-सर्वस्व में—

‘ दार्वीवरान्योषविडङ्गकृष्णाः

समाः समं ताभिरयोरजश्च ।

चौद्राज्यलीढं विनिहन्ति सद्यः

सकामलं पाण्डुगदं नराणाम् ॥ ’

इसमें पिप्पली का एक भाग अधिक है शेष द्रव्य वे ही हैं जो प्रकृतग्रन्थ में हैं । यहां लोहसर्वस्व के कर्ता ने लोहभस्म को शेष मिलित चूर्णद्रव्यों के समान लेने को स्पष्ट कहा है । परन्तु प्रकृतग्रन्थ (चरकसंहिता) के कर्ता ने इसका नाम दार्वीलोह वा दार्व्यादिलोह नहीं रखा । अतः लोह का प्रधानतम होना उसे अभीष्ट नहीं । इसके साथ ही अगले कहे जाने वाले योग में आचार्य लोह-भस्म को १ भाग परिमित लेना स्वयं कहेंगे । उस योग के साह-चर्य के कारण भी इसमें १ भाग लोहभस्म ही मिलाना अभीष्ट है ॥ ६६ ॥

तुल्या अयोरजःपथ्याहरिद्राः चौद्रसर्पिषा ।

चूर्णिताः कामली लिङ्गाद्गुडचौद्रेण वाऽभयाः ॥ ६७ ॥

कामलानाशक दो योग—लोहभस्म, हरड़, हल्दी; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिश्रितकर मधु और घी के साथ कामला का रोगी चाटे (अयोरज आदि लेह) । मात्रा—३ रत्ती ।

अथवा केवल हरड़ के चूर्ण को गुड़ और मधु के साथ कामला का रोगी सेवन करे ॥ ६७ ॥

त्रिफला द्वे हरिद्रे च कटुरोहिण्ययोरजः ।

चूर्णितं चौरसर्पिभ्यां स लेहः कामलापहः ॥ ६८ ॥

त्रिफलाचलेह—हरड़, बहेड़ा, आंवला, हल्दी, दारुहल्दी, कटुकी, लोहभस्म इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिश्रितकर मधु और घी साथ चटावें । यह लेह कामला का नाशक है । मात्रा—४ रत्ती ॥ ६८ ॥

धात्र्यवलेहः

द्विपलांशां तुगाक्षीरिं नागरं मधुयष्टिकाम् ।

प्रास्थिकीं पिप्पलीं द्राक्षां शर्करार्धतुलां तथा ॥ ६९ ॥

धात्रीफलरसद्रोणे चूर्णितं लेहवत्पचेत् ।

शीतं मधुप्रस्थयुतं लिह्यात्पाणितलं ततः ॥ १०० ॥

हृन्त्येष कामलां पित्तं पाण्डुं कासं हलीमकम् ।

इति धात्र्यवलेहः ।

धात्र्यवलेह—वंशलोचन २ पल, सोंठ २ पल, मुलहठी २ पल, पिप्पली १ प्रस्थ (१६ पल), मुनक्का १ प्रस्थ, खांड आधी तुला (५० पल); इन्हें एकत्र मिश्रित कर २ द्रोण (५१२ पल) परिमित आंवले के रस में अवलेह के सदृश पकावे । जब यथावत् पाक हो जाय तब नीचे उतार ले । शीतल होने पर २ प्रस्थ (३२ पल) मधु मिलावे । इसे १ कर्ष प्रमाण में रोगी चाटे । यह कामला पित्तरोग पाण्डु कास तथा हलीमक को नष्ट करता है । आधुनिक मात्रा—२ तोले से आधे तोले तक ।

यहां पर प्रथम ५० पल खांड की यथाविधि चाशनी बनानी चाहिये । इस प्रकार खांड निर्मल हो जाती है । तदनन्तर इस चाशनी में आंवले का रस और शेष द्रव्यों का चूर्ण डालकर अव-

१ ' सुपिष्ट ' पा० । २ ' शीतान्मधुप्रस्थयुतात् ' ग. । ३ ' हलीमकं पाण्डुरोगं कामलाञ्चैव नाशयेत् । आत्रेयकीर्तितस्त्वेष धात्रीलेहः परः स्मृतः ' ग.

लेहवत् पाक करे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १८ में भी यह योग कहा है—

‘द्राक्षापिप्पलीप्रस्थद्वयं शर्करार्धतुलां तवक्षीरीनागरमधुकानि च द्विपलिकानि चूर्णयित्वा मलकरसद्रोणे प्रक्षिप्य मृद्वग्निना पचेत् । लेहीभूते शीते च तस्मिन्मधुप्रस्थमावपेत् । त्रिसुगन्धिकस्य कर्षत्रयं च चूर्णीकृत्य दर्व्या परिघट्य जातीपुष्पादिवासिते मृद्भाण्डे निदध्यात् । अयं द्राक्षालेह उपयुज्यमानः पाण्ड्वामयहृद्रोगकामलाहलीमकज्वरगुल्मोदरशोफोदावर्तादीनपरानपि विरेकसाध्यान् व्याधीन् प्रसह्य वायुरिवाभ्राण्यपहरति ।’

इसमें सुगन्धि के निमित्त त्रिजातचूर्ण (मिलित) को ३ कर्ष प्रमाण में मिलाने को तथा चमेली आदि के फूलों से अधिवासित मृत्पात्र में रखने को कहा है । शार्ङ्गधर द्वितीयखण्ड अष्टम अध्याय में अवलेह की सुपक्वता की पहिचान इसप्रकार कही है—

‘सुपक्वे तन्तुमत्त्वं स्यादवलेहोऽप्सु मज्जति ।

खरत्वं पीडिते मुद्रागन्धवर्णरसोद्भवः ॥’ ६६-१०० ॥

मण्डूरवटकाः

त्र्यूपणं त्रिफला चव्यं चित्रको देवदारु च ॥ १०१ ॥

विडङ्गान्यथ मुस्तं च वत्सकं चेति चूर्णयेत् ।

मण्डूरतुल्यं तच्चूर्णं गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत् ॥ १०२ ॥

शनैः सिद्धास्तथा शीताः कार्याः कर्षसमा गुडाः ।

यथाग्नि भक्षणीयास्ते लीहपाण्ड्वामयापहाः ॥ १०३ ॥

ग्रहण्यशोनुदश्चैव तक्रवाद्याशिनः स्मृताः ।

इति मण्डूरवटकाः ।

मण्डूरवटक—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा,

१ ‘चूर्णन्तु’ ग. ।

आंवला, चव्य, चित्रक, देवदारु, वायविडङ्ग, मोथा तथा इन्द्रजौ; इन्हें समपरिमाण में चूर्णित करलें । इस मिलित चूर्ण के समान गोमूत्रशोधितमण्डूरभस्म (१२ भाग) लें । इस मण्डूरभस्म को आठ गुणे (९६ भाग) गोमूत्र में शनैः शनैः पकावें । आसन्नपाक काल में सोंठ आदि के चूर्ण का प्रक्षेप देकर कड़छी से अच्छीप्रकार आलोडित कर दें । शीतल होने पर एक एक कर्ष के बटक बनावें । अग्नि के अनुसार रोगी इन्हें खावे । ये लीहा पाण्डुरोग ग्रहणी तथा अर्श के नाशक हैं । इसके सेवन के समय तक्र और वात्य (यवान्न) का सेवन पथ्य है । आधुनिक मात्रा—२ रत्ती से ४ रत्ती तक ।

चक्रपाणि ने पूर्वोक्त मण्डूरबटक का पाठ वहां न करके यहां किया है । इस योग को उसने नहीं पढ़ा ॥ १०१—१०३ ॥

गौडोऽरिष्टः

मञ्जिष्ठा रजनी द्राक्षा बलामूलान्ययोरजः ॥ १०४ ॥

लोध्रं चैतेषु गौडः स्यादरिष्टः पाण्डुरोगिणाम् ।

इति गौडोऽरिष्टः ।

गौड अरिष्ट—मञ्जिष्ठा, हल्दी, द्राक्षा (मुनक्का), बलामूल, लोहचूर्ण, लोध्र; इन मिलित द्रव्यों का गुड के संयोग से यथा विधि बनाया गया अरिष्ट पाण्डुरोगियों के लिये प्रशस्त है । मात्रा १। तोले से २॥ तोले तक ।

बीजकारिष्टः

बीजकात्पोडशपलं त्रिफलायाश्च विंशतिः ॥ १०५ ॥

द्राक्षायाः पञ्च, लाक्षायाः सप्त, द्रोणे जलस्य तत् ।

साध्यं पादावशेषे तु पूतशीते समावपेत् ॥ १०६ ॥

शर्करायास्तुलां, प्रस्थं माक्षिकस्य च, कार्ष्णिकम् ।

व्योषं व्याघ्रनखोशीरं क्रमुकं सैलवालुकम् ॥ १०७ ॥

मधूकं कुष्ठमित्येतच्चर्णितं घृतभाजने ।

यवेषु दशरात्रस्थं ग्रीष्मे, द्विः शिशिरे स्थितम् ॥ १०८ ॥

पिवेत्तद्ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःशोथगुल्मनुत् ।

मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहकामलासन्निपातजित् ॥ १०९ ॥

बीजकारिष्ट एवैष आत्रेयेण प्रकीर्तितः ।

इति बीजकारिष्टः ।

बीजकारिष्ट—बीजक (असन, विजयसार) की लकड़ी १६ पल,

त्रिफला (मिलित) २० पल, मुनक्का ५ पल, कच्ची लाख ७ पल; इन्हें

२ द्रोण (५१२ पल) जल में पकावें । जब चतुर्थांश (आधा द्रोण)

अवशिष्ट रह जाय तब उसे छान लें । शीतल होने पर १ तुला

(१०० पल) खांड और मधु २ प्रस्थ (३२ पल) घोल दें । पश्चात्

सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, व्याघ्रनखी, खस, क्रमुक (सुपारी

अथवा पट्टिका लोध्र), एलवालुक, मधूक, (महुए के फूल), कुष्ठ; प्रत्येक

के एक कर्ष चूर्ण का प्रक्षेप देकर घृतभावित मृत्पात्र में डाल मुख

रुद्ध कर दें । इसे ग्रीष्मऋतु में यवराशि में दस दिन तक दबा

कर रखे । शीत ऋतु में २० दिन रखना चाहिये । जब तय्यार

हो जाय तो छानकर बोतलों में बन्द कर दें । इसे मात्रा में रोगी

पीवे । यह ग्रहणी पाण्डुरोग अर्श शोथ गुल्म मूत्रकृच्छ्र अश्मरी

प्रमेह कामला तथा सन्निपात को जीतता है । इस अरिष्ट का

उपदेश आत्रेय ने किया है । मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक ।

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १८ में भी कहा है—

‘बीजकसारप्रस्थं, वरायाः पलानि पञ्चविंशतिः, पञ्च द्राक्षायाः,

बलायाः सप्त, जलद्रोणे पक्त्वा पादशेषं तेभ्यो रसमादाय पूतशीते-

ऽस्मिन् शर्करातुलां मधुप्रस्थं कर्षांशानि च चूर्णितानि व्योषव्याघ्रनखो-

शीरक्रमुकैलवालुककुष्ठमधुकानि निक्षिप्य घृतभाजने सर्वमैकध्वं

यवपल्ले ग्रीष्मे दशरात्रं विंशतिरात्रं शीते स्थापयेत् । अयं बीजक-

साराऱिष्टः पाण्डुकामलामेहहृद्रोगवातशोणितविषमज्वरारोचककास
श्वासान् निवर्हति ॥'

यहां त्रिफला के २० पल मान के स्थान पर २५ पल कहे हैं
शेष योग पूर्ववत् ही है ॥ १०५-१०६ ॥

धात्र्यरिष्टः

धात्रीफलसहस्रे द्वे पीडयित्वा रसं भिषक् ॥ ११० ॥

क्षौद्राष्टांशेन संयुक्तं कृष्णार्धकुडवेन च ।

शर्करार्धतुलोन्मिश्रं पक्षं स्निग्धघटे स्थितम् ॥ १११ ॥

प्रपिबेन्मात्रया प्रातर्जीर्णे मितहिताशनः ।

कामलापाण्डुहृद्रोगवातासृग्बिषमज्वरान् ॥ ११२ ॥

कासहिकारुचिश्वासांश्चैषोऽरिष्टः प्रणाशयेत् ।

इति धात्र्यरिष्टः

धात्र्यरिष्ट—२००० आंवलों को कूटकर निर्मल वख
पोटली में डाल रस निचोड़ लें । इसमें रस से अष्टमांश म
मिलावे । पिप्पलीचूर्ण २ पल तथा खांड आधी तुला (५० पल
घोलकर घृतभावित मिट्टी के पात्र में डालकर मुख बन्द कर दे
एक पक्ष तक इसीप्रकार सुरक्षित स्थान पर रखा रहने दे । आस
के तय्यार हो जाने पर रोगी मात्रा में पीवे । इस के पचजाने प
हितकर भोजन करना चाहिये । यह अरिष्ट कामला पाण्डु हृद्रो
वातरक्त विषमज्वर कास हिचकी अरुचि तथा श्वास को नष्ट कर
है । मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक ।

स्थिरादिभिः शृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते ॥ ११३ ॥

पाण्डूनां, कामलार्तानां मृद्रीकामलकीरसः ।

पाण्डुरोगियों के पेय द्रव तथा आहार में शालपर्णी आ
स्वल्पपञ्चमूल से साधित जल का प्रयोग करना चाहिये ।

कामला से पीडित पुरुषों के खाने पीने में अङ्गूर (अथ

मुक्ता) और आंवले के रस का प्रयोग होना चाहिये ॥ ११३ ॥

पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थमिति प्रोक्तं महर्षिणा ॥ ११४ ॥

विकल्प्यमेतद्विषजा पृथग्दोषबलं प्रति ।

पाण्डुरोग की शान्ति के लिये महर्षि ने जो कहा है वैद्य को चाहिये कि वह दोष के बल के अनुसार उनकी नानाप्रकार की कल्पना करके पृथक् २ प्रयोग करावे ॥ ११४ ॥

वातिके स्नेहभूयिष्ठं पैत्तिके तिक्तशीतलम् ॥ ११५ ॥

श्लैष्मिके कटुरूक्षोष्णं विमिश्रं सान्निपातिके ।

वातिक पाण्डुरोग में स्नेह (घृत आदि) बहुल पैत्तिक में तिक्त और शीतल, श्लैष्मिक पाण्डुरोग में कटु रुक्ष एवं उष्ण और सान्निपातिक में तीनों दोषों की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ११५ ॥

निपातयेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक् ॥ ११६ ॥

युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ।

शुद्धकायस्य सर्पांषि बलाधानानि योजयेत् ॥ ११७ ॥

मृत्तिकाभक्षण जनित पाण्डुरोग की चिकित्सा—युक्ति को जानने वाला चिकित्सक खाई हुई मिट्टी को रोगी के बलाबल के अनुसार तीक्ष्ण संशोधनों द्वारा उसके देह से निकाल दे ।

संशोधनों से देह के शुद्ध हो जाने पर बल देने वाले घृतों का प्रयोग करावे ॥ ११६—११७ ॥

व्योषाद्यं घृतम्

व्योषं बिल्वं हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे ।

मुस्तान्ययोरजः पाठा विडङ्गं देवदारु च ॥ ११८ ॥

शुशिकाली च भार्गी च सच्चरैस्तैः शृतं घृतम् ।

१ 'पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थमिदमुक्तं चिकित्सितम्' ग. । २ 'कटुतिक्तोष्णं' पा० । ३ 'मिश्रं स्यात्सान्निपातिके' ग. । ४ 'सच्चरैस्तैः समं घृतम्' पा० । 'सच्चरैस्तैः समं घृतम्' ग. ।

साधयित्वा पिबेद्युक्त्या नरो मृदोषपीडितः ॥ ११६ ॥

व्योषाद्यघृत—घी २ प्रस्थ (३२ पल) । कल्कार्थ—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, बेलगिरी, हल्दी, दारहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, मोथा, लोहभस्म, पाठा, वायविडङ्ग, देवदारु, वृश्चिकाली (बिछाटी), भारंगी; मिलित १ शराव (८ पल) । गव्यदुग्ध ८ प्रस्थ (१२८ पल) । युक्तिपूर्वक सिद्ध करके मिट्टी के दोष से पीडित पुरुष पीवे । मात्रा—आधा तोला ।

अरुणदत्त तथा इन्दु आदि दूध को घी के समान प्रमाण में लेने को कहते हैं, परन्तु—

‘द्रवान्तरानुक्तौ क्षीरमेव चतुर्गुणम् ।

द्रवान्तरेण योगे हि क्षीरं स्नेहसमं भवेत् ॥’

इस परिभाषा के अनुसार चतुर्गुण ही लेना चाहिये ।

तद्वत्केशरयष्ट्याह्वपिप्पलीक्षीरशाद्वलैः ।

इसीप्रकार नागकेशर, मुलहठी, पिप्पली, दूब; इनके चतुर्थांश मिलित कल्क से चतुर्गुण दूध द्वारा यथाविधि साधित घी को मात्रा में मिट्टी के दोष से पीडित रोगी पीवे । मात्रा—आधा तोला ।

मृद्भक्षणादातुस्स्य लौल्यादविनिवर्तिनः ॥ १२० ॥

द्वेषार्थं भावितां कामं दद्यात्तदोषनाशनैः ।

विडङ्गेनातिविषया निम्बपत्रेण पाठया ॥ १२१ ॥

वार्तिकैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्वयाऽपि वा ।

यदि रोगी लोभवश मिट्टी खाने की आदत को न छोड़े तो उस आदत को छुड़वाने के लिये मिट्टी के दोष को नष्ट करने वाले द्रव्यों से मिट्टी को यथेच्छ भावना देकर खाने को दे ।

मिट्टी के दोष को नष्ट करने वाले द्रव्य—वायविडङ्ग, अतीस, नीस के पत्ते, पाठा, बैंगन, कटुकी, इन्द्रजौ, मूर्वामूल; इन में से किसी एक के रस से मिट्टी को भावना देकर रोगी को खाने को दें ।

१ ‘पिप्पलीक्षीर०’ ग. । २ ‘विडङ्गेनातिविषया’ पा० ।

भावना से मिट्टी का रस तिक्त भी हो जायगा और मिट्टी के खाने से उत्पन्न दोष भी नष्ट होगा । जिससे मिट्टी के खाने में द्वेष होगा और रोगी क्रमशः स्वस्थ होजायगा ॥ १२०—१२१ ॥

यथादोषं प्रकुर्वीत भैषज्यं पाण्डुरोगिणाम् ॥ १२२ ॥

क्रियाविशेष एषोऽस्य मतो हेतुविशेषतः ।

दोषज पाण्डुरोगों में कही गई चिकित्सा के अनुसार मृद्वक्षणा से उत्पन्न पाण्डुरोग में भी वही चिकित्सा दोष के अनुसार करनी चाहिये । अर्थात् यदि कषायरस मिट्टी के भक्षण से पाण्डुरोग उत्पन्न हुआ हो तो वहां वात का कोप होने से वातज पाण्डु की चिकित्सा करनी होगी । ऊपर मिट्टी के भक्षण से उत्पन्न पाण्डुरोग में पित्त का कोप होने के कारण वहां पित्तज पाण्डु के सदृश चिकित्सा की जायगी । मधुर मृत्तिका के खाने से उत्पन्न हुए पाण्डु में कफकोप होने से वहां कफजपाण्डु—नाशक चिकित्सा होती है ।

हेतु (मृद्वक्षणा) की भिन्नता के कारण ही उपर्युक्त विशेष चिकित्सा की जाती है ॥ १२२ ॥

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली ॥ १२३ ॥

श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत्पित्तं कफहरैर्जयेत् ।

शाखाश्रित विशेष कामला की चिकित्सा—जो कामला का रोगी तिलकल्क के सदृश श्वेत वर्ण के मल का त्याग करता है वहां कफ द्वारा मार्ग को रुद्ध हुआ जानना चाहिये । पित्त के नाश के लिये वहां कफहरचिकित्सा होनी चाहिये । कफ के नाश से मार्ग के खुल जाने पर पित्त अपने मार्ग में स्वयं ही गति करता है । जिससे मल का वर्ण स्वाभाविक पीला हो जाता है ॥ १२३ ॥

रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामैर्वेगनिग्रहैः ॥ १२४ ॥

कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात्पित्तं क्षिपेद्वह्निः ।

१ ' तं कफपित्तहरैर्जयेत् ' ग. । २ ' क्षिपेद्वह्नी ' ग. ।

हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक्श्वेतवर्चास्तदा नरः ॥ १२५ ॥
 भवेत्साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च ।
 दौर्वल्याल्पाग्निपार्थार्तिहिकाश्वासारुचिज्वरैः ॥ १२६ ॥
 क्रमेणाल्पेऽनुषज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते ।

शाखाश्रित कामला का हेतु सम्प्राप्ति और लक्षण—रूक्ष
 शीतल गुरु तथा मधुर द्रव्यों के सेवन से, व्यायाम से तथा वेगों
 के रोकने के कारण कफ-मिश्रित वायु पित्त को अपने स्थान वा
 आशय से बाहिर फैंकता है तब पुरुष के नेत्र मूत्र और त्वचा
 का वर्ण तो हल्दी के सदृश और मल का वर्ण श्वेत होता है, पेट
 में आटोप (गुड़गुड़ ध्वनि) और विष्टम्भ होता है । हृदय भारी
 प्रतीत होता है ।

पित्त के शाखाओं (रक्त आदि धातु तथा त्वचा) में आश्रित होने
 के कारण उसकी कोष्ठ में अल्पता होजाती है । जिससे रोगी क्रमशः
 दुर्बलता, अग्निमान्द्य, पार्श्वशूल, हिचकी, श्वास, अरुचि एवं
 ज्वर से पीड़ित होता है ॥ १२४-१२६ ॥

वर्हितित्तिरिदक्षाणां रूक्षाम्लकटुकै रसैः ॥ १२७ ॥

शुष्कमूलककौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत् ।

पथ्य—मोर तीतर मुर्गा इनके रूक्ष (स्नेहरहित) अम्ल तथा
 कटु (कालीमिर्च आदि से युक्त) मांसरसों से अथवा सूखी मूली
 के यूष वा कुलथी के यूष के साथ रोगी को अन्न खिलावे । यूष
 भी रूक्ष अम्ल एवं कटु होने चाहियें ॥ १२७ ॥

मातुलुङ्गरसं चौद्रं पिप्पलीमरिचान्वितम् ॥ १२८ ॥

सनागरं पिवेत्पिचं तथाऽस्यैति स्वमाशयम् ।

मातुलुङ्ग (विजौरा) के रस में पिप्पली, कालीमिर्च और सोंठ का
 चूर्ण तथा मधु उचित मात्रा में मिलाकर रोगी पीवे । इसप्रकार पित्त

अपने आशय वा स्थान में आ जाता है ॥ १२८ ॥

भृशाम्लकटुतीक्ष्णोष्णलवणैश्चाप्युपक्रमः ॥ १२९ ॥

आपिचरोगाच्च कृतो वायोश्चाप्रशमाद् भवेत् ।

मल के पित्त से रंगे जाने पर्यन्त तथा वायु के शान्त होने तक अत्यन्त अम्ल कटु तीक्ष्ण उष्ण तथा लवण द्रव्यों से चिकित्सा करनी चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १८ में भी कहा है—

‘ भृशाम्लतीक्ष्णकटुकलवणोष्णं च शस्यते ।

सबीजपूरकरसं लिह्याद्वयोषं तथाशयम् ॥

स्वं पित्तमेति तेनास्य शकृदप्यनुरज्यते ।

वायुश्च प्रशमं याति सहाटोपाद्यपद्रवैः ॥’

चक्रपाणि तथा गंगाधर ने ‘ आपित्तरागाच्च ’ के स्थान पर ‘ आपित्तरोगाच्च ’ यह पाठ पढ़ा है । चक्रपाणि का यह अभिप्राय है कि जब तक कोष्ठमार्ग का मलपित्त नहीं बढ़ता तब तक अम्ल आदि द्रव्यों से रक्त तथा पित्त को बढ़ाना चाहिये । क्यों कि शाखाश्रित दोष को कोष्ठ में लाने का उपाय बताते ससय सूत्रस्थान २८ अ० में—

‘ वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात् ।

शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात् ॥’

अर्थात् यदि शाखाश्रित दोषों को बढ़ा दिया जाय तब भी वे कोष्ठ में आजाते हैं । उक्त अम्ल आदि उपक्रम से पित्त की वृद्धि के साथ साथ कफनाश (जिससे मार्ग खुल जाते हैं) तथा वायु का निग्रह होता है । अतएव ही पित्त शाखाओं का त्याग कर कोष्ठ में आजाता है । पित्त के कोष्ठ में आजाने की इस रोग में सामान्य पहिचान यही है कि मल का वर्ण स्वाभाविक पीले रंग का होजाय ।

१ ‘ भृशाम्लैः कटुरुक्षोष्णैः लवणैश्चाप्युपक्रमः ’ पा० । कटुतीक्ष्णैस्तु लवणैर्भूयोऽम्लैश्चाप्युपक्रमः’ पा० । २ ‘ आपित्तरोगाच्च ’ पा० ।

गंगाधर ने 'आपित्तरोगाच्च' की यह व्याख्या की है कि जब तक नेत्र मूत्र वा त्वचा का वर्ण पित्त के कारण पीला रहता है तब तक अम्ल आदि उपक्रम से चिकित्सा करे । नेत्र आदि का स्वाभाविक वर्ण होजाने पर इस उपक्रम का त्याग कर दिया जाता है । अन्ततः अभिप्राय सभी का एक है ॥ १२६ ॥

स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्तरञ्जिते ॥ १३० ॥

निवृत्तोपद्रवस्यास्य पूर्वः कामलिको विधिः ।

पित्त के अपने स्थान में आजाने पर और मल के पित्त द्वारा रंगे जाने पर जिस रोगी के उपद्रव हट चुके हैं उस की पूर्वोक्त (शोध्यः स्यान्मृदुभिस्तिकैः इत्यादि विधान द्वारा) कामला की चिकित्सा के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १३० ॥

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्भ्रितश्यावपीतकः ॥ १३१ ॥

बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः ।

स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः ॥ १३२ ॥

हलीमकं तदा तदा तस्य विद्यादनिलापित्ततः ।

हलीमक का स्वरूप—जब पाण्डुरोगी का वर्ण हरा श्याम और पीला सा होता है, बल एवं उत्साह की क्षीणता, तन्द्रा, अग्नि का मन्द होना, मृदु ज्वर (हलका हलका ज्वर), मैथुन में अशक्ति, अङ्गमर्द, श्वास, तृष्णा, अरुचि तथा भ्रम; ये लक्षण विद्यमान होते हैं, उसे हलीमक कहते हैं । यह बात और पित्त के कारण होता है । सुश्रुत उ० अ० ४४ में भी कहा है—

‘ज्वराङ्गमर्दभ्रमदाहतन्द्राक्षयान्वितो लाघर (व) कोऽलसाख्यः ।

तं वातपित्ताभिपरीतलिङ्गं हलीमकं केचिदुदाहरन्ति ॥’

गुह्यर्चास्वरसक्षीरसाधितं माहिषं घृतम् ॥ १३३ ॥

स पिवेच्चिवृतां स्निग्धो रसेनामलकस्य तु ।

विरिक्तो मधुरप्रायं भजेत्पित्तानिलापहम् ॥ १३४ ॥

हलीमक की चिकित्सा—भैंस के घी को गिलोय के रस और दूध से यथाविधि सिद्ध करके रोगी पीवे । इसमें घी से गिलोय का रस तिगुना और दूध घी के समान लिया जाता है । पार्थक्येन द्रव को चतुर्गुण लेना स्वीकार करते हुए गिलोय का रस घी से चौगुना और दूध को घी के समान लेना चाहिये । मात्रा—आधे तोले से १ तोले तक ।

इस घी के यथाविधि सेवन से स्नेहन हो जाने पर रोगी आंवले के रस से त्रिवृता (निसोत) के चूर्ण को पीवे । जब विरेचन यथावत् हो जाय तब मधुरप्राय एवं पित्तवातनाशक पथ्य का सेवन करना चाहिये ॥ १३३—१३४ ॥

द्राक्षांलेहं च पूर्वोक्तं सर्पिषि मधुराणि च ।

यापनान्क्षीरवस्तींश्च शीलयेत्सानुवासनान् ॥ १३५ ॥

रोगी को पूर्वोक्त द्राक्षांलेह (२५४८ पृष्ठ पर धात्र्यवलेह नाम से कथित), मधुरघृत (मधुर द्रव्यों से साधित घृत), यापना वस्तियां, क्षीरवस्तियां (दूध की वस्तियां), अनुवासन वस्तियां; इनका सेवन कराना चाहिये ॥ १३५ ॥

मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च पिवेद्युक्त्याऽत्रिवृद्धये ।

रोगी अंगूर वा मुनक्के से प्रस्तुत अरिष्टयोगों को अग्नि की वृद्धि के लिये युक्तिपूर्वक पीवे ॥

कासिकं चाभयालेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम् ॥ १३६ ॥

पयसा च प्रयुज्जीत यथादोषं यथाबलम् ।

कासरोगमें कहे जाने वाले अभयावलेह (अगस्त्यहरीतकी) और पिप्पली, मुलहठी तथा बलामूल; इनका दोष और बल के अनुसार दूध के साथ प्रयोग कराना चाहिये । पिप्पली आदि द्रव्यों को समपरिमाण में मिलाकर प्रयोग किया जाता है । अथवा वैद्य जैसा आवश्यक समझे उस परिमाण में मिलाकर प्रयोग करावे ॥ १३६ ॥

तत्र श्लोकौ ।

पाण्डोः पञ्चविधस्योक्तं हेतुलक्षणभेषजम् ।

कामला द्विविधा तेषां साध्यासाध्यत्वमेव च ॥ १३७ ॥

तेषां विकल्पो यश्चान्यो महाव्याधिर्हलीमकः ।

तस्य चोक्तं समासेन व्यञ्जनं सचिकित्सितम् ॥ १३८ ॥

इत्यभिवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने पाण्डुरोग-

चिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

पांचों प्रकार के पाण्डु का हेतु लक्षण और चिकित्सा, दो प्रकार की कामला, उन (पाण्डु और कामला) की साध्यासाध्यता, उनके अन्य भेद और महारोग हलीमक का संक्षेप से लक्षण और चिकित्सा इस अध्याय में कही गई है ॥ १३७-१३८ ॥

इति पाण्डुचिकित्सा ।

सप्तदशोऽध्यायः ।

अथातो हिकाश्वासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम हिका और श्वास की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—
ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

वेदलोकार्थतत्त्वज्ञमात्रेयमृषिमुचामम् ।

अपृच्छत्संशयं धीमानभिवेशः कृताञ्जलिः ॥ २ ॥

य इमे द्विविधाः प्रोक्तास्त्रिदोषास्त्रिप्रकोपणाः ।

रोगा नानात्मकास्तेषां कस्को भवति दुर्जयः ॥ ३ ॥

बुद्धिमान् अभिवेश ने हाथ जोड़कर वेदार्थ (वैदिक) और लोका (लौकिक) के तत्व को जानने वाले ऋषि-श्रेष्ठ आत्रेय से अपना संशय पूछा—भगवन् ! जो दो प्रकार के (निज और आगन्तु भेद से अथवा

१ ' रोगाणां विविधास्तेषां ' ग. ।

मृदुदारुण भेद से) वात पित्त कफ इन तीन दोषों से उत्पन्न होने वाले असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग प्रज्ञापराध और परिणाम इन तीन हेतुओं से प्रकुपित होने वाले नाना-स्वरूप रोग कहे हैं उन में से कौन कौन दुर्जय हैं—कष्ट से जीते जाते हैं ? ॥२-३॥

अग्निवेशस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा मतिमतां वरः ।

उवाच परमग्रीतः परमार्थविनिश्चयम् ॥ ४ ॥

कामं प्राणहरा रोगाः बहवो न तु ते तथा ।

यथा श्वासश्च हिका च प्राणानाशु निकृन्ततः ॥ ५ ॥

अग्निवेश के उस प्रश्न को सुनकर परम सन्तुष्ट बुद्धिमानों में श्रेष्ठ आत्रेय ने यह सत्यनिर्णय बताया कि यह बात सत्य है कि ऐसे रोग बहुत हैं जो प्राणों को हरते हैं परन्तु वे इतना शीघ्र मृत्यु का कारण नहीं होते जितना श्वास और हिका शीघ्र प्राणों का विच्छेद करते हैं ।

अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः ।

अन्ते संजायते हिका श्वासो वा तीव्रवेदनः ॥ ६ ॥

नानाप्रकार के अन्य रोगों से आक्रान्त प्राणी को भी अन्त-समय में तीव्रयन्त्रणादायक हिचकी अथवा श्वास हो जाया करता है ॥ ६ ॥

कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ ।

हृदयस्य रसादीनां धातूनां चोपशोषणौ ॥ ७ ॥

ये दोनों हिचकी और श्वास रोग कफ और वात से उत्पन्न होते हैं । परन्तु इन की उत्पत्ति पित्तस्थान से होती है । ये दोनों रोग हृदय के रस आदि धातुओं को सुखा डालते हैं ॥७॥

तस्मात्साधारणावेतौ मतौ समसुदुर्जयौ ।

मिथ्योपचरितौ क्रुद्धौ हत आशीविषाविव ॥ ८ ॥

अतएव ये दोनों समान हैं और एक से ही दुःसाध्य माने गये हैं ।

१ 'मम सुदुर्जयौ' ग. ।

जिसप्रकार क्रुद्ध हुआ सर्प प्राणी की मृत्यु का कारण होता है, वैसे ही ये दोनों रोग मिथ्या उपचार से (ठीक चिकित्सा न होने से) प्रवृद्ध हुए हुए मारक होते हैं ॥ ८ ॥

पृथक् पञ्चविधावेतौ निर्दिष्टौ रोगसंग्रहे ।

तयोः शृणु समुत्थानं लिङ्गं च सभिषग्जितम् ॥ ९ ॥

रोगसंग्रह (सूत्रस्थान १९ अध्याय में ५२७ पृष्ठ पर) प्रकरण में इन दोनों रोगों को पृथक् २ पांच प्रकार का कहा जा चुका है । इन दोनों रोगों का हेतु लिङ्ग और चिकित्सा सुन—॥९॥

रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात् ।

व्यायामाद् ग्राम्यधर्मध्वरूक्षान्नविषमाशनात् ॥ १० ॥

आमप्रदोषादानाहाद्रौक्ष्यादत्यपतर्पणात् ।

दौर्बल्यान्मर्मणो घाताद् द्वन्द्वाच्छुद्धयतियोगतः ॥ ११ ॥

अतीसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात् ।

रक्तपित्तादुदावर्ताद्विसृज्यलसकादपि ॥ १२ ॥

पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ ।

श्वासमार्ग में धूलि वा धूँ के प्रवेश से, वायु से, शीतल स्थान और शीतल जल के सेवन से, अतिव्यायाम से, मैथुन से, अत्यन्त मार्ग चलने से, रूखे अन्न के भोजन से, विषमाशन से, आमदोष से, आनाह से, रूक्षता से, अत्यन्त अपतर्पण से (अधिक उपवास आदि से), दुर्बलता से, मर्म (हृदय वा छाती) पर चोट से, द्वन्द्व से अर्थात् शीत उष्ण आदि विपरीत भावों के क्रमरहित सेवन से, वमन विरेचन आदि शोधनों से, अतीसार ज्वर के प्रतिश्याय उरःक्षत क्षय रक्तपित्त उदावर्त विसूची अलसक पाण्डुरोग प्रभृति रोगों से तथा विष से ये दोनों रोग प्रवृत्त होते हैं । अर्थात् इन कारणों से वायु का कोप होकर हिक्का

१ ' रोगावेतौ प्ररोहतः ' ग. ।

और श्वास होते हैं ॥ १०-१२ ॥

निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥ १३ ॥

पिष्टशालूकविष्टम्भिभिदाहिगुरुभोजनात् ।

जलजानूपपिशितदध्यामर्क्षीरसेवनात् ॥ १४ ॥

अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानां च सेवनात् ।

कण्ठोरसोः प्रतीघाताद्विबन्धैश्च पृथग्विधैः ॥ १५ ॥

सेम, उड़द, पिण्याक (तिलकल्क), तिलतैल; इनके सेवन से, पिष्ट (चावल का आटा वा पीठी), शालूक (जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि के कन्द), विष्टम्भी विदाही तथा गुरु द्रव्यों के भोजन से जलज (वारिशय) तथा आनूप देश के पशु-पक्षियों के मांस, दही तथा कच्चे दूध के सेवन से, अभिष्यन्दी द्रव्यों के भोजन से, कफकारक द्रव्यों के सेवन से, कण्ठ वा छाती पर चोट वा उनमें किसीप्रकार की रुकावट से अथवा नानाप्रकार की मल मूत्र वात आदि की विबद्धता वा रुकावटसे भी हिक्का और श्वास प्रवृत्त होते हैं । अर्थात् इन हेतुओं से कफकोप होकर ये दोनों रोग होते हैं ॥ १३—१५ ॥

मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति ।

उरःस्थः कफमुद्रूय हिक्काश्वासान्करोति सः ॥ १६ ॥

घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च ।

हिक्का और श्वास की सामान्य सम्प्राप्ति—धूलि धूँआ आदि वात-कोपक कारणोंसे अथवा सेम आदि के भोजन आदि हेतुओं से प्रवृद्ध कफ द्वारा मार्गरोध होने पर प्रवृद्ध वायु प्राणवाही स्रोतों में प्रविष्ट होकर कोप को प्राप्त होता है । छाती (फुफुस) में स्थित हुआ वह कफ को ऊपर की ओर कंपाकर (अपने स्थान से शिथिल करके) प्राणियों में घोर एवं प्राणघातक पांच २ प्रकार के हिचकी और श्वासों को उत्पन्न करता है ॥ १६ ॥

उभयोः पूर्वरूपाणि शृणु वक्ष्याम्यतः परम् ॥ १७ ॥

कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता ।

हिकानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥ १८ ॥

अब इसके पश्चात् दोनों के पूर्वरूपों को सुन—

हिककाओं के पूर्वरूप—कण्ठ और छाती में गुरुता, मुख के रस का कसैला होना, कुक्षि में आटोप (गुड़गुड़ ध्वनि वा भरा हुआ सा प्रतीत होना); ये हिककाओं के पूर्वरूप हैं । सुश्रुत उ० अ० ५० में ' अरति ' (किसी कार्य में मन का न लगना) यह लक्षण अधिक पड़ा है—

‘ मुखं कषायमरतिगौरवं कण्ठवक्षसोः ।

पूर्वरूपाणि हिकानामाटोपो जठरस्य च ॥’

आनाहः पार्श्वशूलं च पीडनं हृदयस्य च ।

प्राणस्य च विलोमत्वं श्वासानां पूर्वलक्षणम् ॥ १९ ॥

श्वासों के पूर्वरूप—आनाह, पार्श्वशूल, हृदय का पीडन अर्थात् हृदय में वेदना, प्राण (वायु) का विलोम (विपरीत गति) होना; ये श्वासों के पूर्वरूप हैं । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ५० में ' शङ्खभेद ' (शंखदेश में भेदनवत् पीड़ा) यह लक्षण अधिक पड़ा है । सुश्रुत उ० अ० ५० में ये पूर्वरूप कहे हैं—

‘ प्राग्रपं तस्य हृत्पीडा भक्तद्वेषोऽरतिः परा ।

आनाहः पार्श्वयोः शूलं वैरस्यं वदनस्य च ’ ॥ १९ ॥

प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः ।

हिकाः करोति संरुध्य,

हिका की विशिष्ट सम्प्राप्ति—कफयुक्त वायु प्राणवाही उदक

१ ' विलोमत्वमिति पर्याकुलत्वं ' चक्रः ।

बाही तथा अन्नवाही स्रोतों को रोककर हिक्काओं को उत्पन्न करता है ।

सुश्रुत उ० अ० ५० में हिक्का का स्वरूप बताया है—

‘मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्सिहान्त्राणिमुखादिवाक्षिपन् ।

स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यतस्ततस्तु हिक्केति भिषग्भिरुच्यते ॥’

अर्थात् वायु मानो यकृत् सीहा और आंतों को मुख से बाहर फेंकता हुआ बारबार शब्द सहित ऊपर को आती है । वह यतः शीघ्र प्राणों का नाश करता है (हिनस्ति) अतः उसे हिक्का कहा जाता है । अथवा हिक् ऐसा शब्द होने के कारण हिक्का कहते हैं (हिक् इति कृत्वा कायति शब्दायते) ।

तासां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥ २० ॥

उनके लिङ्गों को पृथक् २ सुनो—

महाहिक्का—

क्षीणमांसबलप्राणतेजसः सकफोऽनिलः ।

गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैर्घोषवतीं भृशम् ॥ २१ ॥

करोति सततं हिक्कामेकं द्वित्रिगुणां तथा ।

प्राणः स्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च ॥ २२ ॥

संज्ञां मुष्णाति गात्रस्य स्तम्भं संजनयत्यपि ।

मार्गं चैवान्नपानानां रुणद्धयपहतस्मृतेः ॥ २३ ॥

साश्रुविस्तृतनेत्रस्य स्तब्धशङ्खच्युतभ्रुवः ।

सक्तेजल्पप्रलापस्य निर्वृतिं नाधिगच्छतः ॥ २४ ॥

महामूला महावेगा महाशब्दा महाबला ।

महाहिक्केति सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता ॥ २५ ॥

इति महाहिक्का ।

१ ‘हिक्कां तथैकद्वित्रिसन्तताम्’ च. । २ ‘संसक्तवाक्प्रलापस्य’ च. ।
संसक्तवचनतया प्रलापो यस्य स संसक्तवाक्प्रलापः ’ चक्रः । ३ ‘महाशब्दा
महावेगा महातेजा महाबला ’ ग. ।

महाहिक्का के लक्षण—रोग आदि कारणों से जिस पुरुष के मांस बल प्राण तथा तेज क्षीण हो गये हैं उस पुरुष में कफ-युक्त वायु सहसा कण्ठ के ऊर्ध्वदेश (स्वरयन्त्र) को आक्रान्त करके अतिप्रबल घोषयुक्त हिचकी को निरन्तर उत्पन्न करता है । यह हिचकी किसी को एकवार में एक ही, किसी को एकवार में दो और किसी को एकवार में तीन होती हैं । एकवार में तीन से अधिक वार भी हो सकती हैं । वायु प्राणवाही उदकवाही तथा अन्नवाही स्रोतों हृदय आदि मर्मों तथा देह की ऊष्मा को अवरुद्ध करके संज्ञा (चेतना) का नाश कर देता है और गात्रस्तम्भ (देह में जड़ता) करता है । उस निःसंज्ञ पुरुष के नेत्र अश्रुपूर्ण, शङ्खदेश स्तब्ध, भौंहें स्थान से च्युत होती हैं । वह बोलते हुए अटकता है, प्रलाप (अस्पष्ट भाषण) करता है । रोगी किसी भी प्रकार शान्ति को नहीं पाता । महाहिक्का महामूल महावेगयुक्त महाशब्द-सहित तथा महाबलवान् होती है । महामूल से अभिप्राय अतिबलवान् तथा गम्भीर आश्रय वाले दोषोंसे उत्पन्न होने से है । यह महाहिक्का शीघ्र मनुष्यों के प्राणों को हर लेती है । सुश्रुत उ० अ० ५० में कहा है—

‘मर्माण्यापीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते ।

देहमायम्य वेगेन घोषयत्यति तृष्यति ॥’

महाहिकेति सा ज्ञेया सर्वगात्रप्रकम्पिणी ॥’

अष्टाङ्गसङ्ग्रह नि० अ० ५ में—

‘ध्वस्तभ्रशङ्खयुग्मस्य सास्रविप्लुतचक्षुषः ।

स्तम्भयन्ती तनुं वाचं स्मृतिं संज्ञां च मुष्णती ॥

रुन्धती मार्गमन्त्रस्य कुर्वती मर्मघट्टनम् ।

पृष्ठतो नमनं शोषं महाहिध्मा प्रवर्तते ॥

महामूला महाशब्दा महावेगा महाबला ॥’ २१-२५ ॥

गम्भीरा हिक्का—

हिकते यः प्रवृद्धस्तु कृशो दीनमना नरः ।

जर्जरेणोरसा कृच्छ्रं गम्भीरमनुनादयन् ॥ २६ ॥

संजृम्भन् संचिपंश्चैव तथाऽङ्गानि प्रसारयन् ।

पार्श्वं चोभे समायम्य कूजन् स्तम्भरुगदितः ॥ २७ ॥

नाभेः पक्काशयाद्वापि हिक्का चास्योपजायते ।

क्षोभयन्ती भृशं देहं नामयन्तीव ताम्यतः ॥ २८ ॥

रुणद्ध्युच्छ्वासमार्गं तु प्रणष्टवलचेतसः ।

गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता ॥ २९ ॥

इति गम्भीरा हिक्का ।

गम्भीरा हिक्का—जो अत्यन्त वृद्ध, कृश और दीन मन वाले पुरुष को मानो जर्जरित छाती (फेफड़ों) से, बड़े कष्ट से, गम्भीर प्रतिध्वनि के साथ, जम्भाई लेते हुए, अंगों को फैकते हुए वा संकुचित करते हुए तथा फैलाते हुए, दोनों पार्श्वों को श्वास के साथ खींचते हुए एवं अव्यक्त शब्द करते हुए हिक्का होती है वह गम्भीरा हिक्का कहाती है । रोगी स्तम्भ तथा पार्श्वशूल से पीड़ित होता है । नाभि वा पक्काशय से यह हिक्का उत्पन्न होती (उठती) है । यह देह को अत्यन्त क्षुब्ध करती है । हिक्का के समय देह नम जाता है । ग्लानि होती है । इसमें बल और चित्त (संज्ञा) नष्ट होकर उच्छ्वासमार्ग भी रुक जाता है । इसका नाम 'गम्भीरा हिक्का' है । यह प्राणान्त करने वाली है । सुश्रुत उ० अ० ५० में कहा है—

‘नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी ।

शुष्कौष्ठकण्ठजिह्वास्यश्वासपार्श्वरुजाकरी ॥

अनेकोपद्रवयुता गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥’

अष्टाङ्गसङ्ग्रह नि० अ० ५ में—

पक्काशयाद्वा नाभेर्वा पूर्ववद् (महाहिक्कावत्) या प्रवर्तते ।

३२२

तद्रूपा सा मुहुः कुर्यात् जृम्भामङ्गप्रसारणम् ॥

गम्भीरेणानुनादेन गम्भीरा,

॥ २६-२६ ॥

व्यपेता हिक्का—

व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे ।

आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम् ॥ ३० ॥

प्रलापवम्यतीसारतृष्णार्तस्य विचेतसः ।

जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः ॥ ३१ ॥

पर्याध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादसन्तता ।

सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी ॥ ३२ ॥

इति व्यपेता वा यमिका हिक्का ।

व्यपेता हिक्का—अशित पीत लीढ खादित चारों प्रकार के अन्नपान में जो हिक्का उत्पन्न होती है और जो आहार के पच जाने पर अधिक बलवती हो जाती है उसे व्यपेता हिक्का कहते हैं । जिसमें प्रलाप, कै, अतीसार, तृष्णा, चेतनानाश, जृम्भा (जम्भाई), नेत्रों का अश्रुपूर्ण होना, मुंह का सूखना, देह का नमना तथा उदर में अत्यन्त आध्मान होना; ये लक्षण होते हैं । जो जत्रु- (ग्रीवासन्धि) मूल से उठती है, जो निरन्तर प्रवृत्त नहीं रहती अर्थात् जिसका देर देर से वेग होता है उसे व्यपेता जानना चाहिये । यह हिक्का प्राणघातक होती है ।

इसे यमिका नाम से भी कहा जाता है ऐसा कईयों का मत है । यमिका नाम से उसके वेगों का यमल होना (एकवार में दो हिचकी होना) भी ज्ञात होता है । सुश्रुत उ० अ० ५० में इसका लक्षण इस प्रकार कहा है—

‘ चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का सम्प्रवर्तते ।

कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥’

१ ‘ असन्ततेति अनतिदीर्घा ’ चक्रः ।

‘व्यपेता’ का अर्थ परिणामवती है। यह भोजन के परिणाम के समय ही प्रवृद्ध होती है। वृद्धवाग्भट ने सुश्रुत (नि० अ०) और चरक दोनों के लक्षणों को एकत्र करके कहा है—

‘चिरेण यमलैर्वेगैराहारे या प्रवर्तते ।

परिणामोन्मुखे, वृद्धि परिणामे च गच्छति ॥

कम्पयन्ती शिरोग्रीवामाध्मातस्यातिवृध्यतः ।

प्रलापच्छर्द्यतीसारनेत्रविप्लुतिजृम्भिणः ॥

यमला वेगिनी हिध्मा परिणामवती च सा ’ ॥

वस्तुतः तो व्यपेता और यमिका एक नहीं हैं, इसका निर्णय आगे करेंगे ॥ ३०—३२ ॥

जुद्धिका—

जुद्धवातो यदा कोष्ठाद्व्यायामपरिघटितः ।

कण्ठं प्रपद्यते हिक्कां तदा जुद्धां करोति सः ॥ ३३ ॥

अतिदुःखा न सा नोरःशिरोमर्मप्रवाधिनी ।

न चोच्छ्वासान्नपानानां मार्गमावृत्य तिष्ठति ॥ ३४ ॥

वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम् ।

यतः प्रवर्तते पूर्वं तत एव निवर्तते ॥ ३५ ॥

हृदयं क्लेश कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता ।

मृद्वी सा जुद्धहिकेति नृणां साध्या प्रकीर्तिता ॥ ३६ ॥

इति जुद्धहिकका ।

जुद्धहिका—व्यायाम (श्रम) द्वारा प्रेरित जुद्धवात (स्वल्प-वात) जब कोष्ठ से कण्ठ में आता है तब वह जुद्ध हिका को उत्पन्न करता है। वह हिका अत्यन्त कष्टदायक नहीं होती, न छाती शिर मर्म (हृदय) में कोई बाधा पहुंचाती है और नाहीं आसमार्ग वा अन्नपान के मार्ग को आच्छादित करती है अर्थात् आसमार्ग और आहारमार्ग में किसीप्रकार के अवरोध को

उत्पन्न नहीं करती । आयास करने से यह बढ़ती है और आहार करते ही मृदु हो जाती है । यह जिस हेतु से (आयास) पूर्व प्रवृत्त होती है उसीसे ही निवृत्त हो जाती है । अर्थात् आयास से ही हिक्काजनक जुद्धवात का नाश हो जाता है । अतएव इस का वेग चिरकाल तक नहीं होता रहता । जुद्धहिक्का मृदु होती है और हृदय क्लोम (Pharynx) कण्ठ एवं तालु में आश्रित होती है । यह साध्य है । सुश्रुत उ० अ० ५० में कहा है—

‘विकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते ।

जुद्धिका नाम सा हिक्का जन्तुमूलात्प्रधाविता ॥’ ३३-३६ ॥

अन्नजा हिक्का—

सहसाऽत्यभ्यवहृतैः पानान्नैः पीडितोऽनिलः ।

ऊर्ध्वं प्रपद्यते कोष्ठान्मधैर्वाऽतिमदप्रदैः ॥ ३७ ॥

तथाऽतिरोषभाष्याध्वहास्यभारातिवर्तनैः ।

वायुः कोष्ठगतो धावन् पानभोज्यप्रपीडितः ॥ ३८ ॥

उरःस्रोतः समाविश्य कुर्याद्विक्कां ततोऽन्नजाम् ।

तथा शनैर्मन्दशब्दं क्षुवंश्चापि स हिक्कते ॥ ३९ ॥

न मर्मबाधाजननी नेन्द्रियाणां प्रवाधिनी ।

हिक्का पीते तथा भुक्ते शमं याति च साऽन्नजा ॥ ४० ॥

इति अन्नजा हिक्का ।

अन्नजा हिक्का—सहसा अन्नपान के अत्यधिक मात्रा में सेवन से अथवा अतिमत्तता को उत्पन्न करने वाली तीव्र मद्यों के पीने से पीडित हुआ वायु ऊर्ध्वदेश (छाती कण्ठ आदि) में पहुँच जाता है और हिक्का को उत्पन्न करता है ।

तथा अतिक्रोध, अतिभाषण, अत्यधिक मार्ग चलना, अति

१ ‘सहसैवातिसंभुक्तेः’ ग. । २ ‘कोष्ठं गतो’ ग. । ३ ‘प्रकरोत्यन्नजां’ हिक्कासुरःस्रोतःसमाश्रितः’ ग. । ४ ‘तथा शनैरसम्बन्धं’ पा० ।

माहार
पूर्व
यास
इस
होती
श्रित

हंसना तथा अत्यधिक भार उठाने के कारण कुपित कोष्ठगत वायु अन्नपान द्वारा पीड़ित होकर इतस्ततः गमन करता हुआ उरःस्रोत (छाती वा फुफुस तथा श्वासमार्ग) में प्रविष्ट होकर अन्नजाहिका को उत्पन्न करता है ।

६ ॥

रोगी को शनैः शनैः मन्दशब्द से हिचकियां आती हैं । इसमें हिचकी के साथ छींकें भी आती हैं । यह मर्म (हृदय आदि) में वा इन्द्रियों में किसी बाधा को उत्पन्न नहीं करती । उदर के खाली होने पर हिक्का शान्त होती है । यह अन्नजा कहाती है । अथवा जो उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त सात्म्य अन्नपान के सेवन से शान्त होती है वह अन्नजा कहाती है । यह व्याख्या का विकल्प वृद्धवाग्भट के वचन के अनुसार समझना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में कहा है—

‘मरुत्तत्र त्वरयाऽयुक्तिसेवितैः ।

रुक्षतीक्ष्णखरासात्म्यैरन्नपानैः प्रपीडितः ॥

करोति हिध्मामरुजां मन्दशब्दां क्षवानुगाम् ।

शमं सात्म्यान्नपानेन या प्रयाति च सान्नजा ॥’

सुश्रुत उ० अ० ५० में भी इसका लक्षण कहा है—

‘पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः ।

हिक्रयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥’

॥
का ।

सेवन
पीने
पहुँच
अति
यन्नजा

‘तथा शनैर्मन्दशब्द’ के स्थान पर ‘तथा शनैरसम्बन्ध’ ऐसा पाठ अधिकतया उपलब्ध होता है । इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं—एक तो यह कि रोगी शनैः तथा परस्पर सम्बन्धरहित (जो लगातार न हों) हिचकियां लेता है । तथा दूसरा यह कि (तथाऽशनैरसम्बन्ध) भोजनसम्बन्ध रूप हेतु के बिना भी रोगी को छींकों के साथ हिचकी होती है और यह हिक्का कुछ खा वा पी लेने पर शान्त हो जाती है ।

इस उक्त सम्पूर्ण वर्णन से यह ज्ञात हुआ कि अन्नजा हिक्का पानात्र द्वारा दोष (वायु) के अभिभव से तथा स्वकोपक कारणों से कुपित दोष (वायु) से उत्पन्न होती है ॥ ३७-४० ॥

अतिसञ्चितदोषस्य भक्नच्छेदकृशस्य च ।

व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥ ४१ ॥

आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम् ।

हिक्काओं की साध्यासाध्यता—जिस पुरुष में दोष (वायु वा आम) अति-संचित हो, जो आहार न करने के कारण (अनशन से) अत्यन्त कृश हो गया हो, तथा जिसका देह रोगों से क्षीण हो गया है, वृद्ध, अत्यधिक मैथुन करने वाला; इन्हें जो भी हिक्का होती है वह शीघ्र जीवन को नष्ट करती है ॥ ४१ ॥

यमिका च प्रलापार्तिटृष्णामोहसमन्विता ॥ ४२ ॥

प्रलाप तृष्णा तथा मोह से युक्त यमिका हिक्का भी शीघ्र प्राणघातक होती है। यमिका से व्यपेता हिक्का का कई ग्रहण करते हैं और कई यमिका से व्यपेता का ग्रहण नहीं करते। वे कहते हैं कि यदि व्यपेता से ही यमिका का तात्पर्य होता तो आचार्य यहां यमिका न पढ़कर व्यपेता ही पढ़ते क्योंकि पूर्व व्यपेता नाम से ही कहा है। अतः यमिका का अभिप्राय इतना ही है कि जिस भी हिक्का में इकट्ठे दो वेग होंगे उसे यमिका कहेंगे। अतः साध्यत्वेन उक्त जुद्धा और अन्नजा में भी यदि एकवार में दो हिचकी हों तो वे यमिका कहाँयगी और इसमें प्रलाप आदि लक्षण होने पर निर्बल पुरुष में असाध्य होंगी।

परन्तु प्राप्त छपी हुई चरकसंहिताओं में व्यपेता का लिङ्ग बताने के पश्चात् 'इति व्यपेता वा यमिका हिक्का' इस प्रकार कहा

१ 'सर्वाश्च सञ्चितामस्य स्थविरस्य व्यवायिनः । व्याधिभिः क्षीणदेहस्य भक्नच्छेदकृतस्य वा' । इति वृद्धवाग्भटोक्तेः सञ्चितदोषस्येति सञ्चितामस्येत्यर्थः ।

है। वृद्धवाग्भट ने भी व्यपेता और यमिका को एक ही माना है। अतएव संशय बढ़ गया है। परन्तु जतूकर्ण के वचन के अनुसार यमिका और व्यपेता पृथक् ही प्रतीत होती हैं। साध्या-साध्यता बताते हुए वहां कहा है—

‘आद्या दुःसाध्या, यमिका तृष्णामोहवतां सद्यः प्राणहन् गभीराव्यपेते च ।’

यहां यमिका और व्यपेता पृथक् कही हैं। जिस हिक्का में दो वेग इकट्ठे हों उसे यमिका कहा जाना चाहिये और व्यपेता को अपने उक्त लक्षणों से पहिचानना चाहिये। यदि आचार्य को यमिका और व्यपेता एकार्थक ही अभीष्ट होते तो व्यपेता के लक्षणों में यमल वेगों का होना भी लक्षण बताया जाता जो यमिका नाम होने में प्रधान है। महाहिक्का के लक्षणों में दो वेगों का इकट्ठा होना हो सकता है, परन्तु वह हिक्का निरन्तर शीघ्रता से होती है और यमिका के वेग देर २ से होते हैं। जो कि ‘चिरेण यमलैर्वेगैः’ इस सुश्रुतोक्त वचन से स्पष्ट है। सुश्रुत में व्यपेता का परिगणन नहीं किया। उसने यमल वेगों वाली हिक्का का पृथक् परिगणन कर दिया है। चरकसंहिता में व्यपेता के लिङ्गनिर्देश के अन्त में ‘इति व्यपेता वा यमिका हिक्का’ किसी ने अपने वा वृद्धवाग्भट के विचार के अनुसार पीछे से लिख दिया है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ४२ ॥

अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः ।

तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥ ४३ ॥

जो पुरुष क्षीण और दीन नहीं है, जिसकी धातुएं और इन्द्रियें स्थिर हैं उसे उत्पन्न यमिका हिक्का साध्य होती है। अन्यथा मारक होती है। अर्थात् यदि यमिका हिक्का से आक्रान्त पुरुष की धातुएं क्षीण न हों, बल और इन्द्रियशक्ति का नाश न हुआ

हो तो प्रलाप आदि लक्षण होते हुए भी यमिका साध्य होगी ।

हिक्काओं की साध्यासाध्यता के विषय में कइयों का यह विचार है कि महाहिक्का गम्भीरा और व्यपेता ये तीन तो स्वभावतः ही असाध्य हैं, इनमें चाहें सम्पूर्ण लक्षण न भी हों तो भी असाध्य होंगी । जुद्रा और अन्नजा में उक्त सम्पूर्ण लक्षण रहने पर भी वे साध्य ही होंगी । वृद्धवाग्भट का विचार यह है कि—

‘ तासु साधेयत् ।

आद्ये द्वे वर्जयेदन्त्ये सर्वलिङ्गान्तु वेगिनीम् ॥’

अर्थात् अन्नजा और जुद्रा साध्य हैं । महती और गम्भीरा असाध्य हैं । तथा वेगिनी में यदि सब लक्षण उपस्थित हों तो वह असाध्य है । उसने वेगिनी से यमला वा व्यपेता का ग्रहण किया है । वह दोनों को एक ही मानता है । दूसरों का यह विचार है कि महाहिक्का आदि भी कदाचित् साध्य हो सकती हैं । चरक ने जो असाध्यता कही है वह प्रायः करके जाननी चाहिये । यह विचार जतूकर्ण के उक्त वचन के आधार पर ही है ॥ ४३ ॥

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः ।

विष्वग्ग्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान्करोति सः ॥ ४४ ॥

श्वास की सम्प्राप्ति—जब कफानुगत वायु (श्वासमार्ग के) स्रोतों को रोकता है और स्वयं भी कफ से रुका हुआ होने के कारण अपने स्वाभाविक मार्ग में विचरण नहीं कर सकता और इतस्ततः सब ओर विचरण करता है तब उससे श्वासरोग उत्पन्न होते हैं । सुश्रुत उ० अ० ५१^म कहा है—

‘ यैरेव कारणैर्हिक्का बहुभिः सम्प्रवर्तते ।

तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम् ॥

विहाय प्रकृतिं वायुः प्राणोऽथ कफसंयुतः ।

श्वासयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तं श्वासं परिचक्षते ॥’

है। किसी कार्य में उसका चित्त नहीं लगता। मूर्च्छित एवं ग्लानियुक्त उस रोगी के ऊर्ध्वश्वास (श्वासत्याग) के प्रकुपित होने पर अधःश्वास (श्वासग्रहण) रुक जाता है, जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। सुश्रुत उ० अ० ५१ में—

‘मर्मस्वायम्यमानेषु श्वसन् मूढो मुहुश्च यः।

ऊर्ध्वप्रेक्षी हतरवस्तमूद्ध्वश्वासमादिशेत्’ ॥४८—५०॥

छिन्नश्वासः—

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः।

न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः ॥ ५१ ॥

आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो वस्तिदाहनिरोधवान्।

विमृताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्ताकलोचनः ॥ ५२ ॥

विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन् नरः।

छिन्नश्वासेन विच्छिन्नैः स शीघ्रं प्रजहात्यसन् ॥ ५३ ॥

इति छिन्नश्वासः।

छिन्नश्वास—इस श्वास से पीड़ित रोगी को अपना सारा बल लगाने पर रुक रुककर सांस आता है। अथवा सर्वथा ही सांस नहीं आता। वह अत्यन्त दुःखी होता है। उसे मर्मच्छेद (मर्म को काटना) के सदृश वेदना होती है (पार्श्वशूल होता है)। इसमें आनाह, स्वेद, मूर्च्छा, वस्ति में दाह, मूत्ररोध, नेत्रों का अश्रुपूर्ण होना, देह की अत्यन्त क्षीणता, श्वास लेते समय एक आंस का लाल होना, चेतनानाश, मुंह का सूखना, विवर्णता (वर्ण का विकृत होना) तथा प्रलाप; ये लक्षण होते हैं। छिन्नश्वास से छिन्न किया हुआ रोगी शीघ्र प्राणत्याग करता है। सुश्रुत उ० अ० ५१ में—

१ ‘दृश्यमानेन वस्तिना’ पा०। एतेन वातस्य पित्तानुबन्धो दर्शितः इति विजयरचितः। २ ‘विच्छिन्नः विमुक्तसन्धिबन्धः’ चक्रः। ‘विहृतः’ पा०।

‘आध्मातो दह्यमानेन वस्तिना सरुजं नरः ।

सर्वप्राणेन विच्छिन्नः श्वस्याच्छिन्नं तमादिशेत् ॥ ५१-५३ ॥

तमकश्वासः—

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।

ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥ ५४ ॥

करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा ।

अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥ ५५ ॥

प्रताम्यत्यतिवेगाच्च कासते सन्निरुध्यते ।

प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥ ५६ ॥

श्लेष्मण्यमुच्यमाने च भृशं भवति दुःखितः ।

तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ॥ ५७ ॥

तथाऽस्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्रोति भाषितुम् ।

न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥ ५८ ॥

पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः ।

आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥ ५९ ॥

उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान् ।

विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥ ६० ॥

मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्चाभिवर्धते ।

स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥ ६१ ॥

इति तमकश्वासः ।

तमकश्वास(दमा)—जब वायु प्रतिलोम (विपरीत) भावसे स्रोतों

में गमन करता है तब ग्रीवा और सिर को आक्रान्त कर कफको

उदीर्ण करके उससे रोका जाकर पीनस(प्रतिश्याय)को तथा घुर्घुरशब्द

को एवं प्राणपीडक(अथवा बल लगाकर आनेवाले)तीव्रवेगयुक्त श्वास

उत्पन्न करता है । श्वास के तीव्रवेग के कारण रोगी अत्यन्त खिन्न हो

जाता है, उसे अतिवेगसे खांसी होती है और कुछ देरके लिये श्वासरोध

१ ‘प्रताम्यति स वेगेन’ ग. ।

होता है अथवा कुछ देर के लिये रोगी निश्चेष्ट होजाता है, अथवा कफसे छाती रुक जाती है। यदि कफ न निकले तो रोगी अत्यन्त दुःखी होता है। उसी कफ के निकल जाने पर वह थोड़ी देर के लिये आराम अनुभव करता है। कण्ठोद्ध्वंस होता है—गला खराब होजाता है। रोगी बड़ी कठिनता से बोल सकता है। लेटने पर श्वासपीड़ित रोगी को निद्रा नहीं आती—उसे खांसी होने लगती है यतः वायु लेटे हुए रोगी के पार्श्वों को आक्रान्त कर लेती है। वह बैठा हुआ आसम अनुभव करता है। उसे उष्ण पदार्थों में अभिलाषा होती है। नेत्र फूले रहते हैं। मस्तक पर पसीना आजाता है। उसे अत्यन्त वेदना होती है। मुँह सूख जाता है। सांस बार बार धौंकनी की तरह चलता है।

आकाश के बादलों से आच्छन्न होने पर वृष्टि शीत और पुरोवात से तथा कफवर्द्धक आहारों से तमकश्वास बढ़ता है। यह तमकश्वास याप्य है अथवा यदि अभी नवीन ही हो—पुराना न हो तो साध्य होता है। सुश्रुत उ० अ० ५१ में कहा है—

‘तृट्स्वेदवमथुप्रायः कण्ठघुर्घुरिकान्वितः ।

विशेषाद्दुर्दिने ताम्येच्छ्वासः स्यात्तमको मतः ॥’

घोषेण महताविष्टः सकासः सकफो नरः ।

यः श्वासित्यबलोऽन्नद्विट् सुप्तस्तमकपीडितः ।

स शाम्यति कफे हीने स्वपतश्च विवर्द्धते ॥’ ५४-६१ ॥

प्रतमकसन्तमकौ—

ज्वरमूर्च्छांपरीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तम् ।

प्रतमक (तमक का भेद)—यदि तमकश्वास के लक्षणों के साथ साथ रोगी को ज्वर और मूर्च्छा भी हों तो उसे प्रतमक जानें। सुश्रुत

१. ‘दुर्दिने इति मेघाच्छन्नेऽहि इत्यर्थः ।

२ ज्वरेण मूर्च्छां ज्वरमूर्च्छेति जेज्जटः ।

उ० अ० ५१ में भी कहा है—

‘मूच्छ्राज्वराभिभूतस्य ज्ञेयः प्रतमकस्तु सः ।’

उदावर्तरोजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥ ६२ ॥

तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति ।

मज्जतस्तमसीवाऽस्य विद्यात्सन्तमकं तु तम् ॥ ६३ ॥

इति प्रतमकसन्तमकश्वासौ ।

सन्तमक (तमक का भेद)—उदावर्त, धूल का मुख नासा आदि द्वारा प्रवेश, अजीर्ण, देह की क्लिन्नता तथा वेगों के रोकने से जो श्वास उत्पन्न होता है जो तम (अन्धकार वा तमोगुण) से अत्यधिक बढ़ता है, शीत क्रियाओं से जो शीघ्र शान्त होता है, जिसमें रोगी अपने को अन्धकार में डूबता हुआ अनुभव करता है, उसे सन्तमक जानना चाहिये ।

‘अजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः’ का अर्थ करते हुए कई ‘अजीर्ण’ से आमाजीर्ण आदि ‘क्लिन्न’ से विष्टन्धाजीर्ण तथा ‘कायनिरोध’ से शरीर में वेगों का धारण—ऐसा अर्थ करते हैं। कई ‘क्लिन्नकाय’ से वृद्धपुरुष और ‘निरोध’ से वेगनिरोध अथवा जिन्हें योग का ठीक अभ्यास नहीं उनके द्वारा किये गये कुम्भक आदि प्राणायाम का अभिप्राय लेते हैं ।

प्रायशः टीकाकार प्रतमक और सन्तमक को एक ही मानते हैं । सुश्रुत ने सन्तमक नाम से कोई पृथक् श्वास नहीं पढ़ा, उसने केवल प्रतमक ही कहा है। वृद्धवाग्भट भी प्रतमक और सन्तमक को एक ही मानता प्रतीत होता है । उसने कहा है—

‘ज्वरमूच्छ्रायुतः शीतैः शाम्येत्प्रतमकस्तु सः ।’

‘ज्वरमूच्छ्रायुतः’ यह प्रकृतग्रन्थ में प्रतमक के लक्षणों में पढ़ा है और ‘शीतैः शाम्येत्’ यह सन्तमक के लक्षणों में । वृद्धवाग्भट ने दोनों को मिलाकर प्रतमक का लक्षण बताया है । टीका-

कार 'उदावर्त०' इत्यादि से प्रतमक के ही अन्य कारणों और लक्षणों का बताना स्वीकार करते हैं। कई 'उदावर्त०' इत्यादि द्वारा प्रतमक के उपद्रव बताये हैं—ऐसा कहते हैं, परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अन्त में 'विद्यात्सन्तमकं तु तम्' ऐसा कहा है जिससे सन्तमक का स्वरूप ही कहा गया है—ऐसा स्पष्ट है। अन्य उदावर्त आदि विशेष कारणों से उत्पन्न होने से और विशेष लक्षणों के होने के कारण प्रतमक का ही नाम सन्तमक हो जाता है—ऐसा मानते हैं।

'शीतैश्चाशु प्रशाम्यति' कहने से इसमें पित्त का सम्बन्ध भी स्वीकार किया जाता है। अथवा जैसे मद्यज विकार की शान्ति मद्यपान से होती है वैसे ही शीत से प्रवृद्ध होने वाले प्रतमक की भी उससमय के लिये शीत से शान्ति होजाती है—परन्तु यह समाधान हृदयग्राही नहीं ॥ ६२-६३ ॥

क्षुद्रश्वासः—

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रवात उदरियन् ।

क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रवाधकः ॥ ६४ ॥

हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे ।

न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥ ६५ ॥

नेन्द्रियाणां व्यथां नापि काञ्चिदापादयेद्रुजम् ।

इति क्षुद्रश्वासः ।

क्षुद्रश्वास—रूक्ष अन्नपान तथा आयास से उत्पन्न होने वाला क्षुद्रवात (अल्प निदान और लक्षण वाला) कोष्ठ में ऊर्ध्वगमन करता हुआ क्षुद्रश्वास को उत्पन्न करता है। यह महाश्वास आदि अन्य श्वासों के सदृश कष्टकर नहीं होता, देह को अधिक बाधा नहीं पहुंचाता। न वह देह का विनाशक होता है। न वह दूसरे श्वासों के सदृश कष्टसाध्य है। न वह अन्नपान की उचित गति

में रुकावट डालता है । न वह इन्द्रियों को पीड़ित करता है और नाही किसी अन्य रोग को उत्पन्न करता है । सुश्रुत उ० अ० ५१ में तो कहा है—

‘ किञ्चिदारभमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते ।
निषण्णस्यैति शान्तिं च स क्षुद्र इति संज्ञितः ॥’
अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ४ में—

‘ तत्रायासातिभोजनैः ।

प्रेरितः प्रेरयेत्क्षुद्रं स्वयं संशमनं मरुत् ’ ॥ ६४-६५ ॥

स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥ ६६ ॥

श्वासों की साध्यासाध्यता—क्षुद्रश्वास साध्य है तथा बली पुरुष में सारे श्वास (महाश्वास आदि) जब उनके लक्षण अव्याक्तावस्था में हों तब साध्य होते हैं । अर्थात् क्षुद्रश्वास के तो चाहे लक्षण अव्यक्त हों वा व्यक्त, वह तो चिकित्सा द्वारा साध्य है ही परन्तु यदि महाश्वास आदि की भी अव्यक्तावस्था में चिकित्सा होजाय तो वे भी साध्य होते हैं । लक्षणों के व्यक्त होने पर तो वे अत्यन्त दुःसाध्य वा असाध्य होजाते हैं । श्वासों की पूर्वरूपावस्था में ही चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये । सुश्रुत उ० अ० ५५ में कहा है—

‘ क्षुद्रः साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।

त्रयः श्वासा न सिद्धयन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥’ ६६ ॥

इति श्वासाः समुद्दिष्टा हिकाश्चैव स्वलक्षणैः ।

एषां प्राणहरा वर्ज्या घोरास्ते ह्याशुकारिणः ॥ ६७ ॥

ये श्वास और हिककाओं का अपने अपने लक्षणों द्वारा वर्णन कर दिया गया है ॥

इनमें से प्राणनाशक श्वास (महा, ऊर्ध्व और क्षिप्र) और हिककाओं (महती, गम्भीरा, व्यपेता) की चिकित्सा न

करती चाहिये—वे असाध्य घोर एवं शीघ्रकारी होते हैं ॥ ६७ ॥

भेषजैः साध्ययाप्यांस्तु क्षिप्रं भिषगुपाचरेत् ।

उपेक्षिता दहेयुर्हि शुष्कं कक्षमिवानलः ॥ ६८ ॥

वैद्य साध्य एवं याप्य श्वास और हिक्काओं की शीघ्र औषधों द्वारा चिकित्सा करे। यदि इनकी उपेक्षा की जाय तो शुष्कवृणसमूह को जैसे आग्नि जला देता है वैसे ही ये जला देते हैं ।

कारणस्थानमूलैक्यादेकमेव चिकित्सितम् ।

द्वयोरपि यथादृष्टमृषिभिस्तन्निबोधत ॥ ६९ ॥

हिक्का और श्वास दोनों के कारण स्थान (उद्भवस्थान) तथा मूल (दोष) के एक होने से चिकित्सा भी एक ही है । ऋषियों ने उस चिकित्सा को जैसा समझा है वा निर्दिष्ट किया है उसे तुम सुनो—॥ ६९ ॥

हिक्काश्वासादितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत् ।

आक्लं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसङ्करैः ॥ ७० ॥

तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते ।

खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता ॥ ७१ ॥

चिकित्सा—हिक्का और श्वास से पीड़ित व्यक्ति को लवण मिश्रित तैल का अभ्यङ्ग करके स्निग्ध नाडीस्वेद प्रस्तरस्वेद और सङ्करस्वेदों से (सूत्र १४ अ० में उक्त) उपचार करे । उन स्वेदों से ग्रथित (गांठदार वा जमा हुआ) कफ स्रोतों में विलीन हो जाता है । छिद्र वा स्रोतोमार्ग मृदु हो जाते हैं और तदनन्तर वात भी अनुलोम हो जाता है ।

विलीन होने से अभिप्राय उसके द्रव होने से है । द्रव होने से वह आराम से बाहिर निकाला जा सकता है । स्रोतों में लीन हुआ भी यह दोष विलीन होकर

१ ' स्निग्धमादौ ' पा० ।

३२४

जब फुफ्फुस में पहुंचता है तो वहां से सुगमता से बाहिर निकाला जा सकता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में कहा भी है—

‘ पूर्व स्वेदैरुपाचरेत् ।

स्निग्धैर्लेवणतैलाक्तं स्रोतःसु ग्रथितः कफः ॥

तैर्लीनोऽपि विलीनोऽस्य कोष्ठं प्राप्तः सुनिर्हरः ।

भवेत्स्वेषु मृदुत्वं च मारुते चानुलोमता ’ ॥ ७०—७१ ॥

यथाऽद्रिकुञ्जेष्वर्काशुतप्तं विष्यन्दते हिमम् ।

श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते तथा ॥ ७२ ॥

जैसे पर्वतके वृक्षों वा लताकुञ्जों पर जमी हुई बरफ (Snow) सूर्य की किरणों से तपायी जाकर पिघल कर बहजाती है वैसे ही देह में स्थिर (जमी हुई) कफ स्वेदों से तप्त होकर पिघल जाती और बह जाती है ॥ ७२ ॥

स्निग्धं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत्स्निग्धमोदनम् ।

मत्स्यानां शूकराणां वा रसैर्दध्युत्तरेण वा ॥ ७३ ॥

स्वेदन होजाने पर शीघ्र ही रोगी को मछली वा सूअर के मांसरसों से अथवा जिन व्यञ्जनों में दही प्रधान हो उनके साथ घृत आदि स्नेह से स्निग्ध ओदन (भात) खिलावे ॥ ७३ ॥

ततः श्लेष्मणि संवृद्धे वमनं पाययेत्तु तम् ।

पिप्पलीसैन्धवचौद्रयुक्तं वाताविरोधि यत् ॥ ७४ ॥

तदनन्तर कफ के बढ़ने पर रोगी को पिप्पली सेन्धानमक और मधु से युक्त वामक औषध जो वात की विरोधी न हो (वातवर्धक न हो) पिलावे । अर्थात् स्निग्ध भोजनों से कफ के वृद्ध वा उत्त्किष्ट होने पर वमन देना चाहिये । सिद्धिस्थान प्रथम अध्याय में कहा जायगा—

‘ श्लेष्मोत्तरश्छर्दयति ह्यदुःखम् ।’

अर्थात् जिसमें कफ प्रवृद्ध हो उसे कै सुगमता से हो जाती है ‘वाताविरोधि’ कहने से अभिप्राय रूक्ष आदि वातवर्धक द्रव्यों

१ ‘ दध्युत्तरं दधिसरः ’ चक्रः ।

निषेध से है । वृद्धवाग्भट ने कहा है कि विशेषतः उन्हें वमन कराना आवश्यक है जो कास कै हृद्ग्रह वा स्वरसाद से पीड़ित हों ।

‘दद्यात्ततोऽस्मै वमनं मृदु ।

विशेषात् कासवमथुहृद्ग्रहस्वरसादिने ॥

पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रयुक्तं वाताविरोधि यत् ॥’ अ० सं० चि० अ० ६ ।

निर्हते सुखमाप्नोति स कफे दुष्टविग्रहे ।

स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः ॥ ७५ ॥

वह रोगी दुष्ट कफ के निकल जाने पर आराम अनुभव करता है और स्रोतों के शुद्ध हो जाने से वायु भी बाधारहित होकर सञ्चरण करता है ॥ ७५ ॥

लीनश्चेदोषशेषः स्याद्भूमैस्तं निर्हरेद्बुधः ।

यदि कुछ दोष (कफ) फेफड़ों वा स्रोतों में लीन हुआ शेष हो तो बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वह धूमपान द्वारा उसे निकाले ।

हरिद्रां यवमैरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम् ॥ ७६ ॥

सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्तिं प्रकल्पयेत् ।

तां घृतांक्षां पिबेद्भूमं यवैर्वा घृतसंयुतैः ॥ ७७ ॥

हरिद्राद्यधूमवर्ति—हल्दी, जौ, एरण्ड की जड़, कच्ची लाख, मनसिल, देवदारु, हड़ताल, वालछड़; इन्हें पीसकर वर्ति बनावे । उस वर्ति को घी से चुपड़कर पश्चात् उसका धूमपान करे ।

सूत्रस्थान के मात्राशितीय (५ म अध्याय) में कहे गये विधान के अनुसार वर्ति बनानी चाहिये । धूमनेत्र का मान वहीं कहे गये वैरेचनिक वर्ति के नेत्र के समान (२४ अंगुल) अथवा कासरोग में कहे मान के अनुसार (१० अंगुल या ८ अंगुल) होना चाहिये ।

अथवा जौ को घृतमिश्रित करके दो सकोरों में बन्दकर (जिसमें

१ दुष्टः विग्रहो यस्य स दुष्ट विग्रहः कफविशेषणम् ग. ।

२ ‘ मांसीं सदेवदार्वलां ’ पा० ।

ऊपर के सकोरे में छिद्र हो) छिद्रमार्ग से उसका धूँआं पीना चाहिये । अथवा जौ को पीसकर यथाविधि वर्ति बनायें और घी से चुपड़ कर उसका धूमपान करें ॥ ७६-७७ ॥

मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं मल्लकसंपुटे ।

कृत्वा धूमं पिवेच्छृङ्गं वालं वा स्नायु वा गवाम् ॥ ७८ ॥

मोम राल और घी को एक सकोरे में डालकर दूसरे सच्छिद्र सकोरे को ऊपर उलटा रख दें । पश्चात् सन्धिवन्ध कर दें । रोगी उसके छिद्र से धूम पीवे । अथवा उस छिद्र में धूमपाननलिका जोड़कर रोगी धूम पीवे ।

इसीप्रकार गौ के सींग वाल वा स्नायु का धूमपान करना चाहिये ॥ ७८ ॥

श्योनाकवर्धमानानां नाडीं शुष्कां कुशस्य वा ।

पद्मकं गुग्गुलुं लौहं शल्लकीं वा घृतालुताम् ॥ ७९ ॥

अथवा श्योनाक (अरलू) वा एरण्ड की सूखी नाड़ी (खोखली डण्डी) को अथवा कुशा की सूखी नाड़ी (खोखली नली) को घी से चुपड़ कर उसका धूमपान करे ।

अथवा पद्माख, गुग्गुल, अगर, शल्लकी (सर्जभेद) की लकड़ी; इनमें से किसी एक को घृतयुक्त कर रोगी धूमपान करे । इनकी वर्ति बनाकर वा शरावसम्पुट में डालकर पूर्वोक्तविधान के अनुसार धूमपान कराया जाता है ॥ ७९ ॥

क्षतक्षीणातिसारासृक्पित्तदाहानुबन्धजान् ।

मधुरस्निग्धशीतार्धैर्हिक्काश्वासानुपाचरेत् ॥ ८० ॥

क्षतक्षीण अतिसार रक्तपित्त तथा दाह के अनुबन्ध से उत्पन्न होने वाली हिक्का और श्वासों की मधुर स्निग्ध

१ लोघ्रमित्यपपाठः ।

२ 'स्वरक्षीणा०' पा० ।

पीना
र घी

एवं शीत आदि पित्तहर वा बृंहण क्रियाओं से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८० ॥

न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः ।

क्षीणधातुबला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः ॥ ८१ ॥

॥

दूसरे
बन्ध
द्र में

अस्वेद्य—पित्त और दाह से पीड़ित, जिसे अत्यन्त रक्त-
साव हो, जिसे बहुत पसीना आता हो, जिसकी धातुएं क्षीण हों,
निर्बल, रूक्षदेह, गर्भिणी तथा पित्तप्रकृति पुरुषों को स्वेदन नहीं
कराना चाहिये ॥ ८१ ॥

करना

कोष्णैः काममुरःकण्ठं स्नेहसेकैः सशर्करैः ।

उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदयेन्मृदुभिः क्षणम् ॥ ८२ ॥

वली
घी

यदि इन्हें स्वेदन कराना आवश्यक हो तो कोसे स्नेहों के
परिषेक से अथवा शर्करा (खांड) युक्त मृदु कोसी उत्कारिका वा
उपनाहों से छाती और कण्ठ पर क्षणभर अर्थात् थोड़ी
सी देर स्वेदन करें ।

की
करे ।
धान

उपनाहस्वेद का वर्णन सूत्रस्थान १४ अध्याय में हो चुका है

तिलोममाषगोधूमचूर्णैर्वातहरैः सह ।

स्नेहैश्चोत्कारिका साम्लैः सर्चारैर्वा कृता हिता ॥ ८३ ॥

उत्कारिका—तिलचूर्ण, अलसीचूर्ण, उड़दका आटा, गेहूं का
आटा; इन्हें वातहर तिलतैल आदि स्नेहों तथा कांजी आदि अम्ल
द्रवों के साथ उत्कारिका बनाकर स्वेदन कराना चाहिये। अथवा कांजी
आदि अम्ल के स्थान पर दूध से भी उत्कारिका बना सकते हैं ।

से
ग्रन्थ

यदि 'वातहरैः' को स्नेहैः का विशेषण न मानना हो तो वातहर
परण्डमूल आदि का ग्रहण होगा । कई लप्सी के सदृश पदार्थ को और
कई मूषिकाकृति भक्ष्य को उत्कारिका कहते हैं। परन्तु स्वेद के लिये इसे
लप्सीसदृश वा हलवे के सदृश बनाना ही अच्छा होगा । उत्का-
रिका रोटी को भी कहते हैं । तिल आदि के चूर्ण को कांजी

आदि अम्ल वा दूध से गूंध कर रोंटी भी बना सकते हैं । इसे तैल आदि स्नेह से चुपड़ कर कण्ठ वा छाती पर गरम ही बांधा जाता है ॥ ८३ ॥

नवज्वरामदोषेषु रुक्षस्वेदं विलङ्घनम् ।

समीक्ष्योल्लेखनं वापि कारयेद्ववणाम्बुना ॥ ८४ ॥

नवज्वर और आमदोषों में रोगी के बल दोष आदि का विचार करके रुक्षस्वेद, लङ्घन (उपवास आदि) की व्यवस्था करें अथवा जल में सैन्धवनमक को घोल कर रोगी को वमनार्थ पिलावें ॥ ८४ ॥

अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा वातहरैर्भिषक् ।

रसाद्यैर्नातिशीतोष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत् ॥ ८५ ॥

यदि वमन आदि संशोधन के अतियोग से वात प्रबल हो जाय तो चिकित्सक को चाहिये कि वह वातनाशक मांसरस आदियों के भोजन द्वारा तथा जो बहुत शीत और बहुत उष्ण न हों ऐसे वातनाशक अभ्यङ्गों द्वारा वायु को शान्त करे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में इसप्रकार पढ़ा है—

‘ अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा पवननाशनैः ।

स्निग्धै रसाद्यैर्नात्युष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत् ’ ॥ ८५ ॥

उदावर्ते तथाऽऽध्माने मातुलुङ्गाम्लवेतसैः ।

हिङ्गुपीलुविडैश्चान्नं युक्तं स्यादनुलोमनम् ॥ ८६ ॥

उदावर्त और आध्मान होने पर रोगी को मातुलुङ्ग (बिजौरा), अम्लवेतस हर्षि पीलु तथा विडनमक से युक्त अन्न वायु के अनुलोमन के लिये खाने को देना चाहिये ॥ ८६ ॥

हिक्कारवासामयी ह्येको बलवान् दुर्बलोऽपरः ।

कफाधिकस्तथैवैको रुक्षो बह्वनिलोऽपरः ॥ ८७ ॥

हिक्का वा श्वास का रोगी एक ऐसा हो सकता है जो बलवान् हो

और दूसरा दुर्बल । एक वह हो सकता है जिसमें कफ अधिक हो और दूसरा वह जिसका देह रूक्ष हो और वायु अधिक हो ॥ ८७ ॥

कफाधिके बलस्थे च वमनं सविरेचनम् ।

कुर्यात्पथ्याशिने धूमलेहादिशमनं ततः ॥ ८८ ॥

इनमें से जिसमें कफ अधिक हो और जो बलवान् हो उस पथ्यसेवी रोगी को पूर्व वमन और विरेचन कराकर धूम लेह आदि स्वास वा हिक्का के शान्त करने वाली औषध देनी चाहिये ॥ ८८ ॥

वातिकान्दुर्बलान्बालान्बृद्धांश्चानिलसूदनैः ।

तर्पयेदेव शमनैः स्नेहयूषरसादिभिः ॥ ८९ ॥

वातिक, दुर्बल, बालक वा वृद्ध पुरुष का वातनाशक तथा स्वास वा हिक्का के संशमन करने वाले स्नेह यूष एवं मांसरस आदियों से तर्पण ही करना चाहिये ॥ ८९ ॥

अनुत्क्रिष्टकफास्विन्नदुर्बलानां विशोधनात् ।

वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून् ॥ ९० ॥

जिनमें कफ का उत्क्लेश नहीं, जिन्हें स्वेदन नहीं कराया गया तथा बलहीन पुरुषों को शोधन कराने से उन्हें अवसर पाकर वायु आक्रान्त कर लेता है और वह मर्म (हृदय वा फुफुस) को सुखा कर शीघ्र ही प्राणों को हर लेता है ॥ ९० ॥

दृढान् बहुकफांस्तस्माद्रसैरानूपवारिजैः ।

तृप्तान्विशोधयेत्स्विन्नान् बृंहयेदितरान् भिषक् ॥ ९१ ॥

अतः वैद्य को चाहिये कि दृढ़शरीर, कफाधिक, आनूप देश के एवं जल में उत्पन्न होने वाले पशुपक्षियों के मांस-रसों से तृप्त (कफ के उत्क्लेश के लिये) तथा जिन्हें स्वेदन कराया गया है उन पुरुषों का शोधन करावे । निर्बल एवं वाताधिक पुरुष का बृंहण ही करना चाहिये ।

बहिर्हित्तिरिदं च जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः ।

दशमूलीरसे सिद्धाः कौलत्थे वा रसे हिताः ॥ ६२ ॥

निर्बल एवं वाताधिक पुरुष के बृंहण और रोगशान्ति के लिये मोर तीतर मुर्गा तथा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरसों को दशमूल के काथ वा कुलथी के काथ में सिद्ध कर पिलाना चाहिये ॥ ६२ ॥

निदिग्धिकां बिल्वमध्यं कर्कटाख्यां दुरालभाम् ।

त्रिकण्टकं गुडूचीं च कुलत्थांश्च सचित्रकान् ॥ ६३ ॥

जले पक्त्वा रसः पूतः पिप्पलीघृतभर्जितः ।

सनागरः सलवणः स्याद्यषो भोजने हितः ॥ ६४ ॥

निदिग्धिकाद्य यूष—छोटी कटेरी, बेलगिरी, काकड़ासिंगी, दुरालभा, गोखरू, गिलोय, कुलथी तथा चित्रक; इन्हें जल में कथित कर छान लें । इसे पिप्पलीचूर्ण और घी में छौंक लें । इस में सोंठ का चूर्ण और सेन्धानमक उचित मात्रा में डालें । यह यूष भोजन में हितकर है ।

यद्यपि इस योग में छोटी कटेरी आदि के सदृश ही कुलथी को पढ़ा है परन्तु यूष में उसे प्रधान जानना चाहिये । अतएव छोटी कटेरी आदिद्रव्य यदि १ कर्ष हों तो जल २ प्रस्थ (३२ पल) डाला जायगा । जब कथित होकर १ प्रस्थ रह जाय तब उससे अठारहवां भाग कुलथी डालकर यथाविधि यूष तय्यार करें ॥ ६३-६४ ॥

रास्नां बलां पञ्चमूलं ह्रस्वं मुद्गान् सचित्रकान् ।

पक्त्वाऽम्भसि रसे तस्मिन् यूषः साध्यश्च पूर्ववत् ॥ ६५ ॥

रास्नादियूष—रास्ना, बलामूल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू, मूंग, चित्रक; इन्हें जल में कथित कर उस रस में पूर्ववत् यूष को सिद्ध करे । मूंग के अतिरिक्त रास्ना आदि द्रव्यों का पूर्वोक्त विधान के अनुसार काथ करें । इस काथ में

मूंग को डाल पूर्ववत् (पिप्पलीचूर्ण और घृत में भर्जित कर)
यूष तय्यार करना चाहिये ॥ ६५ ॥

पल्लवान्मातुलुङ्गस्य निम्बस्य कुलकस्य च ।

पक्त्वा मुद्गारं च सव्योषान्चारयूषान्विपाचयेत् ॥ ६६ ॥

मातुलुङ्ग के पत्ते, नीम के पत्ते, पटोलपत्र; इनके पूर्ववत्
कथित जलों में मूंग का यूष यथाविधि सिद्ध करे । पश्चात् त्रिकटु
चूर्ण और यवचार वा अपामार्गचार आदि चार (जो हिक्का
श्वास के लिये योग्य हों) उचित मात्रा में अवचूर्णित कर रोगी
को प्रयोग कराये ॥ ६६ ॥

दत्त्वा सलवणं चारं शिग्रणि मरिचानि च ।

युक्त्या संसाधितो यूषो हिक्काश्वासविकारनुत् ॥ ६७ ॥

सेन्धानमक, यवचार, सहिजन के बीज वा जड़, कालीमिर्च;
इनके प्रक्षेप से युक्त विधिपूर्वक साधित मूंग आदि का यूष
हिक्का और श्वास को नष्ट करता है ॥ ६७ ॥

कासमर्दकपत्राणां यूषः शोभाञ्जनस्य च ।

शुष्कमूलकयूषश्च हिक्काश्वासनिवारणः ॥ ६८ ॥

कसौंदी के पत्तों का यूष, सहिजन की जड़ का यूष अथवा
सूखीमूली का यूष हिक्का और श्वास को हटाता है । ये यूष या
तो उन्हीं एक २ द्रव्यों से तय्यार करने चाहियें अथवा पूर्ववत् इनका
रस सिद्धकर उनमें मूंग आदि को यूषविधानसे पकाना चाहिये ॥ ६८ ॥

सदधिव्योषसर्पिष्को यूषो वार्ताकजो हितः ।

शालिषष्टिकगोधूमयवान्नान्यनवानि च ॥ ६९ ॥

वैंगन का यूष—जिसमें दही त्रिकटु चूर्ण और घृत डाला
हो हिक्का और श्वास के रोगियों के लिये हितकर होता है ।

पुराने शालिचावल सांठी के चावल गेहूं तथा जौ का अन्न हितकर है ॥ ९९ ॥

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीविडपौष्करचित्रकैः ।

सिद्धा कर्कटशृङ्गचा च यवागूः श्वासहिकिनाम् ॥ १०० ॥

हिङ्गवादियवागू—हींग, सौंचल नमक, जीरा, विडनमक, पुष्कर-मूल, चित्रक, काकड़ासिङ्गी; इनसे यथाविधि साधित यवागू श्वास और हिक्का के रोगियों को खिलानी चाहिये ।

गङ्गाधर इसे दो योग स्वीकार करता है । एक तो चित्रक-पर्यन्त और दूसरा काकड़ासिङ्गी से ॥ १०० ॥

दशमूलीशटीरास्नापिप्पलीविल्वपौष्करैः ।

शृङ्गीतामलकीभार्गीगुडूचीनागरद्विभिः ॥ १०१ ॥

यवागूं विधिना सिद्धां कषायं वा पिबेन्नरः ।

कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिहिक्काश्वासप्रशान्तये ॥ १०२ ॥

दशमूल्यादियवागू—विल्व की छाल, श्योनाक की छाल, गाम्भारी की छाल, अरणी की छाल, पाटला की छाल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, शटी (कचूर), रास्ना, पिप्पली, विल्व की छाल, पुष्करमूल, काकड़ासिङ्गी, भुई आंवला, भारंगी, गिलोय, सोंठ, ऋद्धि; इनसे यथाविधि साधित यवागू अथवा केवल इनके काथ को ही रोगी पीवे । काथार्थ मिलित द्रव्य २ तोला परिमाण में लेकर सोलहगुने जल में कथित कर अष्टमांश अवशिष्ट रहने पर उतार लेना चाहिये और छानकर रोगी को पिलाना चाहिये ।

यवागूसाधनार्थ काथ को सामान्यतः षडङ्गपरिभाषा के अनु-सार सिद्ध किया जाता है । पुराने शालि तथा पष्टिक आदि पूर्वोक्त द्रव्यों से यवागू का साधन करना

१ 'सर्कटद्वयैः सिद्धा' पा० ।

चाहिये । यवागू आदि के लिये निम्नोक्त परिभाषा प्रायशः प्रचरित है—

‘ षडङ्गपरिभाषैव प्रायः पेयादिसम्भता ।

यवागूसुचिताद्भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत् ॥

सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता ।

यवागूर्बहुसिक्था स्याद्विलेपी विरलद्रवा ॥

अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी तु चतुर्गुणे ।

मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि ॥’

इस दशमूल्यादियवागू का प्रयोग कास हृद्ग्रह (हृदय में वेदना) पार्श्वशूल हिक्का और श्वास की शान्ति के लिये किया जाता है ।

काथसाधनार्थ हमने जो अभी कहा है वह प्रधान औषध के रूप से है परन्तु यदि सामान्यतः पीने के लिये प्रयुक्त करना हो तो षडङ्ग-विधान के अनुसार अर्धशृत करके प्रयोग करना चाहिये । अर्थात् १ कर्ष द्रव्य लेकर २ प्रस्थ (३२ पल) जल में कथित करें । आधा अवशिष्ट रहने पर उतार कर छान लें । और इसका प्यास लगने पर पीने के लिये प्रयोग करावें ॥ १०१-१०२ ॥

पुष्कराह्वशटीव्योषमातुलुङ्गाम्लवेतसैः ।

योजयेदन्नपानानि ससर्पिर्विडहिङ्गुभिः ॥ १०३ ॥

हिक्का और श्वास के रोगी के अन्नपान को पुष्करमूल, कचूर, त्रिकटु, मातुलुङ्ग (बिजौरा), अम्लवेतस, तथा घी, विडनमक और हींग से संस्कृत कर प्रयोग कराना चाहिये ॥ १०३ ॥

दशमूलस्य वा काथमथवा देवदारुणः ।

तृपितो मदिरां वापि हिक्काश्वासी पिबेन्नरः ॥ १०४ ॥

हिक्का वा श्वास का रोगी प्यास लगने पर दशमूल (बिल्व, अरणी, पाटला, श्योनाक, गाम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती,

कण्टकारी, गोखरू), अथवा देवदारु के काथ को अथवा मदिरा को पीवे । पानीयार्थ प्रयोग में षडङ्गपरिभाषा के अनुसार ही साधन होगा ॥ १०४ ॥

पाठां मधुरसां रास्नां सरलं देवदारु च ।

प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य सुरामण्डे निधापयेत् ॥ १०५ ॥

तं मन्दलवणं कृत्वा भिषक् प्रसृतसंमितम् ।

पाययेत्तु ततो हिका श्वासश्चैवोपशाम्यति ॥ १०६ ॥

पाठादिसन्धान (Tincture)—पाठा, मधुरसा (मूर्वामूल), रास्ना, सरलकाष्ठ (चीड़ की लकड़ी), देवदारु; इन्हें जल से धो साफ करके सुखा लें । पश्चात् मोटा मोटा कूट कर सुरामण्ड में डालकर रख छोड़ें । सात आठ दिन के पश्चात् छान लें । इसे थोड़ा सा नमकीन कर रोगी को वैद्य १ प्रसृत (२ पल) परिमाण में पिलावे । इसके सेवन से हिचकी और श्वास शान्त होता है । आधुनिक-मात्रा—३० बूँद से ६० बूँद तक ।

प्रायशः आजकल सन्धानार्थ पाठा आदि द्रव्यों के मिलित प्रमाण से सुरामण्ड को आठगुना लिया जाता है । यतः फाण्ट वा शीतकषाय के लिये चतुर्गुण वा षड्गुण द्रव लिया जाता है अतएव इस योग को भी चौगुने वा छह गुने सुरामण्ड से कई सिद्ध करते हैं । वृद्धवाग्भट ने सन्धान के लिये केवल रात्रिभर पड़ा रहने देने के लिये कहा है—जैसा कि प्रायशः शीतकषाय में किया जाता है—

‘ पाठां मधुरसां दारु सरलं च निशि संस्थितम् ।

सुरामण्डेऽल्पलवणं पिबेत् प्रसृतसम्मितम् ॥

परन्तु इसप्रकार पूर्णसन्धान नहीं होगा । और तय्यार हुए सन्धान की मात्रा भी अधिक देनी पड़ेगी । सात आठ दिन

देश
ही

रखने से अच्छी प्रकार सन्धान हो जायगा—पाठा आदि द्रव्यों का सुरामण्ड में विलीन होने वाला अंश पूर्णरूप से शुल जायगा । इसे प्रस्तुत करते समय प्रतिदिन एक बार हिला देना चाहिये ॥ १०५-१०६ ॥

हिङ्गु सौवर्चलं कोलं समङ्गां पिप्पलीं बलाम् ।

मातुलुङ्गरसे पिष्टमारनालेन वा पिबेत् ॥ १०७ ॥

हिङ्वादिचूर्ण—हींग, सौचलनमक, कोल (बेर), समङ्गा (लाजवन्ती अथवा मञ्जिष्ठा), पिप्पली, बलामूल, इनके चूर्ण को बिजौरे के रस से पीसकर अथवा आरनाल (कांजी) से आलोडित कर रोगी को प्रयोग करायें । बिजौरे का रस अथवा कांजी इतनी डालनी चाहियें जिससे हलकी सी खटाई हो जाय । चूर्ण की मात्रा—४ रत्ती । अष्टाङ्गसंग्रह में यह योग कुछ भेद से पढ़ा है—

‘आरनालेन पिष्ट्वा वा मातुलुङ्गरसान्वितान् ।

हिङ्गसौवर्चलकणाकोलमुद्गान्..... ॥’

अर्थात् यहां समङ्गा और बला नहीं पढ़े । इनके स्थान पर मुँग पढ़े हैं ॥ १०७ ॥

सौवर्चलं नागरं च भार्गीं द्विशर्करायुतम् ।

उष्णाम्बुना पिबेदेतद्विक्काश्वासविकारनुत् ॥ १०८ ॥

सौवर्चलादि चूर्ण—सौचर नमक, सोंठ, भारंगी; प्रत्येक १ भाग और खांड २ भाग मिश्रित कर चूर्ण को गरम जल से पीवे । यह हिक्का और श्वास को नष्ट करता है । मात्रा—१ मासा ।

गङ्गाधर ने यह योग नहीं पढ़ा ॥ १०८ ॥

भार्गीनागरयोः कल्कं मरिचद्वारयोस्तथा ।

पीतद्रुचित्रकास्फोतामूर्वाणां चाम्बुना पिबेत् ॥ १०९ ॥

१ ‘ ना ’ ग. ।

१ भारंगी, सोंठ २ कालीमिर्च, यवक्षार ३ पीतद्रु (देवदारु), चित्रक, आस्फोता (हाफरमाली), मूर्वामूल; इन कल्कों को मात्रा में जल के साथ रोगी पीवे । ये तीन योग हैं । जल कोष्ण होना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह में कहा भी है—

‘जलेन वा ।

कोष्णेन भार्ज्जी शुण्ठी च क्षारं वा मरिचान्वितम्’ ॥ १०६ ॥

मधूलिका तुगाक्षीरी नागरं पिप्पली तथा ।

उत्कारिका घृते सिद्धा श्वासे पित्तानुबन्धजे ॥ ११० ॥

पित्तानुग श्वास में मधूलिकाउत्कारिका—मधूलिका (मुलहठी अथवा गेहूं के छोटे २ टुकड़े, दलिया अथवा छोटा गेहूं), तुगाक्षीरी (वंशलोचन), सोंठ, पिप्पली; इनसे घी में सिद्ध की हुई उत्कारिका पित्त के अनुबन्ध से युक्त श्वास में प्रयोग करानी चाहिये ॥ ११० ॥

श्वाविधं शशमांसं च शल्लकस्य च शोणितम् ।

पिप्पलीघृतसिद्धानि श्वासे वातानुबन्धजे ॥ १११ ॥

वातानुबन्ध श्वास में—बड़े सेह का मांस अथवा शशक (खरगोश) का मांस तथा शल्लक (छोटा सेह) का रक्त; इन्हें पिप्पलीचूर्ण और घी से सिद्धकर वात के अनुबन्ध से उत्पन्न होने वाले श्वास में प्रयोग कराना चाहिये ।

‘ पिप्पलीघृतसिद्धानि ’ ऐसा बहुवचनान्त कहने से ये योग पृथक् पृथक् ही समझने चाहियें । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में तो इसे एक योग मानकर उत्कारिका सिद्ध करने को कहा है—

‘उत्कारिका तुकाकृष्णामधूलीगुडनागरैः ।

पित्तानुबन्धे योक्तव्या पवने त्वनुबन्धिनि ॥

१ कई मृषिकाकृति तले भक्ष्य को कई पूरी की तरह तले हुए को और कई लप्सी के सदृश पकाये भक्ष्य को उत्कारिका कहते हैं ।

श्वाविच्छशामिषकणाधृतशल्यकशोणितैः ॥'

इससे यह प्रतीत होता है कि 'पिप्पलीधृतसिद्धानि' यह लेखक के प्रमाद से हो गया है वस्तुतः 'पिप्पलीधृतसिद्धा तु' यह पाठ है। इसे स्वीकार करने पर वह एक योग हो जाता है। अर्थात् सेह का मांस, शशक का मांस, सेह का रक्त तथा पिप्पलीचूर्ण इन्हें एकत्र मिश्रित कर घी में उत्कारिकायें सिद्ध करे।

अष्टाङ्गसंग्रह के पाठ के अनुसार यह भी ज्ञात होता है कि इससे पूर्व के पित्तानुबन्धश्वास में प्रयोग कराने के लिये कहे गये उत्कारिकायोग में गुड भी डाला जा सकता है ॥ १११ ॥

सुवर्चलारसो दुग्धं घृतं त्रिकटुकान्वितम् ।

शाल्योदनस्यानुपानं वातपित्तानुगे हितम् ॥ ११२ ॥

वातपित्तानुबन्धश्वास में—सुवर्चला (सूर्यभक्ता, सूरजमुखी, दुरदुर) का रस, दूध, घी तथा त्रिकटु चूर्ण; इन्हें यथायोग्य मात्रा में मिश्रित कर शालि के भात के पश्चात् पीना चाहिये। इनमें दूध की प्रधानता है। शेष को यथायोग्य मात्रा में उसमें मिलाना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने भी कहा है—

‘सुवर्चलारसव्योषसर्पिर्भिः सहितं पयः ।

अनुशाल्योदनं पेयं वातपित्तेऽनुबन्धिनि ॥’

अ० सं० चि० अ० ६

गङ्गाधर तो इसें तीन योगों में विभक्त करता है। १ सुवर्चला-रस २ त्रिकटुचूर्ण युक्त दूध और तीसरा त्रिकटुचूर्णयुक्त घी ॥ ११२ ॥

शिरीषपुष्पस्वरसः सप्तपर्णस्य वा पुनः ।

पिप्पलीमधुसंयुक्तः कफपित्तानुगे मर्तः ॥ ११३ ॥

कफपित्तानुबन्धश्वास में—शिरीष (सिरस, सिरीह) के फूलों के स्वरस में अथवा सप्तपर्ण (सतौना) त्वक् के रसमें मधु और पिप्पली

१ 'मधुसंयुक्तौ' ग. । २ 'मर्तौ' ग. ।

चूर्ण मिलाकर प्रयोग कराना चाहिये ।

इन सब अनुबन्धयुक्त श्वासों में प्रयोग किये जाने योगों को उन २ अनुबन्धयुक्त हिक्काओं में भी प्रयोग कराया जा सकता है ।
वृद्धवाग्भट चि० अ० ६ में—

‘स्वरसं सप्तपर्णस्य पुष्पाणां वा शिरीषतः ।

हिध्माश्वासे मधुकणायुक्तं पित्तकफानुगे ॥’

इस योग से इस प्रकरण को प्रारम्भ किया है । यहां ‘हिध्मा-
श्वासे’ कहा है । इससे आगे केवल अनुबन्ध का ही नाम लिया है,
रोग का नहीं । अतः हिध्माश्वास का प्रकरण होने से इन सब योगों को
हिक्काओं में भी प्रयोग कराने का उसका अभिप्राय है । प्रकृतसंहिता
में तो अनुबन्धयुक्त श्वास का ही नाम लिया है ।

गङ्गाधर इस योग को मधूलिका आदि उत्कारिकायोग से
पूर्व पढ़ता है ॥ ११३ ॥

मधुकं पिप्पलीमूलं गुडो गोऽश्वशकृद्रसः ।

घृतं चौद्रं कासहिक्काश्वासाभिष्यन्दिनां शुभम् ॥ ११४ ॥

मधुकादियोग—मुलहठी, पिप्पलीमूल, गुड, ताजे गोबर का
रस और घोड़े की ताजी लीद का रस, घी, शहद; इन्हें यथायोग्य
मात्रा में एकत्र मिश्रितकर कास हिक्का श्वास तथा अभिष्यन्दसे पीड़ित
रोगियों को सेवन करावें । अभिष्यन्दसे यहां नेत्ररोग न समझना
चाहिये, अपितु स्रोतों में हुई कफज क्लिन्नता का यहां ग्रहण है ॥ ११४ ॥

खराश्वोष्ट्रवराहाणां मेघस्य च गजस्य च ।

शकृद्रसं बहुकफे चैकैकं मधुना पिबेत् ॥ ११५ ॥

गदहे की लीद, घोड़े की लीद, ऊँट की लीद सूअर की विष्टा,
मेढ़े की मेगनियां, हाथी की लीद; इनमें से किसी एक के रस में मधु
मिला अत्यन्त कफयुक्त रोगी पीवे ॥ ११५ ॥

१ ‘गोशकृतो रसः’ मे. ।

क्षारं चाप्यश्वगन्धाया लेहयेत्क्षौद्रसर्पिषा ।

अथवा असगन्ध के क्षार को मधु और घी के साथ चटावे ।

मयूरपादनालं वा शलकं शल्लकस्य वा ॥ ११६ ॥

शवाविज्जाण्डकचापाणां रोमाणि कुररस्य वा ।

एकद्विशफशृङ्गाणि चर्मास्थीनि क्षुरांस्तथा ॥ ११७ ॥

सर्वाण्येकैकशो वापि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम् ।

चूर्णं लीढ्वा जयेत्कासं हिकां श्वासं च दारुणम् ॥ ११८ ॥

मोर के पादनाल (पैर की नली), अथवा सेह का कांटा, अथवा बड़ा सेह, जाण्डक (जन्तुविशेष), चाप तथा कुरर पक्षी के लोम अथवा एक सुम वाले वा दो खुर वाले पशुओं के सींग, चमड़ा हड्डी तथा खुर वा सुम; इन सबको एकत्र अथवा पृथक् पृथक् (व्यस्त समस्त रूप से) जलाकर उसी मसी को चूर्णित कर मधु और घी के साथ चाटने से कास (खांसी), हिका और दारुण श्वास नष्ट होता है। मसी की मात्रा—२ रत्ती से ४ रत्ती तक ॥

एते हि कफसरुद्धगतिप्राणप्रकोपहाः ।

तस्मात्तन्मार्गशुद्ध्यर्थं देया लेहा न निष्कफे ॥ ११९ ॥

ये लेहयोग कफ द्वारा मार्ग के रोके जाने पर रुद्ध वायु के प्रकोप को नष्ट करने वाले हैं। अतएव उस मार्ग की शुद्धि के लिये इन लेहों का प्रयोग कराना चाहिये। कफरहित रोगी को इनका प्रयोग न करावें ॥ ११९ ॥

कासिने छर्दिनं दद्यात्स्वरभङ्गे च बुद्धिमान् ।

वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम् ॥ १२० ॥

मार्ग की शुद्धि के लिये कासयुक्त तथा स्वरभङ्गयुक्त श्वास के रोगी को वमन कराना चाहिये। परन्तु तमकश्वासे में वातकफ-नाशक द्रव्यों से युक्त विरेचन दिया जाता है।

१ 'शल्लकं' ग. । २ 'शवाविद्रोहक' ग. । 'जाण्डको मरुदेशोद्भवः प्राणी स्पृष्टमानो सङ्कोचमुपयाति' चक्रः ।

तमकश्वास में विरेचन का अभिप्राय यही है कि खांसते २ जो दुष्ट कफ निकलता है रोगी से बहुधा वह निगल जाता है । वह दुष्ट कफ आहार मार्ग में भी विकृति को उत्पन्न कर देता है अतः उस दुष्ट कफ को निकालने के लिये तथा पित्तस्थान (उद्ध्व-स्थान) की चिकित्सा के लिये विरेचन कराना होता है । अन्यथा पित्तवृद्धि होकर प्रतमक का रूपधारण कर लेता है ॥ १२० ॥

उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद्ब्रह्मजलम् ।

यथा तथाऽनिलस्तस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत् ॥ १२१ ॥

जिस प्रकार नदी नद आदि का बहता जल मार्ग में रुकावट से अत्यन्त उदीर्ण हो जाता है उसीप्रकार प्राणमार्ग की रुकावट से (कफ द्वारा) वायु भी उदीर्ण एवं प्रकुपित हो जाता है । अतः श्वास में वायु के मार्ग का नित्य शोधन होना चाहिये ॥ १२१ ॥

शट्यादिचूर्णम् ।

शटीचोरकजीवन्तीत्वङ्मुस्तं पुष्कराह्वयम् ।

सुरसं तामलक्येला पिप्पल्यगुरु नागरम् ॥ १२२ ॥

वालकं च समं चूर्णं कृत्वाऽष्टगुणशर्करम् ।

सर्वथा तमके श्वासे हिकायां च प्रयोजयेत् ॥ १२३ ॥

इति शट्यादिचूर्णम् ।

शट्यादिचूर्ण—कचूर, चोरक, जीवन्ती, दालचीनी, मोथा, पोहकरमूल, सुरस (तुलसी अथवा सम्भाल), तामलकी (भुई आंवला), छोटी इलायची, पिप्पली, अगर की लकड़ी, सोंठ, गन्धबाला । प्रत्येक के चूर्ण को समपरिमाण में मिश्रित कर दू भाग खाँद मिलावें । इस योग को तमकश्वास और हिका में सर्वथा प्रयोग करायें । अर्थात् अन्नपान आदि में सर्वत्र इसका प्रयोग कराया जा सकता है । मात्रा—२ मासे से ४ मासे तक ।

गङ्गाधर कचूर आदि के मिलित चूर्ण से आठगुना खाँद

१ 'शटीग्रन्थिक०' ग. ।

मिलाने को कहता है ॥ १२२—१२३ ॥

मुक्ताद्यं चूर्णम्

मुक्ताप्रवालवैडूर्यशङ्खस्फटिकमञ्जनम् ।

ससारगन्धकाचार्कसूक्ष्मैलालवणद्वयम् ॥ १२४ ॥

ताम्रायोरजसी रूप्यं सौगन्धिककशेरुकम् ।

जातीफलं शणाद्धीजमपामार्गस्य तण्डुलाः ॥ १२५ ॥

एषां पाणितलं चूर्णं तुल्यानां क्षौद्रसर्पिषा ।

हिकां श्वासं च कासं च लीढमाशु नियच्छति ॥ १२६ ॥

अञ्जनान्तिमिरं काचं नीलिकां पुष्पकं तमः ।

पिल्लं कण्डूभभिष्यन्दमर्म चैव प्रणाशयेत् ॥ १२७ ॥

इति मुक्ताद्यं चूर्णम् ।

मुक्ताद्यचूर्ण—मोतीभस्म, मूंगाभस्म, वैडूर्य (लहसुनिया)

भस्म, शङ्खभस्म, स्फटिक (बिल्लौर) भस्म, अञ्जन भस्म; लालचन्दन,

काचभस्म, अर्कपुष्प (मदार के फूल), छोटी इलायची, सेन्धानमक,

सौचलनमक, ताम्रभस्म, लोहभस्म, रजतभस्म, सौगन्धिक

(हिङ्गुलसदृश वर्ण का पद्वाराग) भस्म, कशेरुक (कसेरू)

जायफल, सनबीज, अपामार्ग के निस्तुष बीज; इनके

समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण को १ कर्ष परिमाण में मधु और

घी से चढायें । यह हिका श्वास और कास को शीघ्र वश में लाता

है । इसको आंखों में आंजने से तिमिर काच नीलिका पुष्पक

(फूला), अन्धकारदर्शन, पिल्लरोग, कण्डू, अभिष्यन्द तथा अर्म

नष्ट होते हैं । अञ्जनार्थ इस योग को प्रस्तुत करते हुए रत्नों

की भस्म नहीं करनी चाहिये । उन्हें सुदृढ़ खल्व में अत्यन्त श्लक्ष्ण

१ 'ससारः स्फटिक एव' चक्रः । 'ससारकाचगन्धार्क०' ग. । ससारकाचो

दकाचः गङ्गाधरः ।

पीस लेना चाहिये । और धातुओंकी भस्म गन्धकके योगसे की जानी चाहिये । परन्तु अञ्जनकी भस्म नहीं की जाती । अञ्जनयोगमें 'अर्क' से ताम्र का ग्रहण होगा । इसप्रकार ताम्रके दो भाग हो जायेंगे ।

सौगन्धिक से कई रक्तकमल और कशेरुक से कई नीलपीत-मणिविशेष का अभिप्राय भी लेते हैं । कई काच से काचलवण का ग्रहण करते हैं । आधुनिकमात्रा—१ रत्ती । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में यह योग कुछ भिन्नता से पढ़ा है—

मुक्ताप्रवालवैडूर्यशङ्खसौगन्धिकाञ्जनम् ।

मसारगल्लस्फटिकाचैलालवणद्वयम् ॥

अपामार्गफलं ताम्रमयो रूप्यं शणात्फलम् ।

ज्योतीरसेन तल्लिह्यादयो वैकं मधुद्रवम् ॥

इन्दु ने टीका करते हुए 'मसारगल्ल' का अर्थ मणिविशेष किया है । इसके स्थान पर प्रकृतसंहिता में 'ससारगन्ध' यह पाठ है । अष्टाङ्गसंग्रह में अर्क कशेरुक और जातीफल नहीं पढ़े । और लेहन के लिये दो वृन्द ज्योति (ज्योतिष्मती अथवा चित्रक) के रस में मिश्रित करने को कहा है ॥ १२४-१२७ ॥

शटीपुष्करमूलानां चूर्णमामलकस्य च ।

मधुना संयुतं लेह्यं चूर्णं वा काललोहजम् ॥ १२८ ॥

कचूर, पोहकरमूल और आंवला; इनके चूर्ण को अथवा काललोह (तीक्ष्णलोह) के चूर्ण अर्थात् भस्म को मधु के साथ मिला रोगी चाटे । चूर्ण की मात्रा—१ मासा । लोहभस्म की मात्रा—आधी रत्ती से २ रत्ती तक ॥ १२८ ॥

सशर्करां तामलकीं द्राक्षां गोऽश्वशकृद्रसम् ।

तुल्यं गुडं नागरं च प्राशयेन्नावयेत्तथा ॥ १२९ ॥

तामलक्यादि योग—खांड, भुई आंवला, द्राक्षा (मुनका), गोबर का रस, घोड़े की लीद का रस, गुड, सोंठ; इन्हें समपरिमाण में मिला रोगी को खिलावे और इसी का नस्य भी दें । मात्रा—२ मासे से ६ मासे तक । नस्य के लिये इसे वस्त्र में डाल नथुं

की में दो चार बूंद निचोड़ दें ।

वृद्धवाग्भट ने इस योग को दो भागों में बांटा है । खांड, भुईं आंवला, द्राक्षा, गोवर और घोड़े की लीद का रस यह एक । वहां यह योग लेहनार्थ आदिष्ट है । दूसरा गुड और सोंठ को सम-परिमाण में मिला भक्षण वा नस्यार्थ कहा है । ये दोनों योग वहां पृथक् २ स्थानों पर कहे हैं ॥ १२६ ॥

लशुनस्य पलाण्डोर्वा मूलं गृञ्जनकस्य वा ।

नावयेचन्दनं वापि नारीक्षीरेण संयुतम् ॥ १३० ॥

लहसन अथवा प्याज अथवा गृञ्जनक (शलगम वा गाजर वा लाल प्याज) की जड़ (कन्द) के रस का नस्य दें अथवा स्त्री के दूध में चन्दन को रगड़ कर उसका नस्य दें ॥ १३० ॥

सुखोष्णं घृतमण्डं वा सैन्धवेनावचूर्णितम् ।

नावयेन्मक्षिकाविष्ठामलक्तकरसेन वा ॥ १३१ ॥

अथवा घृतमण्ड (घी के उपरितन स्वच्छ द्रवभाग) को सुहाता गरम कर उसमें थोड़ा सा सैन्धानमक का चूर्ण डालकर नस्य देना चाहिये । अथवा अलक्तक रस (लाक्षारस) में मक्खी की विष्ठा को घोलकर नस्य देना चाहिये ॥ १३१ ॥

स्त्रियाः स्तन्येन सिद्धं वा सर्पिर्मधुरकैरपि ।

पीतं नस्तो निषिक्तं वा सद्यो हिकां नियच्छति ॥ १३२ ॥

स्त्री के दूध तथा मधुरगण (जीवनीयगण) की औषधों के कल्क से यथाविधि साधित गव्यघृत के नस्य तथा पान से शीघ्र ही हिचकी बन्द हो जाती है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में भी कहा है—

‘ सिद्धं स्तन्येन वा घृतम् ।

कल्कितैर्मधुरद्रव्यैस्तत्पिबेन्नाधयेत वा ॥ १३२ ॥

१ ‘ माक्षिकी विष्ठा ’ च । २ ‘ नारीक्षीरेण वा सिद्धं ’ ग ।

सकृदुष्णं सकृच्छीतं व्यत्यासाद्विक्रानां पयः ।

पाने नस्तःक्रियायां वा शर्करामधुसंयुतम् ॥ १३३ ॥

हिचकी के रोगियों को पर्यायक्रम से एक बार गरम और एक बार ठण्डा दूध जिसमें मधु एवं खांड मिश्रित हो पीने और नस्य के लिये देना चाहिये । अर्थात् गरम देकर ठण्डा और ठण्डा देकर गरम दूध पीने के लिये वा नस्यार्थ दें । पानार्थ गरम दूध में मधु नहीं मिलाना चाहिये ॥ १३३ ॥

अधोभागैर्घृतं सिद्धं सद्यो हिक्कां नियच्छति ।

पिप्पलीमधुयुक्तौ वा रसौ धात्रीकपित्थयोः ॥ १३४ ॥

विरेचन द्रव्यों से यथाविधि साधित घी भी शीघ्र हिचकी को वन्द करता है । इसका पानार्थ व्यवहार होता है ।

आंवले वा कैथ के रस में मधु और पिप्पलीचूर्ण मिलाकर चाटने से हिचकी वन्द होती है ॥ १३४ ॥

लाजालाक्षामधुद्राक्षापिप्पल्यश्वशकृद्रसान् ।

लिङ्गात्कोलमधुद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा ॥ १३५ ॥

लाजा, कच्ची लाख, शहद, द्राक्षा (मुनक्का वा किशमिश), पिप्पली, घोड़े की लीद का रस; इन्हें एकत्र मिला हिक्का का रोगी चाटे ।

अथवा कोल (बेर, प्रायशः यहां इसकी मज्जा का प्रयोग करते हैं), शहद, द्राक्षा, पिप्पली, सोंठ; इन्हें मिश्रित कर रोगी चाटे । इसमें वृद्धवाग्भट के अनुसार लाजाचूर्ण भी मिला सकते हैं—

‘कोललाजमधुद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा ।’

अ० सं० चि० अ० ६ ॥ १३५ ॥

शीताम्बुसेकः सहसा त्रासो विस्मापनं भयम् ।

क्रोधहर्षप्रियोद्वेगा हिक्काप्रच्यवना मताः ॥ १३६ ॥

हिक्काप्रच्यवन—सहसा शीतल जल का परिषेक वा छींटे

१ ‘अधोभागे घृतं’ पा० । २ ‘लिङ्गात्कोलं मधु’ पा० ।

देना, त्रास, विस्मय उत्पन्न करना, भय, क्रोध, हर्ष, प्रिय वस्तु वा व्यक्ति में उद्वेग (ग्लानि); ये हिक्का को पराभूत करने वाले-वन्द करने वाले माने गये हैं ॥ १३६ ॥

हिक्काश्वासविकाराणां निदानं यत्प्रकीर्तितम् ।

वर्ज्यमारोग्यकामैस्तद्विक्काश्वासविकारिभिः ॥ १३७ ॥

निदानत्याग—हिक्का और श्वासों का जो निदान कहा गया है, आरोग्य चाहने वाले हिक्का और श्वास के रोगियों को उनका त्याग करना चाहिये ॥ १३७ ॥

हिक्काश्वासानुबन्धा ये शुष्कोरःकण्ठतालुकाः ।

प्रकृत्या रूक्षदेहा ये सर्पिर्भिस्तानुपाचरेत् ॥ १३८ ॥

हिक्का और श्वास के अनुबन्ध रूप में जिनकी छाती कण्ठ और तालु सूख गये हैं और जिनका देह स्वभावतः ही रूक्ष है उनका घृतों द्वारा उपचार करे ॥ १३८ ॥

दशमूलरसे सर्पिर्दधिमण्डेन साधयेत् ।

कृष्णासौवर्चलक्षारवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ॥ १३९ ॥

कायस्थया च संसिद्धं हिक्काश्वासौ प्राणशयेत् ।

इति दशमूलाद्यं घृतम् ।

दशमूलाद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । दशमूलकाथ ४ प्रस्थ (पृथक् २ चतुर्गुण द्रव के पक्ष में ८ प्रस्थ) । दही का जल ४ प्रस्थ (पृथक् चतुर्गुण लेने के पक्ष में ८ प्रस्थ) । कल्कार्थ—पिप्पली, सौचरनमक, यवक्षार, वयःस्था (आंवला), हिंग, चोरक, कायस्था (हरड़) मिलित १ शराव । यथाविधि घृतपाक करे । यह हिक्का और श्वास को नष्ट करता है । मात्रा—आधा तोला । अष्टाङ्ग-संग्रह चि० अ० ६ में भी कहा है—

‘कणासौवर्चलक्षारवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ।

१ ‘शुष्कक्षणिकफोरस्का हिक्काश्वासानुबन्धिनः’ ग. ।

सकायस्थैर्घृतं मस्तु दशमूलरसे पचेत् ॥

तत् पिबेत् ।

गङ्गाधर तो दो योग मानता है । पिप्पली आदि चोख पर्यन्त कल्क से दशमूल काथ और दधिमस्तु के साथ एक, और कायस्था के कल्क से दशमूलकाथ और दधिमस्तु से दूसरा घृत-पाक मानता है ।

चक्रपाणि वयःस्था से ब्रह्मी और कायस्था से सुरसा (तुलसी) का ग्रहण करता है ॥ १३६ ॥

तेजोवत्यादिघृतम् ।

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी ॥ १४० ॥

भूतीकं पौष्करं मूलं पलाशश्चित्रकः शटी ।

सौवर्चलं तामलकी सैन्धवं बिल्वपेशिका ॥ १४१ ॥

तालीशपत्रं जीवन्ती वचा तैरक्षसंमितैः ।

हिङ्गुपादैर्घृतप्रस्थं पचेत्तोये चतुर्गुणे ॥ १४२ ॥

एतद्यथावलं पीत्वा हिक्काश्वासौ जयेन्नरः ।

शोथानिलाशोग्रहणीहित्पार्श्वरुज एव च ॥ १४३ ॥

इति तेजोवत्यादिघृतम् ।

तेजोवत्यादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । कल्कार्थ—तेजोवती (तेजवल अथवा चव्य), अभया (हरड़), कुष्ठ, पिप्पली, कटुकी, भूतीक (गन्धवृण), पोहकरमूल, पलाश (ढाक) की छाल, चित्रक, कचूर, सौचरनमक, भुई आंवला, सेन्धानमक, बेलगिरी, तालीश-पत्र, जीवन्ती, वच; प्रत्येक १ कर्ष, हींग चौथाई कर्ष (१ शाण) । जल ८ प्रस्थ । यथाविधि घृतपाक करे । बल के अनुसार इसे सेवन कर पुरुष हिक्का श्वास शोथ वातार्श ग्रहणी हृच्छूल

१ 'भूतीक' अष्टाङ्गसंग्रहे पाठः ।

और पार्श्वशूलों को जीते । आधुनिक मात्रा—आधा तोला ॥ १४०—१४३ ॥

मनःशिलादिघृतम्

मनःशिलासर्जरसलाक्षारजनिपद्मकैः ।

मञ्जिष्ठालैश्च कर्षाशैः प्रस्थः सिद्धो घृताद्धितः ॥ १४४ ॥

इति मनःशिलादिघृतम् ।

मनःशिलादिघृत—विशुद्ध मनसिल, राल, कच्ची लाख, हल्दी, पद्माख, मञ्जिष्ठा, हड़ताल; प्रत्येक १ कर्ष । इस कल्क से यथाविधि पकाया घी हितकर होता है । अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि०

अ० ६ में इस योग में हल्दी न पढ़कर गुग्गुलु पढ़ा है—

‘सिद्धं वा पुरमञ्जिष्ठालाक्षासर्जरसैः पिबेत् ।

सपद्मकमनोह्वालैर्घृतप्रस्थं पिचून्मितैः ॥’ १४४ ॥

जीवनीयोपासिद्धं वा सचौद्रं लेहयेद्घृतम् ।

ज्यूषणं दाधिकं वापि पिबेद्वासाघृतं तथा ॥ १४५ ॥

अथवा जीवनीयगण की औषधों के क्वाथ और कल्क से यथाविधि साधित घी को मधुमिश्रित कर मात्रा में चटावें । अथवा ज्यूषणघृत (कासाधिकार में कहा जाने वाला), दाधिकघृत (गुल्मोक्त हवुषाघृत) वा वासाघृत (गुल्मोक्त) मात्रा में रोगी को पीना चाहिये । अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० १६ (गुल्मचिकित्सा) में दाधिक घृत नाम से ही एक योग पढ़ा है उसके गुण भी हवुषाघृत के समान ही हैं ।

‘वर्षाभूद्वयदशमूलाश्वगन्धासुषवीन्छिन्नरुहाभार्ज्ज्वरास्त्रैरण्ड-
चलाकालाशटीपुष्करमूलगन्धपलाशान् द्विपलांशान् प्रस्थं प्रस्थं च
यवमाषकोलकुलत्थानां जलद्रोणे पादावाशिष्टं विपचेत् । तेन पृथक्समं

१ ‘मञ्जिष्ठैलैः’ पा० ।

मातुलुङ्गदाडिमाम्रातकरसशुक्ततुषोदकारनालं घृतप्रस्थं दध्याढकोपेतं
 वचाकारवीशताह्वाद्विचारत्रिलवणात्रिकटुकरास्त्राकुम्भनिकुम्भयवानो-
 यवानकहिंसास्त्ववेतसनीलिनीफलविडङ्गदाडिमहिङ्गुपाषाणभेदकोष-
 कवृषकहपुषाभाङ्गीश्वदंष्ट्रात्रपुसैर्वारुबीजाजाजीशारिवोपकुञ्चिकाग्रन्थि-
 ककुस्तुबरीतुम्बुरुफलमूर्वाचित्रकसुरसागजपिप्पलीगर्भं साधयेत् ।
 दाधिकाख्यमेतत्सर्पिः समानं पूर्वेण ।' मूत्राघातोन्मादापस्मार-
 वातव्याधिहरं च ॥'

और एक अन्य योग दाधिकघृत नाम से ही तन्त्रान्तर में
 शूलाधिकार में पढ़ा गया है—

‘पिप्पलीनागरं बिल्वं कारवी चव्यचित्रकम् ।

हिङ्गुदाडिमवृक्षाम्लं वचा क्षाराम्लवेतसम् ॥

वर्षाभूकृष्णलवणमजाजीबीजपूरकम् ।

दधित्रिगुणितं सर्पिस्तत्सिद्धं दाधिकं घृतम् ॥

गुल्मार्शःलीहृत्पार्श्वशूलयोनिरुजापहम् ।

दोषसंशमनं श्रेष्ठं दाधिकं परमं स्मृतम् ॥’ १४५ ॥

यत्किञ्चित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम् ।

भेषजं पानमन्नं वा तद्वितं श्वासहिकिने ॥ १४६ ॥

जो कोई भी औषध पेयपदार्थ वा अन्न कफवातनाशक
 उष्ण तथा वात का अनुलोमक हो वह श्वास और हिक्का के
 रोगियों के लिये हितकर है ॥ १४६ ॥

वातकृद्वा कफहरं कफकृद्वाऽनिलापहम् ।

कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम् ॥ १४७ ॥

जो औषध आदि वातकारक किन्तु कफनाशक हो अथवा
 जो औषध कफकारक किन्तु वातनाशक हो वह एकान्तरूप से
 प्रयोग नहीं करायी जानी चाहिये । इन दोनों की अपेक्षा प्रायः
 वातनाशक औषध आदि का प्रयोग कराना उत्तम है ।

अथवा हिक्का और श्वास वातकफात्मक होते हैं। इन में से एक आवृत होता है और दूसरा आवरक। अतः कभी तो वात-कर किन्तु कफनाशक कर्म करना होता है। इसका लाभ यह होता है कि आवरक कफ तो नष्ट हो जाता है और आवरण के न रहने से तथा प्रवृद्ध वायु—जिसके वेग में रुकावट हो गई थी—शीघ्र अपने मार्ग पर आ जाता है। कभी कफकारक किन्तु वातनाशक कर्म करना पड़ता है इसका लाभ यह है कि कफ अपनी लीनता को त्याग देता है और वायु शान्त होता है अतः इन दोनों विधियों को एकरूप से इकट्ठा न करना चाहिये अपि तु पृथक् २ करना चाहिये। परन्तु इन दोनों की अपेक्षा हिक्का श्वास में प्रायः केवल वायुनाशक कर्म अच्छा रहता है।

चक्रपाणि कहता है कि श्वास की चिकित्सा का विधान तीन प्रकार का है जिनमें से सबसे प्रधान कफवातहर चिकित्सा है जो कि अभी पूर्व कही जा चुकी है। जो अवशिष्ट है उसमें दोषके विद्यमान होने से एकान्त रूप से करनी चाहिये। अर्थात् वातकारक कफ-हर और कफकारक वातहर मिलाकर करनी चाहिये। यदि अनैकान्तिक रूप से दोनों चिकित्सायें करनी हों तो उसकी अपेक्षा वातनाशक चिकित्सा ही श्रेष्ठ रहती है ॥ १४७ ॥

सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत् ।

नावश्यं शमनेऽपायो भृशोऽशक्यश्च कर्शने ॥ १४८ ॥

तस्माच्छुद्धानशुद्धांश्च शमनैर्बृंहणैरपि ।

हिक्काश्वासादिताञ्जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत् ॥ १४९ ॥

सब रोगियों के बृंहण करने में हानि की कम सम्भावना होती है और जो अल्प हानि होती भी है वह सुखसाध्य होती है। शमन चिकित्सा से हानि अवश्य नहीं होती। यदि रोगी का कर्शन वा

१ इन्द्र की व्याख्या के अनुसार ।

अपतर्पण किया जाय तो हानि बहुत और असाध्य होती है । अतः संशोधनों से शुद्ध वा जिनका संशोधन न भी कराया गया हो ऐसे हिक्का और श्वाससे पीड़ित मनुष्यों का प्रायशः शमन और बृंहण कर्मोंसे उपचार करे । कई कहते हैं कि अशुद्ध रोगियों का शमन और शुद्ध का बृंहण करना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ६ में वा अष्टाङ्गहृदय में 'नावश्यं' के स्थान पर 'नात्यर्थं' पाठ है । टीकाकार अरुणदत्त इसकी व्याख्या इसप्रकार करता है—

हिक्का वा श्वास के रोगियों का बृंहण करते हुए दैववशात् कदाचित् विकार वा किसी अन्य रोग की उत्पत्ति हो जाय तो वे रोग प्रायः अल्प और सुखसाध्य होते हैं । तथा शमन करते हुए यदि दैवात् कोई अपाय (हानि) हो तो वह अत्यधिक नहीं होता अर्थात् मध्यमरूप में होता है । हिक्का वा श्वास की शान्ति के लिये कर्षण करते हुए जो रोग प्रादुर्भूत होता है वह दुःसह होता है और अतएव असाध्य होता है । यतः कर्षण करते समय उत्पन्न विकार दुःसह एवं असाध्य होता है अतः हिक्का और श्वास की बहुधा शमन औषध आदियों से अथवा बृंहणों से वैद्य चिकित्सा करे ॥ १४८-१४९ ॥

तत्र श्लोकः ।

दुर्जयत्वे समुत्पत्तौ क्रियैकत्वे च कारणम् ।

लिङ्गं पथ्यं च हिक्कानां श्वासानां चेह दर्शितम् ॥ १५० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने हिक्का-

श्वासचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

उपसंहार—हिक्का और श्वास की दुःसाध्यता में तथा उत्पत्ति और दोनों की एक ही चिकित्सा में कारण, उनके लिङ्ग (लक्षण सम्प्राप्ति आदि) और पथ्य इस अध्याय में कह दिये हैं ॥ १५० ॥

इति हिक्काश्वासाचिकित्सा ।

अष्टादशोऽध्यायः ।

अथातः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम कासचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

तपसा तेजसा धृत्या धिया च परयाऽन्वितः ।

आत्रेयः कासशान्त्यर्थं ग्राह सिद्धं चिकित्सितम् ॥ २ ॥

परम तप तेज धृति एवं बुद्धि से युक्त भगवान् आत्रेय ने कास की शान्ति के लिये प्रत्यक्षफल देने वाली चिकित्सा कही ॥ २ ॥

वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयजस्तथा ।

पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ॥ ३ ॥

कास के भेद—मनुष्यों को ये पांच कास होते हैं । १ वातज २ पित्तज ३ कफज ये तीन और ४ क्षतज तथा ५ क्षयज । क्षतज से अभिप्राय उरःक्षत से होने वाले कास से है । क्षयज से राजयक्ष्मा में उत्पन्न होने वाले कास का तथा धातुक्षीणता से एवं वृद्धावस्था में उत्पन्न कास का ग्रहण कर लेना चाहिये । सभी कासों का इन पांचों में अन्तर्भाव होता है । यदि इन कासों की उपेक्षा की जाय—चिकित्सा न की जाय तो ये बढ़कर क्षय (राजयक्ष्मा) का कारण हो जाते हैं अथवा देह को क्षीण कर देते हैं । सुश्रुत उ० अ० ५२ में भी कहा है—

‘ स वातपित्तप्रभवः कफाच्च

क्षतात्तथान्यः क्षयजोऽपरश्च ।

पञ्चप्रकारः कथितो भिषग्भि-

र्विवर्द्धितो यक्ष्मत्रिकारकृत्स्यात् ॥ ३ ॥

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता ।

कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥ ४ ॥

कास के पूर्वरूप—गले और मुख में ऐसा प्रतीत होना मानों धान्य आदि का शूक अटका हो, कण्ठ में कण्डू और भोज्य द्रव्यों का अवरोध (न निगला जाना); ये पूर्वरूप होते हैं । सुश्रुत ३० अ० ५२ में कहा है—

‘ भविष्यतस्तस्य तु कण्ठकण्डू-

भोज्योपरोधो गलतालुलेपः ।

स्वशब्दवैषम्यमरोचकोऽग्नि-

सादश्च लिङ्गानि भवन्त्यमूनि ’ ॥ ४ ॥

अधःप्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतःसमाश्रितः ।

उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ॥ ५ ॥

आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन् ।

अभञ्जनाक्षिपन्देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी ॥ ६ ॥

नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयस्ततः ।

शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात्कास उच्यते ॥ ७ ॥

कास की सम्प्राप्ति और निर्वचन—नीचे की ओर से रोका गया वायु ऊपर के स्रोतों में आश्रित हुआ उदानभाव को प्राप्त होकर कण्ठ में तथा छाती में रुककर शिर के छिद्रों स्रोतों वा वाहिनियों में प्रविष्ट हो उन सबको पूर्ण (भर) करता हुआ देह को विशेषतः हनु मन्या तथा नेत्रों को भग्न तथा आक्षिप्त (आक्षेपयुक्त) करता है । नेत्र पीठ छाती तथा दोनों पार्श्वों को वक्र तथा तदनन्तर स्तम्भित करता है । शुष्क ही अथवा कफयुक्त होकर वायु की ऊर्ध्वगति (कस गतौ) होने से उसे कास कहा जाता है । अथवा गति के अतिरिक्त शातन वा ध्वंस करना भी कस धातु का अर्थ है। अर्थात् शुष्क वा कफयुक्त वायु प्रवृद्ध होकर वर्ण

ओज आदि का ध्वंस (नाश) भी करने वाला होने से कास कहाता है ।

‘ कासनात् कास उच्यते ’ यह पाठ भी हो सकता है तब ‘ कास कुशब्दे ’ इस धातु से कास शब्द की सिद्धि होगी, अर्थात् शुष्क ही अथवा कफयुक्त होकर यतः कुशब्द करता है (खांसी करता है) अतः कास कहा जाता है । सुश्रुत उ० अ० ५२ में कहा है—

‘ प्राणो ह्यदानानुगतः प्रदुष्टः

सम्भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः ।

निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषः

कासः स विद्वद्भिरुदाहृतस्तु ॥’

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ३ में कहा है—

‘ क्रद्धः प्रतिहतोऽपाने यदापानः प्रपद्यते ।

ऊर्ध्वं रसस्य सः स्थाने तिष्ठन्नुरसि पीड्यते ॥

उदानेन सजंस्तत्र कण्ठे चानुप्रपूर्य च ।

वाहिनीर्गलमूर्धस्थास्ततोऽङ्गान्युत्तिपन्निव ॥

क्षिपन्निवाक्षिणी पृष्ठमुरःपार्श्वे च पीडयन् ।

विवृतत्वान्मुखेनैति भिन्नकांस्योपमध्वनिः ॥

यस्मात्तस्मात्स वणौजोबलमांसक्षयावहः ’ ॥ ५-७ ॥

प्रतिधातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः ।

वेदनाशब्दवैषम्यं कासानामुपजायते ॥ ८ ॥

वेदना वा शब्दवैषम्य में हेतु—उस तीव्रवेग वायु की रुकावट वा वाधा की भिन्नता से कासों में वेदना और शब्द की विषमता हुआ करती है । रुकावट अधिक होगी तो वेदना अधिक और कासशब्द तीव्र होगा । रुकावट कम होगी तो वेदना कम और

१ ‘ यदा प्राणः ’ इति वा साधुः ।

२ ‘ वैशिष्ट्यं ’ च । ‘ वैशेष्यं ’ ग. ।

कास का शब्द मन्द होगा ॥ ८ ॥

रूक्षशीतकषायाल्पप्रमितानशनं स्त्रियः ।

वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः ॥ ९ ॥

वातज कास के हेतु—रूक्ष शीत तथा कषाय द्रव्यों का भोजन अथवा मात्रा से अल्पप्रमाण में भोजन, अनशन (उपवास), स्त्रीभोग, पुरीष आदियों के वेग का धारण, आयास (परिश्रम वा थकावट); ये वातज कास को प्रवृत्त करते हैं ॥ ९ ॥

हृत्पाश्चोरःशिरःशूलस्वरभेदकरो भृशम् ।

शुष्कोरःकण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः ॥ १० ॥

निर्घोषदैर्न्यक्षामास्यदैर्बिल्यक्षोभमोहकृत् ।

शुष्ककासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत् ॥ ११ ॥

स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च भुक्कपीतैः प्रशाम्यति ।

ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान्मारुतो भवेत् ॥ १२ ॥

वातजकास के लक्षण—इस कास में वायु हृदय पार्श्व छाती तथा शिर में अत्यन्त शूल तथा स्वरभेद को करता है । छाती कण्ठ एवं मुख सूखे हुए लोमहर्ष तथा ग्लानि होती है । कास का शब्द प्रतिध्वनि युक्त तथा तीव्र होता है । दीनता, मुख का मुरझाया होना, दुर्बलता, क्षोभ, मोह, सूखी खांसी एवं अत्यन्त कष्ट से शुष्क कफ के निकलने पर कास में कमी होना, स्निग्ध अम्ल लवण तथा उष्ण (गरम) अन्नपान से शान्ति होना, अन्न के जीर्ण होने पर उस ऊर्ध्ववात पुरुष के वायु का अति वेगवान् होना; ये लक्षण होते हैं ।

कास में वायु की ऊर्ध्वगति होती है यह पूर्व कहा ही जा चुका है । वातकासमें अन्न के जीर्ण होने पर वायु का ऊपर की ओर अत्यधिक वेग होता है जिससे उस समय खांसी अधिक होती है । इसे वात

१ 'निर्घोषदैर्न्यक्षामस्य' पा० । २ '०क्षय०' पा० ।

के कोपकाल का उपलक्षणमात्र जानना चाहिये । अतः अन्य भी जो वातकोप के काल हैं उनमें भी वायु का वेग तीव्र होकर वातकास अधिक होता है ।

‘भुक्तपीतैः’ के स्थान पर ‘भुक्तमात्रे’ यह पाठ भी उपलब्ध होता है । तब अर्थ यह होगा कि स्निग्ध अम्ल आदि द्रव्यों के भोजन से तथा भोजन करते ही वातकास शान्त होजाता है ।

सुश्रुत उ० अ० ५२ में—

हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः ।

प्रसक्तवेगश्च समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेवा ॥ १०-१२ ॥

कटुकोष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम् ।

पित्तकासकरं क्रोधः सन्तापश्चाग्निसूर्यजः ॥ १३ ॥

पैत्तिक कास के हेतु—कटु उष्ण विदाही अम्ल तथा क्षारों का अत्यन्त सेवन, क्रोध, अग्नि वा सूर्य का ताप; ये पित्तज कास को करने वाले हैं ॥ १३ ॥

पीतनिष्ठीवनाक्षत्वं तिक्तास्यत्वं खरामयः ।

उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिभ्रमः ॥ १४ ॥

प्रतप्तं कासमानश्च ज्योतीर्षीव च पश्यति ।

श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ॥ १५ ॥

पैत्तिककास के लक्षण—थूक (वा कफ) तथा नेत्रों का पीला होना, मुख का कड़ुवा होना, स्वरभेद, छाती में धूँआं सा उठना, तृष्णा, दाह, मोह, अरुचि, भ्रम (चक्कर आना); ये लक्षण होते हैं । रोगी को निरन्तर खांसते २ आंखों के सामने तारे से दिखाई देते हैं । और पैत्तिककास में रोगी पित्त-मिश्रित कफ को थूकता है । सुश्रुत उ० अ० ५२ में—

१ प्रसक्तवेग इति सततवेगः ।

३२८

‘उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितास्तिकमुखस्तृषार्त्तः ।

पित्तेन पीतानि वमेत्कट्वानि कासेत्स पाण्डुः परिदह्यमानः ॥’

गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नाविचेष्टनैः ।

वृद्धः श्लेष्माऽनिलं रुद्ध्वा कफकासं करोति हि ॥ १६ ॥

कफकास के हेतु—गुरु अभिष्यन्दी मधुर स्निग्ध द्रव्यों के सेवन से, निद्रा से, किसी प्रकार की चेष्टा न करने से अर्थात् सर्वदा आराम से बैठे वा लेटे रहने से प्रवृद्ध हुआ कफ वायु को रोककर कफज कास को उत्पन्न करता है ॥ १६ ॥

मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दिपीनसोत्क्लेशगौरवैः ।

लोमहर्षास्यमाधुर्यक्लेदसंसदनैर्युतम् ॥ १७ ॥

बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम् ।

कासमानो ह्यरुग्बलः संपूर्णमिव मन्यते ॥ १८ ॥

कफजकास के लक्षण—मन्दाग्नि, अरुचि, कै, प्रतिश्याय, उत्क्लेश (जी मिचलाना), देह का भारीपन, लोमहर्ष, मुंह का स्वाद मीठा मीठा होना, क्लेद (स्रोतों का गीलापन), शिथिलता; ये लक्षण होते हैं । रोगी बहुत मधुर स्निग्ध तथा घने कफ को थूकता है । खांसते हुए छाती में विशेष वेदना नहीं होती परन्तु रोगी ऐसा अनुभव करता है जैसे छाती (कफ से) भरी हुई हो । सुश्रुत उ० अ० ५२ में—

‘विलिप्यमानेन मुखेन सीदन्

शिरोरुजार्त्तः कफपूर्णदेहः ।

अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तः

कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥’ १७-१८ ॥

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजनिग्रहैः ।

रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥ १९ ॥

स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत्सशोणितम् ।

१ ‘विग्रहैः’ पा० ।

रुजमानेन कण्ठेन विरुग्णेनेव चोरसा ॥ २० ॥

सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।

दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥ २१ ॥

पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः ।

पारावत इवाकूजन्कासवेगात्क्षतोद्भवात् ॥ २२ ॥

क्षतजकास का हेतु और सम्प्राप्ति—अत्यन्त मैथुन, अधिक भार उठाना, अत्यधिक मार्ग चलना, युद्ध (कुश्ती आदि), मत्त हाथी घोड़ों को वश में लाना आदि साहसों से रूक्ष पुरुष के छाती में हुए क्षत को प्राप्त होकर वायु कास को उत्पन्न करता है । उसे पूर्व सूखी ही खांसी होती है पीछे से रक्त युक्त कफ आने लगता है । क्षतज कास के वेग से रोगी के कण्ठ और छाती में वेदना होती है । वक्षःस्थल में तीक्ष्ण सुइयों से चुभोने का सा तोड़ (यन्त्रणा) और शूल होता है । शूलस्थान स्पर्शमात्र से ही अत्यन्त दुःखता है । रोगी छाती में भेदनवत् पीड़ा से व्याकुल होता है । पर्वभेद (पोरों में भेदनवत् पीड़ा) ज्वर श्वास तृष्णा एवं ज्वर से पीड़ित होता है और पारावत (कबूतर) के सदृश कूजन (अव्यक्त शब्द) करता है । सुश्रुत उ० अ० ५२ में भी इसका लक्षण कहा गया है ।

क्षतज कास में पीछे क्रम से वीर्य रुचि अग्नि बल एवं वर्ण क्षीण हो जाता है । मूत्र में रक्त आने लगता है । पीठ और कमर में भी वातज वेदना होती है । अष्टाङ्गसंग्रह वि० अ० ३ में कहा है—

‘ क्रमाद्वीर्यं रुचिः पक्तिर्वलं वर्णश्च हीयते ।

क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्वं स्याच्च पृष्ठकटीग्रहः ॥’

वहां क्षतज कास की सम्प्राप्ति बताते हुए वायु के साथ पित्त का अनुबन्ध भी होता है—यह कहा है । यथा—

‘ युद्धाद्यैः साहसैस्तैस्तैः सेवितैरयथाबलम् ।

उरस्यन्तःक्षते वायुः पित्तेनानुगतो बली ॥

कुपितः कुरुते कासम् ॥’ इत्यादि ।

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।

घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ॥ २३ ॥

कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ।

क्षयजकास का हेतु वा सम्प्राप्ति—आत्मघृणा, शोक, विषमभोजन, असात्म्य भोजन, अतिमैथुन, पुरीष आदि के वेगों का विधारण; इन हेतुओं से अग्नि के विकृत होने पर तीनों दोष कुपित होकर देह को क्षीण करने वाले क्षयज कास को उत्पन्न करते हैं ॥ २३ ॥

दुर्गन्धं हरितं रक्तं घृष्वित्पूयोपमं कफम् ॥ २४ ॥

कासमानश्च हृदयं स्थानभ्रष्टं स मन्यते ।

अकस्मादुष्णशीतार्तो बह्वर्शी दुर्बलः कृशः ॥ २५ ॥

स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः ।

पाणिपादतलौ श्लक्ष्णौ सततास्रयको घृणी ॥ २६ ॥

ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः ।

भिन्नसङ्घातवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः ॥ २७ ॥

क्षयजकास के लक्षण—क्षयजकास में रोगी दुर्गन्धित हरे लालरंग के तथा पूय के सदृश कफ को थूकता है । वह खांसते समय ऐसा अनुभव करता है जैसा हृदय अपने स्थान से हट गया हो । रोगी अकस्मात् उष्ण (गरमी) से पीड़ित और कभी अकस्मात् शीत से पीड़ित होता है । खाता बहुत है परन्तु दुर्बल एवं कृश रहता है । मुख वर्ण और त्वचा स्निग्ध (चिकनी) और

१ ‘ प्रसन्नस्निग्धवदनः ’ ग. । २ ‘ श्रीमद्दर्शनलोचनः ’ पा० ।

साफ (Fair) होती है । नेत्र शोभा वा कान्तियुक्त दिखाई देते हैं । हाथ पैर की तलियां चिकनी होती हैं । वह निरन्तर असूया (दूसरे के गुणों में दोषारोपण) करता है । घृणायुक्त होता है । उसे ज्वर भी होता है । इस ज्वर में तीनों दोषों के लक्षण मिश्रित हुआ करते हैं । पार्श्वशूल, प्रतिश्याय, अरुचि, कभी पतला तथा कभी गाढ़े मल का आना अथवा खण्ड खण्ड करके गाढ़े मल का आना, तथा अनिमित्त ही स्वरभेद होना; ये क्षयजकास में लक्षण होते हैं । अनिमित्त ही स्वरभेद कहने का अभिप्राय यही है कि इसमें यद्यपि कास का वेग तीव्र नहीं होता पर स्वरभेद हो जाता है । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ३ में कहा है—

‘ वायुप्रधानाः कुपिताः धातवो राजयक्ष्मिणः ।

कुर्वन्ति यक्ष्मायतनैः कासं घृतेत्कफं ततः ॥

पूतिपूयोपमं पीतं स्निग्धं हरितलोहितम् ।

लुप्येत इव पार्श्वे च हृदयं पततीव च ॥

अकस्मादुष्णशीतेच्छा बह्वाशित्वं बलक्षयः ।

स्निग्धप्रसन्नवक्त्रत्वं श्रीमदर्शननेत्रता ।

ततोऽस्य क्षयरूपाणि सर्वाण्याविर्भवन्ति च ॥’

सुश्रुत उ० अ० ५२ में कहा है—

स गात्रशूलज्वरदाहमोहान्

प्राणक्षयञ्चोपलभेत कासी ।

शुष्यन् विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु

प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ’ ॥ २४-२७ ॥

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।

साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥ २८ ॥

नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ ।

स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ॥ २९ ॥

क्षयज तथा क्षतज कास की साध्यसाध्यता—यह क्षयजकास क्षीण पुरुषों की मृत्यु का कारण होता है । अथवा बलवान् पुरुषों में यह कास साध्य होता है । इसीप्रकार बलवान् पुरुष में क्षतजकास याप्य होता है ।

क्षयज और क्षतज कास यदि नवीन ही हों तो प्रशस्त चतुष्पाद से युक्त होने पर कदाचित् सिद्ध भी हो जाते हैं ।

वृद्धपुरुषों के वृद्धावस्था में उत्पन्न सब कास याप्य होते हैं । क्षयज कास की असाध्यता के विषय में सुश्रुत उ० अ० ५२ में भी कहा है—

‘ तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं

चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ।

वृद्धत्वमासाद्य भवत्यथो वै

याप्यं तमाहुर्भिषजस्तु कासम् ॥’

वृद्धावस्था में उत्पन्न कास कहने का अभिप्राय उस समय होती हुई स्वाभाविक देह की क्षीणता से उत्पन्न कास से है । अन्य कोपक कारणों से कुपित वात आदि दोष से सामान्यतः उत्पन्न कास तो साध्य वा कुछ कष्टसाध्य होता है । यद्यपि जराकास भी दोषवैषम्य से होता है परन्तु इसका निदान विशेष है और इस समय देह निरन्तर क्षीण हो रहा होता है ॥२८—२९॥

त्रीन्साध्यान्साधयेत्पूर्वान्पथ्यैर्याप्यांश्च यापयेत् ।

इन पांच प्रकार के कासों में से पूर्व के तीन साध्यकासों (वातज, पित्तज, कफज) को चिकित्सा से ठीक करे । और याप्य कासों (क्षतज वा जराकास) का पथ्य सेवन द्वारा यापन करना चाहिये ।

चिकित्सामत ऊर्ध्वं तु शृणु कासनिवर्हिणीम् ॥ ३० ॥
रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ।

सर्पिर्भिर्बस्तिभिः पेयायूषचीररसादिभिः ॥ ३१ ॥

वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तिः ।

अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान् ॥ ३२ ॥

अब इसके पश्चात् कासनाशक चिकित्सा सुनो—

रूत पुरुष को हुए वातज कास में पूर्व स्नेहों से उपचार करना चाहिये । रोगी को घृत सेवन करावें । बस्ति दें । पेया यूष चीर (दूध) तथा मांसरस का आहार दें । वातघ्न द्रव्यों से साधित स्नेह आदि औषध धूम लेह आदि का तथा अभ्यङ्ग परिषेक एवं स्निग्ध स्वेदों का युक्तिपूर्वक प्रयोग करावें ॥ ३०-३२ ॥

बस्तिभिर्बद्धविड्वातं शुष्कोर्ध्वं चौर्ध्वभक्तिकैः ।

घृतैः सपित्तं सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः ॥ ३३ ॥

इन में से बस्ति उन्हें दें जिन रोगियों को मलबन्ध हो वा मल अत्यन्त कठिन हो और पेट में वायु रुका हो । जिनका मल शुष्क हो और वात ऊर्ध्वगति (ऊर्ध्ववात) हो उसे पित्तयुक्त कास में आहार के पश्चात् ऊपर से घी पिलाना चाहिये । और यदि वातकास में कफ भी साथ हो तो उसे स्नेहविरेचन से जीतना चाहिये । अष्टाङ्ग-संग्रह चि० अ० ३ में भी कहा है—

‘बस्तिभिर्बद्धविड्वातं सपित्तं त्वौर्ध्वभक्तिकैः ।

घृतैः क्षीरैश्च सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः ॥’

‘शुष्कोर्ध्व’ का अर्थ ‘शुष्ककास से युक्त’ ऐसा भी कई करते हैं । ‘सपित्तं सकफं स्नेहविरेचनैर्जयेत्’ ऐसा अन्वय भी किया जा सकता है । अर्थात् जब वातकास में पित्त और कफ का अनुबन्ध हो तो स्नेहविरेचन देना चाहिये । परन्तु इस अर्थ से वृद्ध-वाग्भट सहमत नहीं ॥ ३३ ॥

कण्टकारीघृतम् ।

कण्टकारीगुड्डीभ्यां पृथक् त्रिंशत्पलादसे ।

प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वहिदीपनः ॥ ३४ ॥

इति कण्टकारीघृतम् ।

कण्टकारीघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । काथार्थ—छोटी कटेरी ३० पल, गिलोय ३० पल, जल आठ गुना ४८० पल, शेष १२० पल । यथाविधि सिद्ध यह घृत वातज कास को नष्ट करता है । यह अग्निदीपक भी है । मात्रा—आधा तोला । अन्य ६० पल काथ्यद्रव्य २ द्रोण (६४ शराव) में जल डालकर १६ शराव (१२८ पल) काथ अवशिष्ट रखते हैं ॥ ३४ ॥

पिप्पल्यादिघृतम् ।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ।

धान्यपाठावचारास्नायव्याह्वचारहिङ्गुभिः ॥ ३५ ॥

कोलमात्रैर्घृतप्रस्थादशमूलीरसाढके ।

सिद्धाच्चतुर्थिकां पीत्वा पेयामण्डं पिबेदनु ॥ ३६ ॥

तच्छ्वासकासहृत्पार्श्वग्रहणीदोषगुल्मनुत् ।

पिप्पल्याद्यं घृतं चैतदात्रेयेण प्रकीर्तितम् ॥ ३७ ॥

इति पिप्पल्यादिघृतम् ।

पिप्पल्यादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । काथार्थ—दशमूल (मिलित) १ आढक (४ प्रस्थ), जल ८ आढक, अवशिष्ट-काथ २ आढक । कल्कार्थ—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, धनियां, पाठा, वच, रास्ना, मुलहठी, यवचार, हींग; प्रत्येक १ कोल । यथाविधि सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत को १ पल मात्रा में पीकर रोगी पेया का मण्ड पीवे । यह आत्रेयप्रोक्त पिप्पल्याद्य घृत श्वास, कास, हृद्रोग, पार्श्वशूल, ग्रहणीदोष तथा गुल्म को नष्ट करता है । इसकी आधुनिक मात्रा आधा तोला जाननी चाहिये ॥ ३५-३७ ॥

१ ' सश्वासकास० ' पा० ।

त्र्युषणाद्यं घृतम्

त्र्युषणं त्रिफलां द्राक्षां काशमर्याणि परूषकम् ।
 द्वे पाठे देवदार्वृद्धिं स्वगुप्तां चित्रकं शटीम् ॥ ३८ ॥
 व्याघ्रीं तामलकीं मेदां काकनासां शतावरीम् ।
 त्रिकण्टकं विदारीं च पिष्ट्वा कर्षसमं घृतात् ॥ ३९ ॥
 प्रस्थं चतुर्गुणक्षीरे सिद्धं कासहरं पिबेत् ।
 ज्वरगुल्मारुचिहृत्सीहशिरोहृत्पार्श्वशूलनुत् ॥ ४० ॥
 कामलाशोऽनिलाष्टीलाक्षतशोषक्षयापहम् ।
 त्र्युषणाद्यं तु विख्यातमेतद्घृतमनुत्तमम् ॥ ४१ ॥

इति त्र्युषणाद्यं घृतम् ।

त्र्युषणाद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । गौ का दूध ८ प्रस्थ ।
 कल्कार्थ—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, द्राक्षा
 (मुनक्का), गाम्भारीका फल, फालसा, दोनों पाठायें (छोटी और बड़ी),
 देवदारु, ऋद्धि, कौंच, चित्रक, कचूर, छोटी कटेरी मुई आंवला, मेदा,
 काकनासा, शतावर, गोखरू, विदारीकन्द; इन २३ द्रव्यों में
 प्रत्येक का कल्क १ कर्ष । यथाविधि सिद्ध यह घृत कास को
 नष्ट करता है । ज्वर, गुल्म, अरुचि, सीहा (तिल्ली), शिरःशूल,
 हृच्छूल, पार्श्वशूल, कामला, अर्श, वाताष्टीला, उरःक्षत, शोष,
 क्षय; इन्हें नष्ट करने में यह सर्वश्रेष्ठ घृत विख्यात है ।
 मात्रा—आधा तोला ॥ ३८-४१ ॥

रास्नाघृतम्

द्रोणेऽपां साधयेद्रास्नां दशमूलीं शतावरीम् ।
 पलिकान् माणिकांशांस्त्रीन् कुलत्थान्बदरान् यवान् ॥ ४२ ॥
 तुलार्धं चाजमांसस्य पादशेषेण तेन च ।
 घृताढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥ ४३ ॥

३२६

सिद्धं तद्दशभिः कल्कैर्नस्यपानानुवासनैः ।

समीक्ष्य वातरोगेषु यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥ ४४ ॥

पञ्च कासान् शिरःकम्पं शूलं वद्ध्वा योनिजम् ।

सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च सप्लीहोर्ध्वानिलाञ्जयेत् ॥ ४५ ॥

इति रास्नाघृतम् ।

रास्नाघृत—गन्धघृत २ आढक (८ प्रस्थ=१२८ पल)

काथार्थ—रास्ना, बिल्व की छाल, अरल की छाल, गाम्भारी की छाल, पाढल की छाल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, शतावर; प्रत्येक १ पल, कुलत्थ, बेर, जौ; प्रत्येक ८ पल; बकरे का मांस ५० पल, जल २ द्रोण (८ आढक=५१२ पल); अवशिष्ट काथ आधा द्रोण (२ आढक) । गन्ध दुग्ध २ आढक । कल्कार्थ—जीवनीयगण का दस औषधें; प्रत्येक १ पल । यथाविधि साधित इस घृत का सम्यक्तया परीक्षा करके अवस्था के अनुसार नस्य पान तथा अनुवासन द्वारा वातरोगों में प्रयोग करावे । यह घृत पांचों कास, शिरःकम्प, वद्ध्वाशूल, योनिशूल, सर्वाङ्गरोग, एकाङ्गरोग, प्लीहा तथा ऊर्ध्ववात; इन्हें जीतता है । पानार्थ मात्रा—आधा तोला ।

सूत्रस्थान अध्याय ४ में (१०६ पृष्ठ पर) जीवनीयगण की दस औषधें कही जा चुकी है ॥ ४२-४५ ॥

विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिङ्गु सैन्धवम् ।

भार्गी चारश्च तच्चूर्णं पिबेद्वा घृतमात्रया ॥ ४६ ॥

सकफेऽनिलजे कासे श्वासहिकाहताग्निषु ।

विडङ्गादिचूर्ण—वायविडङ्ग, सोंठ, रास्ना, पिप्पली, हीरा, सेन्धानमक, भारंगी, यवक्षार; इनके चूर्ण को समपरिमाण मिश्रित कर घी की मात्रा से रोगी कफयुक्त वातज कास आ

इचकी तथा मन्दाग्रिमें पीवे । चूर्ण की मात्रा ४ रत्ती से १ मासा तक ४६

द्वौ क्षारौ पञ्च कोलानि पञ्चैव लवणानि च ॥ ४७ ॥

शटीनागरकोदीच्यकल्कं वा वस्त्रगालितम् ।

पाययेत घृतोन्मिश्रं वातकासनिवर्हणम् ॥ ४८ ॥

द्विक्षारादिचूर्ण—यवक्षार, सर्जिक्षार, पिप्पली, पिप्पलीमूल, अन्य, चित्रक, सोंठ, सैन्धव, सौवर्चल बिड, औद्धिद, सामुद्र; इन्हें समपरिमाण में मिश्रित कर इस चूर्ण को (१॥ मासा मात्रा में) घी में आलोडित कर अथवा—

शट्यादिकल्क—कचूर, सोंठ, उदीच्य (गन्धवाला); इनके कल्क को वस्त्र से छानकर (६ रत्ती से १॥ मासा तक की मात्रा में) घी में आलोडित कर रोगी को पिलावें । ये वातकास को नष्ट करते हैं ॥ ४७—४८ ॥

दुरालभां शटीं द्राक्षां शृङ्गवेरं सितोपलाम् ।

लिह्यात्कर्कटशृङ्गीं च कासे तैलेन वातजे ॥ ४९ ॥

दुरालभादिलेह—दुरालभा, कचूर, द्राक्षा (मुनक्का), अद-
क्ष, मिसरी, काकड़ासिङ्गी; इन्हें एकत्र समपरिमाण में पीस तिलतैल के साथ वातजकास में रोगी चाटे । मात्रा—२ मासे ।

इनमें कई मिसरी को दुरालभा आदि अन्य द्रव्यों के मिलित प्रमाण के समान मिलाते हैं ॥ ४९ ॥

दुःस्पर्शा पिप्पलीं मुस्तं भार्गीं कर्कटकीं शटीम् ।

पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णितं वापि लेहयेत् ॥ ५० ॥

दुःस्पर्शादिलेह—दुरालभा, पिप्पली, मोथा, भारंगी, काक-
ड़ासिङ्गी, कचूर; इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण को पुराने गुड और तिलतैल के साथ मिला रोगी को चटावें । इसका नाम वस्त्रान्तर में अपराजित लेह भी है । चूर्ण की मात्रा—१ मासा ॥ ५० ॥
बिडङ्गं सैन्धवं कुष्ठं व्योषं हिङ्गु मनःशिलाम् ।

मधुसर्पियुतं कासहिकाश्वासं जयेल्लिहन् ॥ ५१ ॥

विडङ्गादिलेह—वायविडङ्ग, सेन्धानमक, कुठ, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हींग, विशुद्ध मनसिल; इन्हें समपरिमाण में मिश्रितकर मधु और घी के साथ चाटने से कास हिकका और श्वास नष्ट होते हैं। मात्रा—पाव रत्ती से आधी रत्ती तक।

चित्रकादिलेहः

चित्रकं पिप्पलीमूलं व्योषं हिङ्गुं दुरालभाम् ।

शटीं पुष्करमूलं च श्रेयसीं सुरसां वचाम् ॥ ५२ ॥

भार्गीं छिन्नरुहां रास्नां शृङ्गीं द्राक्षां च कार्ष्णिकान् ।

कल्कान् निदिग्ध्यर्धतुलां निःकाथ्य पलविंशतिम् ॥ ५३ ॥

दत्त्वा मत्स्यण्डिकायाश्च घृताच्च कुडवं पचेत् ।

सिद्धं शीतं पृथक् चौद्रपिप्पलीकुडवान्वितम् ॥ ५४ ॥

चतुष्पलं तुगाक्षीर्याश्चूर्णितं तत्र दापयेत् ।

लेहयेत्कासहृद्रोगश्वासगुल्मनिवारणम् ॥ ५५ ॥

इति चित्रकादिलेहः ।

चित्रकादिलेह—चित्रक, पिप्पलीमूल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हींग, दुरालभा, कचूर, पोहकरमूल, गजपिप्पली, तुलसी, वच, भारंगी, छिन्नरुहा (गिलोय), रास्ना, काकड़ासिंगी, मुनक्का; प्रत्येक का कल्क १ कर्ष । क्वाथार्थ—छोटी कटेरी आधी तुला (५० पल), जल १ द्रोण (२५६ पल), अवशिष्ट काथ ६४ पल । इस काथ को वस्त्र से छानकर २० पल मत्स्य-ण्डिका (राव अथवा दानेदार खांड) घोल दें और घी २ कुडव (८ पल) डालकर पकावें । जब गाढ़ा हो जाय तब पूर्वोक्त चित्रक आदि का कल्क या चूर्ण डाल दें और अच्छी प्रकार आलोडित कर नीचे उतार लें । शीतल होने पर मधु २ कुडव

१ ' हिककाश्वासे च कासे च लिङ्गात् चौद्रघृतप्लुतान् ' ग. ।

(८ पल), पिप्पलीचूर्णं १ कुडव (४ पल), और वंशलोचन चूर्ण ४ पल मिश्रित करें । यह लेह कास हृद्रोग श्वास एवं गुल्म को नष्ट करता है । मात्रा—आधा तोला ।

यतः खांड वा मत्स्यण्डिका आदि मलिन होते हैं अतः पहिले साधारण जल के साथ स्वच्छ चाशनी बना लेना उत्तम होगा । इसीप्रकार सर्वत्र समझना चाहिये । पीछे उसमें कांथ और घृत डालकर पकावे ॥ ५२-५५ ॥

अगस्त्यहरीतकी

दशमूलीं स्वयंगुप्तां शङ्खपुष्पीं शटीं बलाम् ।

हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान् ॥ ५६ ॥

भार्गी पुष्करमूलं च द्विपलांशं यवाढकम् ।

हरीतकीशतं भद्रं जले पञ्चाढके पचेत् ॥ ५७ ॥

यवे स्विन्ने कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम् ।

पचेद् गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथक् घृतात् ॥ ५८ ॥

तैलात्सपिप्पलीचूर्णात्सिद्धशीते च माक्षिकात् ।

लिंहाद् द्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात् ॥ ५९ ॥

तद्वलीपलितं हन्ति वर्णयुर्वलवर्धनम् ।

पञ्च कासान् क्षयं श्वासं हिकां च विषमज्वरम् ॥ ६० ॥

हन्यात्तथाऽशोऽग्रहणीहृद्रोगारुचिपीनसान् ।

अगस्त्यविहितं श्रेष्ठं रसायनमिदं शुभम् ॥ ६१ ॥

इत्यगस्त्यहरीतकी ।

अगस्त्यहरीतकी—दशमूल, कौंच के बीज, शङ्खाहुली, कचूर, बलामूल, गजपिप्पली, अपामार्ग, पिप्पलीमूल, चित्रक, भारंगी, पुष्करमूल; ये २० द्रव्य प्रत्येक २ पल, जौ १ आढक (४ प्रस्थ=

१ 'लेहाद् द्वे' इति वृद्धवाग्भटोक्तः पाठः । २ 'हन्याद्' ग. ।
३ 'धन्यमिदं श्रेष्ठं रसायनम्' ग. ।

६४ पल) ढीली पोटली में बांधी उत्तम हरड़ें १००; इन्हें एकत्र १० आठक जल में पकावें । जब जौ गल जाय तब उस काथ को उतार कर निर्मल वस्त्रखण्ड से छान लें । उस काथ में १ तुला (१०० पल) पुराना गुड़, २ कुडव (८ पल) तिलतैल तथा वही स्विन्न हरड़ें (जिनमें से चीरा देकर गुठली निकाल ली हो) डालकर पकावें । जब यथावत् पाक हो जाय तब नीचे उतार लें और शीतल होने पर पिप्पलीचूर्ण ४ पल और मधु ८ पल मिलावें । रोगी इस लेह को चाटे और इसमें से दो हरड़ें नित्य खाये ।

वृद्धवैद्य स्विन्न हरड़ों को पूर्व घी और तैल में भर्जित कर लेते हैं । ठीक भर्जन हो जाने पर काथ और गुड़ डालकर पकाते हैं । जब पाकशेष का समय होता है तब पिप्पली चूर्ण डाल आलोडित कर नीचे उतार लेते हैं और शीतल होने पर मधु मिलाते हैं । यही प्रचलित व्यवहार है ।

जौ का यथावत् स्विन्न होना जल के चतुर्थांश (२॥ आठक) रहने तक ही होता है । आधुनिक मात्रा—लेह १ तोला और हरड़ १ तोला ।

यह लेह रसायन है । बलीपलित को नष्ट करता है । वर्ण आयु एवं बल को बढ़ाता है । अगस्त्यमुनि—प्रोक्त शुभ और श्रेष्ठ यह रसायन पांचों कास क्षय श्वास हिचकी विषमज्वर अर्श ग्रहणी हृद्रोग अरुचि तथा प्रतिश्याय को नष्ट करता है ।

इस योग में मधु और घृत का प्रमाण समान होने पर भी द्रव्यान्तर का योग होने से विरुद्ध नहीं होगा । केवल घृत और मधु का समान प्रमाण में मिश्रण होने पर विरुद्धता होती है, द्रव्यान्तर का योग होने पर नहीं ।

‘ लिह्याद् द्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात् ’ का यह

अर्थ भी किया जाता है कि इस रसायन में से दो हरड़ें निकालकर पूर्व उन्हें चाटें और पीछे से खा ले । इसका अभिप्राय यह है कि दो हरड़ें निकालते समय उन पर जितना लेह लगा हो पूर्व उसे चाट ले और पीछे से हरड़ों को खा जाय ॥ ५६-६१ ॥

सैन्धवं पिप्पलीं भार्गीं शृङ्गवेरं दुरालभाम् ।

दाडिमाम्लेन कोष्णेन भार्गीनागरमम्बुना ॥ ६२ ॥

सैन्धवनमक, पिप्पली, भारंगी, अदरक वा सोंठ, दुरालभा (धमासा); इनके चूर्ण को (१ मासा मात्रा में) खट्टे अनार के रस के साथ पीवे । अथवा भारंगी और सोंठ के चूर्ण को कोसे जल से सेवन करे ॥ ६२ ॥

पिवेत्स्वदिरसारं वा मदिरादधिमस्तुभिः ।

अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम् ॥ ६३ ॥

अथवा कत्थे के चूर्ण को मदिरा दही वा दही के जल के साथ रोगी पीवे । अथवा पिप्पली के कल्क को घी में भून कर थोड़ा सा सेन्धानमक मिला उक्त मदिरा आदि के अनुपानों के साथ पीवे ॥ ६३ ॥

शिरसः पीडने स्नावे नासाया हृदि ताम्यति ।

कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥ ६४ ॥

धूमविधान—शिरमें गुरुता वेदना आदि होने पर नासास्त्राव (नाक से पानी का बहना) में तथा हृदय के ग्लानि युक्त होने पर कास एवं प्रतिश्याय के रोगियों को वैद्य धूमपान करावे ॥ ६४ ॥

दशाङ्गुलोन्मितां नाडीमथवाऽष्टाङ्गुलोन्मिताम् ।

शरावसंपुटे च्छिद्रं कृत्वा जिह्वां विचक्षणः ॥ ६५ ॥

वैरेचनं मुखेनैव कासवान् धूममापिबेत् ।

तमुरः केवलं प्राप्तं मुखेनैवोद्वमेत्पुनः ॥ ६६ ॥

स ह्यस्य तैत्तल्यादिच्छेद्य श्लेष्माणमुरासि स्थितम् ।

निष्कृष्य शमयेत्कासं वातश्लेष्मसमुद्भवम् ॥ ६७ ॥

धूमपान की विधि—एक सकोरे में धूमद्रव्य को डालकर दूसरे सच्छिद्र सकोरे से मुख बन्द कर दें । बुद्धिमान् वैद्य इस छिद्र में १० अंगुल या ८ अंगुल लम्बी नाली टेढ़ी करके लगा दे अर्थात् लम्बरूप में सीधी न लगावे अपितु सकोरे के साथ न्यूनकोण बनाती हुई लगावे ।

रोगी मुख से ही इस वैरेचन (कफ को बाहिर निकालने वाले) धूम को पीवे । धूम सम्पूर्ण छाती (फेफड़ों) में पहुंच जायगा । पुनः मुख से ही धूम को निकाले ।

वह धूम तीक्ष्णता के कारण छाती में स्थित कफ को काटकर निकाल देता है और अतएव वातकफज कास को शान्त करता है ॥ ६५-६७ ॥

मनःशिलालमधुकमांसीमुस्तेजुदैः पिबेत् ।

धूमं तस्यानु च क्षीरं सुखोष्णं सगुडं पिबेत् ॥ ६८ ॥

एष कासान् पृथग्दोषसन्निपातसमुद्भवान् ।

धूमो हन्यादसंसिद्धानन्यैर्योगैश्चैतैरपि ॥ ६९ ॥

मनःशिलादि धूम—मनःशिला, हड़ताल, मुलहठी, जटामांसी (बालछड़), मोथा, इङ्गुदीफल (हिंगोट); इन्हें मिश्रित कर पूर्वोक्त विधान के अनुसार धूमपान करावें । धूमपान के पश्चात् सुहाते गरम दूध में गुड मिला रोगी पीवे ।

चक्रपाणि इङ्गुदी से पुत्रजीवक (जियापोते) का ग्रहण करता है ।

शिवदास ने तत्त्वचन्द्रिका टीका में कहा है कि मनःशिला

१ 'धूमं त्र्यहञ्च तस्यानु सगुडञ्च पयः पिबेत्' इति संग्रहे चक्रः पठति ।
२ 'कदुष्णं' ग. ।

आदि धूमद्रव्य को छागमूत्र से पीसकर निर्मल वस्त्र पर लिप्त करें और धूप में सुखा लें । पश्चात् वर्ति बना शरावसम्पुट में रख दें । शरावसम्पुट के नीचे बेरी की लकड़ी के निर्धूम अङ्गारे होने चाहियें ।

यह धूम अन्य सैकड़ों योगों से भी निवृत्त न होने वाले वातज पित्तज कफज वा सान्निपातिक कासों को नष्ट करता है । सान्निपातिक कास का यद्यपि पूर्व परिगणन नहीं है परन्तु सान्निपातिक कास होता है । और वह यतः प्रकृतिसमसन्निपात से होता है अतएव उसका पूर्व परिगणन नहीं किया । चक्रपाणि ने अपने संग्रह में यह पाठ किया है—

‘एष कासान् पृथग्द्वन्द्वसन्निपातसमुद्भवान् ।

शतैरपि प्रयोगाणां साधयेदप्रसाधितान् ॥’

अथवा ‘सान्निपातिक’ से क्षयज कास का ग्रहण करना चाहिये । कहा भी जायगा—

‘सन्निपातोद्भवो दोषः क्षयकासः सुदारुणः ।

सन्निपातहितं तस्मात्कार्यमत्र भिषग्जितम् ॥’

यह धूम रोगोत्पादक जीवाणुओं के नाश करने में भी समर्थ है ॥ ६८-६९ ॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं शार्ङ्गेष्टां समनःशिलाम् ।

मरिचं पिप्पलीं द्राक्षांमेलानां सुरसमञ्जरीम् ॥ ७० ॥

कृत्वा वर्तिं पिबेद्भूमं क्षौमचेलानुवर्तिताम् ।

घृताक्लामनु च क्षीरं गुडोदकमथापि वा ॥ ७१ ॥

प्रपौण्डरीकाद्य धूमवर्ति—पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, शार्ङ्गेष्टा (महाकरञ्ज), मनःशिला, कालीमिर्च, पिप्पली, मुनक्का, छोटी इलायची, तुलसी की मञ्जरी, इनके कल्क को क्षौमवस्त्र पर लिप्त करें । गुष्क होने पर बत्ती बनालें । इस बत्ती को धी से तर करके उसका

धूमपान करे । धूमपान के पश्चात् दूध अथवा गुड का शरबत पीवे ॥ ७०-७१ ॥

मनःशिलैलामरिचक्षाराञ्जनकुटन्नटैः ।

वंशलोचनसेव्यालक्षौमलक्करोहिषैः ॥ ७२ ॥

पूर्वकल्पेन धूमोऽयं सानुपानो विधीयते ।

मनःशिलादिधूमवर्ति—मनसिल, छोटी इलायची, काली मिर्च, यवक्षार, अञ्जन, कुटन्नट (केवटी मोथा), वंशलोचन, सेव्य (उशीर, खस), हरिताल, क्षौम (अलसी) लक्करोहिष (लाक्षारञ्जित रुई), रोहिष (गन्धवृण); इनके श्लक्ष्णपिप्पली कल्क से पूर्वोक्त विधि के अनुसार बत्ती बना कर घी में भिगो उसका धूमपान किया जाता है । धूमपान के पश्चात् पूर्ववत् दूध वा गुड का शरबत रोगी को पिलाना चाहिये ॥ ७२ ॥

आलं मनःशिला तद्वत्पिप्पलीनागरैः सह ॥ ७३ ॥

हरितालादिधूमवर्ति—उक्त मनःशिलादिधूमवर्ति के सह ही हरिताल, मनःशिला, पिप्पली, सोंठ; इनके धूमपान का विधान है ॥ ७३ ॥

त्वगैङ्गुदी बृहत्यौ द्वे तालमूली मनःशिला ।

कार्पासास्थ्यश्वगन्धा च धूमः कासविनाशनः ॥ ७४ ॥

इङ्गुदीत्वगादिधूम—हिङ्गोट के फल का छिलका, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, मूसली, मनसिल, कपास के बिनौले, अश्वगन्ध; इनका धूम कास को नष्ट करता है । इसकी वर्ति बनाकर अथवा शरावसम्पुट में डालकर धूमपाननलिका से धूमपान करना चाहिये । वर्तिनिर्माण का विधान सूत्रस्थान के मात्राशितोक्त अध्याय में हो चुका है । अथवा सामान्य बत्ती बनाकर शरावसम्पुट में डालकर भी धूमपान किया जा सकता है । शरावसम्पुट का प्रकार इसी अध्याय में पूर्व कह चुके हैं ॥ ७४ ॥

ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान् ।

रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्वितान् ॥ ७५ ॥

वातकास में पथ्य—ग्राम्य (बकरा आदि), आनूप तथा
मूल में उत्पन्न जन्तुओं के मांसरसों से अथवा उड़द और कौंच
के यूषों से शालि, जौ, गेहूं और सांठी के अन्न का सेवन करावें ।

काली यह वातजकास में हितकर है ॥ ७५ ॥

यवानीपिप्पलीबिल्वशटिचित्रकपुष्करैः ।

रास्नाजार्जापृथक्पर्णीपलाशविश्वभेषजैः ॥ ७६ ॥

स्निग्धाम्ललवणां सिद्धां पेयामनिलजे पिबेत् ।

कटीहृत्पार्श्वकोष्ठार्तिश्वासहिकाप्रणाशिनीम् ॥ ७७ ॥

यवान्यादिपेया—अजवाइन, पिप्पली, बेलगिरी, कचूर,
चित्रक, पोहकरमूल, रास्ना, अजाजी (श्वेत जीरा), पृथक्पर्णी
(पृथ्वीपर्णी), पलाश (ढाक की छाल), सोंठ; इनसे
यथाविधि साधित शालि आदि की पेया—जो घृत आदि से
स्निग्ध, अनार के रस आदि से अम्लीकृत एवं नमकीन हो—
वातज कास में रोगी पीवे । यह कमर का दर्द हृच्छूल पार्श्वशूल
कोष्ठ का शूल (पेट-दर्द) श्वास तथा हिका को नष्ट
करता है ॥ ७६-७७ ॥

दशमूलीरसे तद्वत्पञ्चकोलगुडान्विताम् ।

सिद्धां समतिलां दद्यात्क्षीरे वापि ससैन्धवाम् ॥ ७८ ॥

उसीप्रकार दशमूल के काथ से यथाविधि पेया को सिद्ध
कर पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ)-
पर्णी तथा गुड का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलावें । दशमूल का
काथ षडङ्गपानीय के सदृश किया जायगा ।

अथवा समपरिमाण में मिश्रित तिल और शालि (अथवा
षष्टिक) चावलों से दूध में यथाविधि साधित पेया (वा खीर)

रोगी को पिलावें । अथवा समपरिमाण में मिश्रित तिल और चावलों से सेन्धानमक से नमकीन की हुई पेया बनावें । इस प्रकार ये तीन योग होते हैं ।

गंगाधर ने दूध से साधित पेया में ही सैन्धव डालने को कहा है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ में भी ये योग हैं—

‘ दशमूलरसे तद्वत् पञ्चकोलगुडान्विताम् ।

पिबेत्समतिलां पेयां क्षैरेयी वा ससैन्धवाम् ’ ॥ ७८ ॥

मत्स्यकौक्कुटवारहैरामिषैर्वा घृतान्विताम् ।

सिद्धां ससैन्धवां पेयां वातकासी पिबेन्नरः ॥ ७९ ॥

अथवा मछली, मुर्गा, सूअर; इनके मांसों से यथाविधि साधित घृत तथा सेन्धानमक से युक्त पेया को वातकास से पीड़ित पुरुष पीवे । पेयासाधनार्थ मांसरस का साधन करने के लिये प्राचीन परिभाषाके अनुसार मांस ४ पल लिया जाता है और उसे २ आठक (दप्रस्थ=१२८ पल) जल में पकाया जाता है, जब ६४ पल अवशिष्ट रह जाता है तब उतार कर छान लिया जाता है । इस मांसरस से यवागू सिद्ध किया जाता है । मांस रसप्रधान है अतएव ४ पल मात्रा में लिया जाकर २ आठक जल में अर्धशृत किया जाता है । वीर्यप्रधान द्रव्यों को १ कर्ष प्रमाण में लेकर २ प्रस्थ जल में अर्धशृत करने का विधान है ॥ ७९ ॥

वास्तुको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम् ।

सेहास्तैलादयो भक्ष्याः क्षीरेक्षुरसगौडिकाः ॥ ८० ॥

दध्यारनालाम्लफलप्रसन्नापानमेव च ।

शस्यते वातकासे तु स्वाद्वम्ललवणानि च ॥ ८१ ॥

इति वातकासचिकित्सा ।

वथुआ, मकोय, सूखी वा कच्ची मूली, सुनिषण्णक

(१ ‘ ससैन्धवां पाययेत् यवागूं वातकासिनम् ’ ग. ।

और (चौपतिया), तिलतैल घी आदि स्नेह, दूध, गन्ने का रस, गुड
 इस से बने भक्ष्य (खांड मिसरी तथा अन्य भोज्य पदार्थ), का
 भोजन तथा दही, आरनाल (कांजी), खट्टे फलों का रस, प्रसन्ना
 (सुरामण्ड); इनका पीना तथा अन्य मधुरं अम्ल एवं नमकीन
 पदार्थों का सेवन वातकास में प्रशस्त है ॥ ८०-८१ ॥

पैत्तिके सकफे कासे वमनं सर्पिषा हितम् ।

तथा मदनकाशमर्यमधूककथितैर्जलैः ॥ ८२ ॥

पैत्तिककासचिकित्सा—कफयुक्त पैत्तिक कास में वमन-
 द्रव्ययुक्त घी से वमन करावे । अथवा मैन्फल, गाम्भारी का
 फल, महुआ; इनके काथ से वमन कराना चाहिये ॥ ८२ ॥

यष्ट्याह्वफलकल्कैर्वा विदारीक्षुरसाप्लुतैः ।

हृतदोषस्ततः शीतं मधुरं च क्रमं भजेत् ॥ ८३ ॥

जब संशोधन द्वारा दोष का हरण कर लिया जाय तब
 शीतल और मधुर पेया आदि क्रम का सेवन करे ॥ ८३ ॥

पैत्ते तनुकफे कासे त्रिवृतां मधुरैर्युताम् ।

दद्याद्धनकफे तिक्रैर्विरेकार्थे युतां भिषक् ॥ ८४ ॥

यदि पैत्तिककास में कफ पतला हो तो विरेचन के लिये
 मधुरद्रव्यों से युक्त त्रिवृत् (निसोत) का प्रयोग करना चाहिये ।
 यदि कफ गाढ़ा हो तो वैद्य विरेचनार्थ तिक्रद्रव्यों से युक्त त्रिवृत्
 चूर्ण दे ॥ ८४ ॥

स्निग्धशीतस्तनुकफे रूक्षशीतः कफे घने ।

क्रमः कार्यः परं भोज्यैः स्नेहैर्लेहैश्च शस्यते ॥ ८५ ॥

विरेचन के पश्चात् पतले कफ वाले को स्निग्ध एवं शीत
 पेया आदि क्रम का और गाढ़े कफ वाले को रूक्ष एवं शीत

१ 'विदारीक्षुरसाप्लुतैः' मा० ॥

पेयादि क्रम कराना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ में भी कहा है—

‘ हृतदोषो हिमं स्निग्धं स्वादु संसर्जनं भजेत् ।

घने कफे तु शिशिरं रूक्षं तिक्तोपसंहितम् ॥’

पेयादिक्रम के पश्चात् अन्य भोज्य स्नेह तथा लेह आदि से उपचार करना चाहिये ॥ ८५ ॥

शृङ्गाटकं पद्मबीजं नीली साराणि पिप्पली ।

पिप्पलीमुस्तयष्ट्याह्वद्राक्षामूर्वामहौषधम् ॥ ८६ ॥

लाजाऽमृताफलद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीसिताः ।

पिप्पली पद्मकं द्राक्षा बृहत्याश्च फलाद्रसः ॥ ८७ ॥

खर्जूरं पिप्पली वांशी श्वदंष्ट्रा चेति पञ्च ते ।

घृतक्षौद्रयुता लेहाः श्लोकार्धैः पित्तकासिनाम् ॥ ८८ ॥

पित्तकास में पांच लेह—१ सिङ्गाड़ा, पद्मबीज (कमल के बीज) नीलीमूल, प्रसारणी, पिप्पली ।

२—पिप्पली, मोथा, मुलहठी, द्राक्षा (मुनक्का), मूर्वामूल, सोंठ ।

३—लाजा, आंवला, मुनक्का, वंशलोचन, पिप्पली, खांड ।

४—पिप्पली, पद्माख, मुनक्का, बृहती (बड़ी कटेरी) के फल का रस ।

५—पिण्डखजूर, पिप्पली, वंशलोचन, गोखरू ।

घी और मधु के साथ ये पांचों लेह पित्तकास में प्रयुक्त होते हैं ।

चक्रपाणि ने प्रथम लेह योग में ‘ नीलीसाराणि पिप्पली ’ ऐसा पढ़ा है । नीलीसार से वह नीलीफल के सार को लेने को कहता है । इसप्रकार प्रसारणी का ग्रहण नहीं होता । मैं तो समझता हूं कि ये दोनों पाठ ही अशुद्ध हैं वस्तुतः ‘ नीली वारण-पिप्पली ’ ऐसा पाठ होना चाहिये ॥ ८६-८८ ॥

शर्कराचन्दनद्राक्षाधुधात्रीफलोत्पलैः ।

पैत्ते समुस्तमरिचः सकफे सघृतोऽनिले ॥ ८६ ॥

शर्करादिलेह—पैत्तिक कास में खांड, चन्दन, मुनक्का, शहद, आंवला, नीलोत्पल; इस लेह का प्रयोग कराना चाहिये ।

‘ चूर्णस्नेहासवा लेहाः साध्या धवलचन्दनैः ॥

कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम् ॥ ’

इस परिभाषा के अनुसार चन्दन से श्वेत चन्दन का ग्रहण करना चाहिये । परन्तु वैद्य प्रायशः लालचन्दन का ग्रहण करते हैं ।

कफयुक्त पैत्तिककास में इस लेह में मोथा और मरिचचूर्ण भी मिलाया जाता है । वातयुक्त पैत्तिककास में उक्त शर्करादिलेह में घी भी मिलाना चाहिये । लेह की मात्रा—आधा तोला ।

मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत्पिप्पली शर्करापलम् ।

लेहयेन्मधुना गोर्वा क्षीरपस्य शकृद्रसम् ॥ ६० ॥

मुनक्का ५०, पिप्पली ३०, खांड १ पल; इन्हें एकत्र पीस मधु के साथ रोगी चाटे । मात्रा—चौथाई तोला । अथवा केवल दूध पीने वाले गौ के बछड़े के गोबर के रस को मधु के साथ पित्तकास में चटाना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह में भी ये दोनों योग इसी प्रकार पढ़े हैं ॥ ६० ॥

त्वगेलाव्योषमृद्वीकापिप्पलीमूलपौष्करैः ।

लाक्षासुस्तशटीरास्नाधात्रीफलविभीतकैः ॥ ६१ ॥

शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्लेहः कासविनाशनः ।

श्वासं हिकां क्षयं चैव हृद्रोगं च प्रणाशयेत् ॥ ६२ ॥

त्वगादिलेह—दालचीनी, छोटी इलायची, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, मुनक्का, पिप्पलीमूल, पुष्करमूल, लाजा, मोथा, कचूर, रास्ना, आंवला, बहेड़ा, खांड; इस चूर्ण को मधु और घी के साथ रोगी

१ ‘ गोर्वा क्षीरे पक्त्वा ’ ग. ।

को चटायें। कई खांडको दालचीनी आदि के सम्पूर्ण चूर्ण के समान मिलाते हैं। यह लेह कास आस हिका क्षय और हृद्रोग को नष्ट करता है। मात्रा—४ मासे ॥ ६१=६२ ॥

पिप्पल्यामलकं द्राक्षां लाक्षां लाजान् सितोपलाम्।

क्षीरे पक्त्वा घनं शीतं लिह्यात्क्षौद्राष्टभागिकम् ॥ ६३ ॥

पिप्पल्यादिलेह—पिप्पली, आवला, द्राक्षा, कच्ची लाल, लाजा, मिसरी; इन्हें समपरिमाण में मिला चौगुने दूध में डाल कर पकावें। जब मावा बन जाय तब शीतल होने पर उससे आठवां भाग मधु मिला रोगी चाटे। मात्रा—आधा तोला ६३

विदारीक्षुमृणालानां रसान् क्षीरं सितोपलाम्।

पिवेद्रा मधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम् ॥ ६४ ॥

विदारीकन्द का रस, ईख का रस, मृणाल (कमलदण्ड) का रस, दूध और मिसरी; इन्हें समपरिमाण में मिला मधु डाल रोगी पीवे। यह परम पित्तकास-नाशक है ॥ ६४ ॥

मधुरैर्जाङ्गलरसैः श्यामाकयवकोद्रवाः।

मुद्गादियूषैः शकैश्च तिक्तकैर्मन्त्रया हिताः ॥ ६५ ॥

जाङ्गल पशुपक्षियों के मधुर मांतरस मूंग आदि के यूप तथा तिक्करस वाले शाकों के साथ मात्रा में श्यामाक (सेऊआ) जौ और कोदों के अन्न का भोजन हितकर होता है ॥ ६५ ॥

घनश्लेष्मणि लेहास्तु तिक्तका मधुसंयुताः।

शालयः स्युस्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभिः ॥ ६६ ॥

गाढ़े कफ में लेह तिक्करस वाले तथा मधुसंयुक्त होने चाहियें। पतले कफ में शालि तथा षष्टिक (सांठी) के अन्न (भात) को मांतरस आदियों के साथ भोजनार्थ देना चाहिये ॥ ६६ ॥

शर्कराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षूणां रसान् पयः।

सर्वं च मधुरं शीतमविदाहि प्रशस्यते ॥ ६७ ॥

अनुपान के लिये खांड का शरबत, अंगूर का रस, ईख का रस, दूध तथा अन्य भी वे सब द्रव जो मधुर शीतल तथा अविदाही (विदाह को उत्पन्न न करने वाले) हों प्रशस्त हैं ॥६७॥

काकोलीबृहतीमेदायुग्मैः सवृषनागरैः ।

पित्तकासे रसान् क्षीरं यूषांश्चाप्युपकल्पयेत् ॥ ६८ ॥

पित्तकास में काकोली, क्षीरकाकोली, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, मेदा, महामेदा, अडूसा, सोंठ; इनके काथ से मांसरस, दूध अथवा मूंग आदि के यूष की कल्पना करे ॥ ६८ ॥

शरादिपञ्चमूलस्य पिप्पलीद्राक्षयोस्तथा ।

कषायेण शृतं क्षीरं पिबेत्समधुशर्करम् ॥ ६९ ॥

शरादिपञ्चमूलक्षीर—शर (सरकण्डे) की जड़, काश की जड़, दर्भ की जड़, ईख की जड़, शालि की जड़, पिप्पली, मुनक्का; इनके (षडङ्ग परिभाषा के अनुसार साधित) क्वाथ (चतुर्गुण) से यथाविधि साधित दूध में मधु और खांड अथवा मधुशर्करा मिलाकर रोगी पीवे ॥ ६९ ॥

स्थिरासिताष्टिपृश्निपर्णीश्रावणीबृहतीयुगैः ।

वीरर्षभककाकोलीतामलक्यृद्धिजीवकैः ॥ १०० ॥

शृतं पयः पिबेत्कासी ज्वरी दाही क्षतक्षयी ।

शालपर्णी, खांड, पृश्निपर्णी, मुण्डी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, क्षीरकाकोली, ऋषभक, काकोली, भुई आंवला, ऋद्धि, जीवक; इनसे यथाविधि सिद्ध दूध कास ज्वर वा दाह से पीड़ित तथा उरःक्षत से उत्पन्न क्षय का रोगी पीवे ॥ १०० ॥

१ अथवा युग्मैरिति बृहतीमेदाभ्यां युज्यते न काकोल्या जतूकर्णसंवादात् । यदाह—वृषकाकोलीशुण्ठीमेदाबृहतीयुग्मैरिति । २ 'सितास्थिरा०' ग. ।

३ 'जीवकर्षभकाकोलीतामलक्यृद्धिजीवकैः ।' पा० ।

३३१

तज्जं वा साधयेत्सर्पिः सक्षीरेक्षुरसं भिषक् ॥ १०१ ॥

जीवकाद्यैर्मधुरकैः फलैश्चाभिषुकादिभिः ।

कल्कैस्त्रिकार्षिकैः सिद्धे पूतशीते प्रदापयेत् ॥ १०२ ॥

शर्करापिप्पलीचूर्णं त्वक्क्षीर्या मरिचस्य च ।

शृङ्गाटकस्य चावाप्य क्षौद्रगर्भान् पलोन्मितान् ॥ १०३ ॥

गुडान् गोधूमचूर्णेन कासे खादेद्विंशतः ।

शुक्रासृग्दोषशोषेषु कासे क्षीणक्षतेषु च ॥ १०४ ॥

अथवा वैद्य इस संस्कृत दूध से निकाले घी को दूध और ईख के रस तथा जीवक आदि मधुरगण (जीवनीय गण) तथा अभिषुक (पिस्ता) आदि (बादाम, अखरोट, मुकूलक, निकोचक, उरुमाण) फलों के प्रत्येक के ३ कर्ष कल्क से सिद्ध करें । सिद्ध होने पर वस्त्र से छान लें । जब शीतल होजाय तब खांड, पिप्पली, वंशलोचन, कालीमिर्च, सिद्धाङ्ग; इनके चूर्ण का प्रक्षेप देकर गेहूं के आटे में इसे मिश्रित करें और मधु डालकर १ पल के लड्डू बना लें । पथ्यभोजी रोगी को इनका सेवन करावें । यह वीर्यदोष, आर्तवदोष, शोष, कास, क्षय तथा उरुक्षत को नष्ट करता है ।

क्षीरसाधन की परिभाषा निम्न है—

‘द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् ।

क्षीरावशेषः कर्तव्य क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥’

जब घी का प्रमाण नहीं कहा होता तो ऐसे स्थानों पर घृत की मात्रा २ प्रस्थ ली जाती है । इस योग में दूध २ प्रस्थ तथा ईख का रस ८ प्रस्थ लिया जायगा । कई दूध २ प्रस्थ और ईख का रस ६ प्रस्थ लेते हैं । प्रक्षेप सामान्यतः घी से चतुर्थार्श डाल

१ ‘कृत्वा’ पा० ।

२ इनके गुण सूत्रस्थान २७ अ० में ७७१ पृष्ठ पर कहे जा चुके हैं । यद्यपि वहां इन्हें पित्तवर्धक कहा है । परन्तु संस्कार से यहां घृत लाभकर है ।

अ० १८]

जाता है। इसमें गेहूं का आटा इतना मिलाना चाहिये जिससे मधु मिलाया जाकर भी लड्डू बन सकें। मधु की मात्रा इतनी ही हो जिससे लड्डू में मिठास आजाय। अथवा ग्यारहवें अध्याय में कहे गये द्वितीय सर्पिर्गुडक के योग के अनुसार उसी अनुपात में प्रक्षेप तथा मधु डालना चाहिये। गेहूं के आटे को घी में भून लेना चाहिये। आधुनिक मात्रा—आधा तोला से एक तोला तक। ये सर्पिर्गुडक हैं।

गङ्गाधर तो कहता है कि प्रक्षेप युक्त संस्कृत घी में गेहूं का आटा मिलाकर गुडक बनावें। उस गुडक के मध्य में मधु भरा होना चाहिये जैसे कचौरी आदि में पीठी भरी होती है। पश्चात् उन्हें पकाकर रोगी खावे। आहारार्थ सामान्य नियम के अनुसार तो मधु को गरम ही न करना चाहिये ॥ १०१-१०४ ॥

शर्करानागरोदीच्यं कण्टकारीं शर्टीं समाम् ।

पिष्ट्वा रसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम् ॥ १०५ ॥

खांड, सोंठ, सुगन्धवाला, छोटी कटेरी, कचूर, इन्हें समपरिमाण में जल के साथ कल्क के सदृश पीसकर वस्त्र में डाल रस निचोड़ लें। उस रस में घी डाल आलोडित कर रोगी पीवे। अथवा सब द्रव्यों को ताजा गीला ही लेकर रस निचोड़ना चाहिये। रस की आधुनिक मात्रा—१ तोला। इसमें यथायोग्य चौथाई व आधा तोला गौ का घी मिलाना चाहिये।

वृद्धवाग्भट ने कण्टकारी के स्थान पर बृहती पढ़ा है ॥ १०५ ॥

महिष्यजाविगोक्षीरधात्रीफलरसैः समैः ।

सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या पित्तकासनिवर्हणम् ॥ १०६ ॥

इति पित्तकासचिकित्सा ।

गव्यघृत २ प्रस्थ। भैंस का दूध २ प्रस्थ। बकरी का दूध २ प्रस्थ। भेड़ का दूध २ प्रस्थ। गौ का दूध २ प्रस्थ। आंवले का

रस २ प्रस्थ । इनसे यथाविधि घी को सिद्धकर युक्तिपूर्वक पीवे । यह पित्तकास-नाशक है । मात्रा—आधे तोले से एक तोले तक ॥ १०६ ॥

अथ कफकासचिकित्सा—

बलिनं वमनैरादौ शोधयेत्कफकासिनम् ।

यवान्नैः कटुरुक्षोष्णैः कफघ्नैश्चाप्युपाचरेत् ॥ १०७ ॥

कफकासचिकित्सा—जो कफकास का रोगी चलवान् हो उसे पूर्व वमन द्वारा शोधन कराकर कफनाशक कटु रुक्ष एवं उष्ण जौ के अन्न का पथ्य करावे ॥ १०७ ॥

पिप्पलीक्षारिकैर्यूषैः कौलत्थैर्मूलकस्य च ।

लघून्यन्नानि भुञ्जीत रसैर्वा कटुकान्वितैः ॥ १०८ ॥

धान्ववैलरसैः स्नेहैस्तिलसर्पपवित्त्वजैः ।

पिप्पली तथा यवक्षार आदि क्षारों से संस्कृत कुलथी के वा मूली के यूष से अथवा कालीमिर्च सोंठ पिप्पली प्रभृति कटु द्रव्यों से युक्त धन्वदेश(जाङ्गल)में उत्पन्न पशु-पक्षियों के अथवा विलेश्यों के मांसरसों से तथा तिल सरसों वा बित्त्वबीज के तैलों से रोगी लघु अन्न का भोजन करे ॥ १०८ ॥

मध्वम्लोष्णाम्बुतक्रं वा मद्यं वा निगदं पिबेत् ॥ १०९ ॥

अनुपानार्थं शहद का शरबत, कांजी आदि अम्लद्रव, गरम जल अथवा स्वच्छ मद्य का प्रयोग करना चाहिये ॥ १०९ ॥

पौष्कराग्वधं मूलं पटोलं तैर्निशास्थितम् ।

जलं मधुयुतं पेयं कालेष्वन्नस्य वा त्रिषु ॥ ११० ॥

पुष्करमूलादिपानीय—पोहकरमूल, अमलतास की जड़ की छाल, परवल की नाडी वा लैता; इनसे यथाविधान रात्रि में रसे

१ ' निम्बजैः ' इति वृद्धवाग्भटोक्तः पाठः । २ ' रात्रिषु ' ग० ।

३ ' पटोलपत्रं पित्तघ्नं नालं चास्य कफापहम् । फलं त्रिदोषशमनं चास्य विरेचनम् । ' इति राजनिघण्टुः ।

जल (शीतकषाय) में मधु मिला आहार के आदि मध्य तथा अन्त तीनों कालों में पीवे । शीतकषाय में जल छह गुना लिया जाता है ॥ ११० ॥

कट्फलं कत्तृणं भार्गी मुस्तं धान्यं वचाऽभया ।

शुण्ठीं पर्पटकं शृङ्गी सुराहं च शृतं जले ॥ १११ ॥

मधुहिङ्गुयुतं पेयं कासे वातकफात्मके ।

कण्ठरोगे क्षये शूले श्वासहिक्काज्वरेषु च ॥ ११२ ॥

कट्फलादिकाथ—कट्फल, कत्तृण (सुगन्धितृण), भार्गी, मोथा, धनियां, बच, हरड़, सोंठ, पित्तपापड़ा, काकड़ासिङ्गी, देवदारु; इनका यथाविधि जल में काथ कर छान ले । पश्चात् मधु और हींग यथायोग्य मात्रा में डालकर वातकफज कास में पीना चाहिये । काथ्यद्रव्य को २ तोला प्रमाण में लेकर १६ गुना जल में काथ कर चतुर्थांश रहने पर उतारकर छान लेना चाहिये । यह काथ कण्ठरोग क्षय शूल श्वास हिक्का एवं ज्वर में भी प्रयुक्त होता है ॥ १११-११२ ॥

पाठां शुण्ठीं शटीं मूर्वा गवाक्षीं मुस्तपिप्पलीम् ।

पिष्ट्वा घर्माम्बुना हिङ्गुसैन्धवाभ्यां युतां पिबेत् ॥ ११३ ॥

पाठा (पाढ़), सोंठ, कचूर, मूर्वामूल, इन्द्रायण की जड़, मोथा, पिप्पली; इन्हें पीस गरम जल में आलोडित कर उचित मात्रा में हींग और सेन्धानमक डालकर रोगी पीवे । कल्क की मात्रा—१ मासे से २ मासे तक ॥ ११३ ॥

नागरातिविषामुस्तं शृङ्गीं कर्कटकस्य च ।

हरीतकीं शटीं चैव तेनैव विधिना पिबेत् ॥ ११४ ॥

सोंठ, अतीस, मोथा, काकड़ासिंगी, हरड़, कचूर; इन्हें इसी

१ ' कण्ठरोगे मुखे शूले ' तथा ' कण्ठरोगेषु मुख्येषु ' पा० । ' कण्ठ-रोगे मुखे शूले ' ग० ।

विधान के अनुसार अर्थात् पीसकर गरम जल में आलोडित कर एवं हींग और सेन्धानमक मिला रोगी पीवे ॥११४॥

तैले भृष्टं च पिप्पल्याः कल्काच्च ससितोपलम् ।

पिबेद्वा श्लेष्मकासघ्नं कुलत्थरससंयुतम् ॥ ११५ ॥

१ कर्ष प्रमाण पिप्पली के कल्क को तिलतैल में भूनकर उसमें उतनी ही (अथवा उचित प्रमाण में) मिसरी मिला कुलत्थकाथ में आलोडित कर कफकास के नाश के लिये पिलावे । पिप्पलीकल्क की आधुनिक मात्रा—१ रत्ती से ४ रत्ती तक ॥११५॥

कासमर्दाश्चविट्भृङ्गराजवार्ताकजा रसाः ।

सत्तौद्राः कफकासघ्नाः सुरसस्यासितस्य च ॥ ११६ ॥

कसौंदी, घोड़े की लीद, भांगरा, बैंगन (अथवा वार्ताक से बड़ी कटेरी के फल का ग्रहण करना चाहिये) तथा काली तुलसी; इनमें से किसी एक के रस में मधु मिलाकर प्रयोग कराने से कफकास नष्ट होता है ॥११६॥

देवदारु शटी रास्ना कर्कटाख्या दुरालभा ।

पिप्पली नागरं मुस्तं पथ्याधात्रीसितोपलाः ॥ ११७ ॥

मधुतैलयुतावेतौ लेहौ वातानुगे कफे ।

देवदारुदिलेह—देवदारु, कचूर, रास्ना, काकड़ासिंगी, दुरालभा (धमासा) ।

पिप्पल्यादिलेह—पिप्पली, सोंठ, मोथा, हरड़, आंवला, मिसरी इन दोनों योगों को मधु और तिलतैल के साथ मिश्रित कर रोगी को वात के अनुबन्ध युक्त कफकास में चटाना चाहिये । चूर्णों की मात्रा—२ मासे ॥११७॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥ ११८ ॥

पथ्यातामलकीधात्रीभद्रमुस्तानि पिप्पली ।

१ 'कुलत्थसलिलाप्लुतम्' ग० ।

देवदार्वभयामुस्तं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥ ११६ ॥

विशाला पिप्पली मुस्तं त्रिवृता चेति लेहयेत् ।

चतुरो मधुना लेहान् कफकासहरान् भिषक् ॥ १२० ॥

कफकासनाशक चार लेह—१—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, राजपिप्पली । मात्रा—४ रत्ती ।

२—हरड़, तामलकी (भुई आंवला), नागरमोथा, पिप्पली । मात्रा—१ मासा ।

३—देवदारु, हरड़, मोथा, पिप्पली, सोंठ । मात्रा—१ मासा ।

४—इन्द्रायण की जड़, पिप्पली, मोथा, निसोत । मात्रा—१ मासा ।

वैद्य इन चारों लेहों को मधु के साथ चटाये । ये कफकासनाशक हैं । अष्टाङ्गसंग्रह में उक्त चतुर्थयोग का पाठ इस प्रकार है—

‘विशाला पिप्पलीमूलं त्रिवृता च.....’

अर्थात् ‘पिप्पली मुस्त’ के स्थान पर ‘पिप्पलीमूल’ है ११८—१२०

सौवर्चलाभयाधार्त्रीपिप्पलीक्षारनागरम् ।

चूर्णितं सर्पिषा वातकफकासहरं पिबेत् ॥ १२१ ॥

सौवर्चलादिचूर्ण—सौचरनमक, हरड़, आंवला, पिप्पली, यवक्षार, सोंठ; इनके चूर्ण को घी के साथ पीवे । यह वातकफजकास को नष्ट करता है । मात्रा—६ रत्ती से १॥ मासा तक ॥ १२१॥

दशमूलादिघृतम्

दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत् ।

पुष्कराह्वशटीबिल्वसुरसैर्व्योषहिङ्गुभिः ॥ १२२ ॥

पेयानुपानं पेयं तत्कासे वातकफात्मके ।

श्वासरोगेषु सर्वेषु कफवातात्मकेषु च ॥ १२३ ॥

इति दशमूलादिघृतम् ।

दशमूलादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ (३२ पल) । क्वाथार्थ—दश-

मूल १ आढक (४ प्रस्थ), जल ८ आढक, अवशिष्ट क्वाथ
२ आढक । कल्कार्थ—पोहकरमूल, कचूर, बेल की जड़ की छाल,
तुलसी, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हींग; प्रत्येक १ कर्ष ।
यथाविधि पाक करें । मात्रा—आधा तोला । इस घृत के पीने
के पश्चात् पेया पीनी चाहिये । यह वातकफज कास तथा वातकफज
सब आसों में प्रयुक्त होता है ॥ १२२-१२३ ॥

कण्टकारीघृतम्

समूलफलपत्रायाः कण्टकार्या रसाढके ।
घृतप्रस्थं बलाव्योषविडङ्गशट्चित्रकैः ॥ १२४ ॥
सौवर्चलयवक्षारपिप्पलीमूलपुष्करैः ।
वृश्चीरवृहतीपथ्यायवानीदाडिमधिभिः ॥ १२५ ॥
द्राक्षापुनर्नवाचव्यदुरालम्भाम्लवेतसैः ।
शृङ्गीतामलकीभार्गीरास्त्रागोक्षुरकैः पचेत् ॥ १२६ ॥
कैल्कैस्तत्सर्वकासेषु हिकाश्वासेषु शस्यते ।
कण्टकारीघृतं ह्येतत्कफव्याधिनिस्सदनम् ॥ १२७ ॥

इति कण्टकारीघृतम्

कण्टकारीघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । जड़ फल एवं पत्र
सहित कण्टकारी का रस २ आढक (८ प्रस्थ) (रस के अभाव में
जड़ पत्ते एवं फल सहित छोटी कटेरी १ आढक को ८ आढक
जल में काढ़ कर २ आढक अवशिष्ट रहने पर उतार लेने
चाहिये) । कल्कार्थ—बला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग,
कचूर, चित्रक, सौचरनमक, यवक्षार, पिप्पलीमूल, पुष्करमूल,
वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा), बड़ी कटेरी, हरड़, अजवाइन, अना
का छिलका, ऋद्धि, मुनक्का, लालपुनर्नवा, चव्य, दुरालम्भ
(धमासा), अम्लवेतस, काकड़ासिंगी, भुई आंवला, भारंगी, राक

१ ' समूलपत्रशाखायाः ' ग० ।

२ ' कण्टकारीघृते बलादिकलकद्रव्यस्य मिलित्वा कुडवमानत्वम् ' इति च

कवाथ, इनका मिलित कल्क १ शराव (८ पल) । यथाविधि
छाल, तपाक करें । यह कण्टकारीघृत सब कास हिक्का एवं श्वासों में
कर्प, रास्त है । कफज रोगों को नष्ट करता है । मात्रा—आधा तोला ।
के पीने अष्टाङ्गसङ्ग्रह में 'पिप्पलीमूलपौष्करैः' के स्थान पर 'मूला-
कफज पौष्करैः' ऐसा पाठ है । वहां मूल से पिप्पलीमूल का ग्रहण
जाता है—यह इन्दु ने कहा है । वहां आंवला अधिक पड़ा है ।
मुद्रित चक्रदत्त में यहां चित्त्वामलकपौष्करैः' ऐसा पाठ किया है ।
सके अनुसार बेल की जड़ और आंवला लिया जाता है ।
गङ्गाधर ने भी यही पाठ स्वीकार किया है ॥ १२४—१२७ ॥

कुलत्थादिघृतम्

कुलत्थरसयुक्तं वा पञ्चकोलशृतं घृतम् ।

पाययेत्कफजे कासे हिक्काश्वासे च शस्यते ॥ १२८ ॥

इति कुलत्थादिघृतम् ।

कुलत्थादिघृत—पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चन्य, चित्रक,
मैथ), इनके कवाथ और कल्क से साधित घी को कुलत्थकवाथ में
मिला कर कफज कास श्वास तथा हिक्का में रोगी को पिलावें ।
की मात्रा—चौथाई तोला ।

गङ्गाधर तो कहता है कि घृत को चतुर्गुण कुलत्थ काथ तथा
तुर्थांश पञ्चकोल के कल्क से सिद्ध करें ॥ १२८ ॥

धूमांस्तानेव दद्याच्च ये प्रोक्ता वातकासिनाम् ।

कोशातकीफलान्मध्यं पिबेद्वा समनःशिलम् ॥ १२९ ॥

वातज कास में कहे गये धूमों का ही कफकास में प्रयोग
करना चाहिये । अथवा शुष्क कोशातकी (कड़वी तुरई) फल

१ अत्र इन्दुः—चरकविदः पठन्ति सौवर्चलयवचारपिप्पलीमूलपौष्करैरिति,
चामलकानि न पठन्ति । २ ' पञ्चमूलशृतं ' इति पाठान्तरम् ।

का मध्य भाग तथा मनःशिला इन्हें एकत्र मिला पूर्व कहे गये विधान के अनुसार रोगी इनका धूमपान करे ॥ १२९ ॥

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत्पित्तानुबन्धजे ।

पित्तकासक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥ १३० ॥

यदि पित्त के अनुबन्ध से युक्त कफकास में तमकश्वास का उपद्रव हो जाय तो रोग की अवस्था के अनुसार पित्तकासोक्त चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १३० ॥

वाते कफानुबन्धे तु कुर्यात्कफहरीं क्रियाम् ।

पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः पित्तनाशिनीम् ॥ १३१ ॥

वातकास में यदि कफ का अनुबन्ध हो तो कफहर चिकित्सा की जाती है ।

वातकफज कास में यदि पित्त का अनुबन्ध हो तो भी पित्त नाशक ही क्रिया की जाती है ॥

चक्रपाणि ' पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः ' इत्यादि का अर्थ यह करता है कि यदि पित्त के साथ वातकफ का अनुबन्ध हो तो भी पित्तनाशक ही क्रिया की जाती है । अर्थात् यदि पित्त प्रधान हो वा पित्त का अनुबन्ध हो तो दोनों अवस्थाओं में ही पूर्व पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १३१ ॥

आर्द्रं विरूक्षणं शुष्के स्निग्धं वातकफात्मके ।

कासेऽन्नपानं कफजे सपित्ते तित्कसंयुतम् ॥ १३२ ॥

इति कफजकासचिकित्सा ।

यदि वातकफज कास आर्द्र हो—रोगी प्रचुर कफ शूकता हो तो रूक्ष अन्नपान दिया जाता है और यदि शुष्क हो (केवल खांसी उठती हो, कफ न निकलता हो) तो स्निग्ध अन्नपान देना चाहिये । कफजकास यदि पित्तयुक्त हो तो तित्क पदार्थों से युक्त अन्नपान की व्यवस्था होनी चाहिये ॥ १३२ ॥

१ ' पित्तानुबन्धजः ' इति अष्टाङ्गसङ्ग्रहधृतः पाठः ।

अथ क्षतजकासचिकित्सा—

कासमात्ययिकं मत्वा क्षतजं त्वरया जयेत् ।

मधुरैर्जीवनीयैश्च बलमांसविवर्धनैः ॥ १३३ ॥

क्षतजकास चिकित्सा—क्षतजकास को घातक जानकर शीघ्र ही बल एवं मांस को बढ़ाने वाले मधुर द्रव्यों तथा जीवनीयगण के द्रव्यों से चिकित्सा करनी चाहिये । अभिप्राय यह है कि क्षतज कास की चिकित्सा यथासम्भव शीघ्र ही होनी चाहिये क्योंकि इससे शीघ्र ही विपत्ति वा मृत्यु की सम्भावना है । इसकी चिकित्सा में रोगी के बल और मांस को क्षीण न होने देना अत्यावश्यक है ॥ १३३ ॥

पिप्पलीमधुकं पिष्टं कार्षिकं ससितोपलम् ।

प्रास्थिकं गव्यमाजं तु क्षीरमिक्षुरसस्तथा ॥ १३४ ॥

यवगोधूममृद्धीकाचूर्णमामलकीरसः ।

तैलं च प्रसृतांशानि तत्सर्वं मृदुनाऽग्निना ॥ १३५ ॥

पचेन्नेहं घृतक्षौद्रयुक्तः स क्षतकासहा ।

श्वासहृद्रोगकार्श्येषु हितो वृद्धेऽल्परेतसे ॥ १३६ ॥

पिप्पल्यादिलेह—पिप्पली, मुलहठी, मिसरी; प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष, गोदुग्ध २ प्रस्थ, बकरी का दूध २ प्रस्थ, ईख कारस २ प्रस्थ, जौ का आटा, गेहूं का आटा तथा मुनक्के का कल्क, आंवले का रस, तिलतैल; प्रत्येक १ प्रसृत (२ पल); इन सबको एकत्र डाल मन्द मन्द आंचसे लेहपाक करे । घी और मधु से युक्त यह लेह क्षतजकास को नष्ट करता है । श्वास हृद्रोग तथा कृशता में हितकर है । वृद्ध तथा जिनमें वीर्य की न्यूनता हो उन्हें भी लाभ पहुंचाता है । घी और मधु की मात्रा दोष के अनुसार चटाते समय मिला देनी चाहिये । अथवा इन्हें पाक के पश्चात् शीतल होने पर (दो दो पल प्रमाण में) मिलाकर भी रख सकते हैं ॥ १३४—१३६ ॥

क्षतकासाभिभूतानां वृत्तिः स्यात्पित्तकासिकी ।

क्षीरसर्पिर्मधुप्राया

क्षतकास से आक्रान्त व्यक्तियों का आहार विहार वा औषध आदि पित्तकास के सदृश ही जानना चाहिये । इसमें दूध घी और मधु का बहुलता से प्रयोग किया जाता है ।

संसर्गे तु विशेषणम् ॥ १३७ ॥

वातपित्तादितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैर्हितः ।

तैलैर्मारुतरोगघ्नैः पीड्यमाने च वायुना ॥ १३८ ॥

परन्तु अन्यदोष तथा उपद्रव आदि का संसर्ग होने पर विशेष चिकित्सा होती है । यथा—

वातपित्त से पीड़ित पुरुष में गात्रभेद (देह वा किसी अङ्ग में भेदनवत् पीड़ा) होने पर घृतों का अभ्यङ्ग (मालिश) हितकर होता है । वायु से पीड़ित होने पर वातनाशक तैलों का मर्दन प्रशस्त है ॥ १३७-१३८ ॥

हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः ।

सदाहं कासिनो रक्तं घृवतः सवलेऽनले ॥ १३९ ॥

क्षतज कास के रोगी को अग्नि के बलवान् होने पर हृच्छूल पार्श्वशूल दाह तथा रुधिर थूकने पर वातरक्त अधिकार में कहे जाने वाले जीवनीयघृत का पान कराना चाहिये । इन्दु ने इन श्लोकों को अष्टाङ्गसङ्ग्रह की टीका में इसप्रकार विभक्त किया है—

‘वातपित्तादितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैर्मतः ।

तैलैश्चानिलरोगघ्नैः

पीडिते मातरिश्वना ॥

हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्यात् जीवनीयस्य सर्पिषः ।

कुर्याद्वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत् ॥’ १३९ ॥

मांसोचितेभ्यः क्षामेभ्यो लावादीनां रसा हिताः ।

तृष्णातानां पयश्छागं शरमूलादिभिः शृतम् ॥ १४० ॥

जो रोगी मांस भक्षण के अभ्यासी हैं यदि वे कृश वा शुष्क देह
हों तो उन्हें लावा आदि पक्षियों के मांस का रस देना चाहिये ॥
तृष्णा (प्यास) से पीड़ित रोगियों को शर (सरकण्डा,
सरपत) की जड़ आदि पञ्चतृणमूल (शर, दर्भ, काश,
इलु, शालि; इनकी जड़ें) से यथाविधि साधित बकरी का दूध
हितकर है ॥ १४० ॥

रक्ते स्रोतोभ्य आस्याद्वाऽप्यागते क्षीरजं घृतम् ।

नस्यं पानं, यवागूर्वा श्रान्ते क्षामे हतानले ॥ १४१ ॥

मुख से वा अन्य स्रोतों से रक्त के आने पर दूध से निकाले
घी का नस्य वा पीना लाभकर है ।

थके हुए कृश तथा मन्दाग्नि क्षतज कास के रोगी को यवागूपान
हितकर होता है ॥ १४१ ॥

स्तम्भायामेषु महतीं मात्रां वा सर्पिषः पिबेत् ।

कुर्याद्वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत् ॥ १४२ ॥

स्तम्भ तथा आयास (अन्तरायाम और बहिरायाम) में
घी की बड़ी मात्रा पीवे । अथवा जो पित्त और रक्त दोष को
बढ़ाती न हो परन्तु वातरोगनाशक हो ऐसी चिकित्सा करे । बड़ी
मात्रा वह कहाती है जो २४ घण्टे में पचे । प्राचीनकाल में घी की
महती मात्रा प्रायः ८ पल की मानी जाती थी । परन्तु आजकल
के नागरिकों को तो यह मात्रा पचती ही नहीं । आजकल महती
मात्रा ५ कर्ष से १० कर्ष तक समझनी चाहिये । परन्तु अच्छा
यही होगा कि दो तीन बार करके ही इसे प्रयोग कराया जाय ॥

निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्ध उरः शिरः ।

दाल्येते कासिनो यस्य स धूमान्ना पिबेदिमान् ॥ १४३ ॥

‘पयश्चासं’ पा० । २ ‘स्तम्भायासेषु’ ग. । ३ ‘उरःक्षते’ पा० । ४ ‘दाल्येते’ पा० ।

क्षतजकास में क्षतदोष के हटने और कफ के बढ़ने पर छाती (फुफुस) वा शिर में यदि दलने की तरह पीड़ा हो तो वह इन कहे जाने वाले धूमों को पीवे ॥ १४३ ॥

द्वे मेदे मधुकं द्वे च बले तैः क्षौमलक्कैः ।

वर्तितैर्धूममापीय जीवनीयघृतं पिबेत् ॥ १४४ ॥

द्विमेदादिधूमवर्ति—मेदा, महामेदा, मुलहठी, बला, महाबला, इनके कल्क को क्षौमवस्त्रखण्ड पर लिप्तकर शुष्क कर लें । पश्चात् वर्ति बना लें और उक्त विधान के अनुसार शरावसम्पुट में रस रोगी को धूमपान करावें । धूमपान के पश्चात् रोगी को जीवनीय घृत (वातरक्तोक्त) का पान करना चाहिये ॥ १४४ ॥

मनःशिलापलाशाजगन्धात्वक्क्षीरिनागरैः ।

भावयित्वा पिबेत्क्षौमं शर्करेक्षुगुडोदकम् ॥ १४५ ॥

मनःशिलादिधूम—मनसिल, पलाश (ढाक के बीज), अजगन्धा (अजमोदा), वंशलोचन, सोंठ; इनके कल्क से क्षौमवस्त्र को भावितकर पूर्ववत् रोगी धूमपान करे । धूमपान के पश्चात् खांड वा गुड का शरवत अथवा गन्ने का रस पीवे ॥ १४५ ॥

पिष्ट्वा मनःशिलां तुल्यामाद्र्या वटशुङ्ग्या ।

ससर्पिष्कं पिबेद्धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम् ॥ १४६ ॥

ताजे गीले वटाङ्कुर और मनःशिला को समपरिमाण में मिला क्षौमवस्त्र को लिप्तकर वर्ति बना लें । उस वर्ति को घी में तरकर रोगी धूमपान करे । धूमपान के पश्चात् तीतर के मांसरस से भोजन करना चाहिये ॥ १४६ ॥

भावितं जीवनीयैर्वा कुलिङ्गाण्डरसायुतैः ।

क्षौमं धूमं पिबेत्क्षीरं शृतं चायोगुडैरनु ॥ १४७ ॥

इति क्षतजकासचिकित्सा ।

जीवनीय आदि धूम—कुलिङ्ग (चटक, चिड़िया) के अण्डों

१ 'मनःशिलाबलासाजगन्धा०' इति मुद्रितेऽष्टाङ्गसङ्ग्रहे पाठः ।

वदने से युक्त जीवनीयगण के द्रव्यों को पीसकर क्षौमवस्त्र को
 ढा हो तप्त करें। रोगी इसका धूमपान करे। धूमपान के पश्चात् लोहे
 की गोलों को तपा तपाकर बुझाने से कथित किया दूध पीना
 चाहिये ॥ १४७ ॥

अथ क्षयजकासचिकित्सा—

सम्पूर्णरूपं क्षयजं दुर्बलस्य विवर्जयेत् ।

नवोत्थितं बलवतः प्रत्याख्यायाचरेत्क्रियाम् ॥ १४८ ॥

क्षयजकास-चिकित्सा—दुर्बल पुरुष को यदि सम्पूर्ण लक्षणों
 युक्त क्षयजकास हो तो वह असाध्य है, उसका चिकित्सा न
 करनी चाहिये। यदि रोगी बलवान् हो और क्षयजकास नवीन
 हो तो प्रत्याख्यान करके क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् वैद्य
 ही कह दे कि यह कास अधिकतर असाध्य होता है, चिकि-
 त्सा में करता हूं शायद लाभ हो जाय क्योंकि कोई कोई रोगी ठीक
 हो जाते हैं ॥ १४८ ॥

तस्मै बृंहणमेवादौ कुर्यादग्नेश्च दीपनम् ।

बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद्विरेचनम् ॥ १४९ ॥

नवीन क्षयजकास में रोगी का पूर्व बृंहण और
 अप्रिदीपन चिकित्सा करनी चाहिये।

यदि दोष की मात्रा अत्यधिक हो तो स्नेह (घृत आदि)
 युक्त मृदु विरेचन दे देना चाहिये ॥ १४९ ॥

शम्पाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया ।

तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च ॥ १५० ॥

सर्पिः सिद्धं पिबद्युत्तया क्षीणदेहो विशोधनम् ।

हितं तदेहबलयोरस्य संरक्षणं मतम् ॥ १५१ ॥

मृदुविरेचनार्थ अमलतास की फलमज्जा से अथवा अंगूर के
 स और त्रिवृता (निसोत) से अथवा तिल्वक के काथ और

विदारीकन्द के रस से गव्यघृत को यथाविधि सिद्धकर क्षीणदेह रोगी युक्तिपूर्वक पीवे । यह घृत शोधन करता है । देह और बल के लिये भी हितकर है । यह रोगी की रक्षा करने वाला माना गया है ।

कई इसे एक योग भी मानते हैं । वे अमलतास की फली और त्रिवृता के कल्क से और अंगूर का रस (वा अभाव में मुनक्के का काथ) तिल्वक का काथ तथा विदारीकन्द का रस; इन द्रवों से गव्यघृत को पकाते हैं । मात्रा—आधा तोला ॥१५०—१५१॥

पित्ते कफे च संच्छीणे परिक्षीणेषु धातुषु ।

घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत् ॥ १५२ ॥

पित्त और कफ के क्षीण होने पर और रस रक्त मांस आदि धातुओं की क्षीणता में काकड़ासिङ्गी, बला, अतिबला; इनके कल्क (चतुर्थांश) और गव्यदुग्ध (चतुर्गुण) से यथाविधि साधित घी रोगी पीवे । मात्रा—आधा तोला १५२॥

विदारीभिः कदम्बैर्वा तालशस्यैस्तथा शृतम् ।

घृतं पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे ॥ १५३ ॥

मूत्र की विवर्णता में तथा यदि मूत्र कष्ट से आता हो तो विदारीकन्द, कदम्ब की छाल, तालशस्य (तालफल) से यथा विधि घी अथवा दूध को सिद्धकर रोगी को पिलाना चाहिये ॥१५३॥

शूने सवेदने मेढ्रे पायौ सश्रोणिवञ्चणे ।

घृतमण्डेन लघुनानुवास्यो मिश्रकेण वा ॥ १५४ ॥

मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) गुदा श्रोणि (कमर) और वङ्क्षण में शोथ एवं वेदना होने पर रोगी को लघु घृतमण्ड (घृत के उपरितन स्वच्छ द्रवभाव) से अथवा मिश्रक (घी और तिल-तैल मिलित) से अनुवासन कराना चाहिये । अष्टाङ्गसङ्ग्रह का

१८ १८] विकाकार इन्दु तो इन श्लोकों को इसप्रकार विभक्त करता है—

‘पित्ते कफे धातुषु च क्षीणेषु क्षयकासवान् ।

घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत् ॥

विदारीभिः कदम्बैर्वा तालसस्यैश्च साधितम् ।

घृतं पयश्च

मूत्रस्य वैवर्ण्यं कृच्छ्रनिर्गमे ।

शूने सवेदने मेढ्रे पायौ सश्रोणिबद्धक्षणे ॥

घृतमण्डेन लघुनानुवास्यो मिश्रकेण वा ’ ॥ १५४ ॥

जाङ्गलैः प्रतिभुक्तस्य वर्तकाद्या विलेशयाः ।

क्रमशः प्रसहाश्चैव प्रयोज्याः पिशिताशिनः ॥ १५५ ॥

अनुवासन के पश्चात् जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरसों से भोजन करे । अनन्तर क्रमशः वर्तक आदि (विष्किर पक्षी— १४८ पृष्ठ पर उक्त), विलेशय (भूमिशय—७४५ पृष्ठ पर उक्त) तथा मांसभोजी प्रसह पशु पक्षियों के मांसरसों का आहार कराना चाहिये ॥

औष्ण्यात्प्रमाथिभावाच्च स्रोतोभ्यश्च्यावयन्ति ते ।

कफं शुद्धैश्च तैः पुष्टिं कुर्यात्सम्यग्वहनं रसः ॥ १५६ ॥

इन मांसों के उष्ण एवं प्रमाथी होने के कारण ये स्रोतों में कफ को निकाल देते हैं । शोधन हो जाने पर रस इनमें से सम्यक्तया वहन करता हुआ देह को पुष्ट करता है ।

अदि स्रोत कफ से व्याप्त हों तो रस का अच्छी प्रकार संवहन न हो सकने के कारण पुष्टि न होगी । क्योंकि आहार के गुणों का रस ही वहन करता है, रस के न पहुंचने से क्षीणता का पूर्ण होना असम्भव है । प्रमाथी का लक्षण निम्न है—

‘ निजवीर्येण यद्द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसञ्चयम् ।

१ ‘ शुद्धस्य ’ ग. ।

३३३

निरस्यति प्रमाथि स्यात् तद्यथा मरिचं वचा ॥'

शा० प्र० ४ अ० ।

खरनाद ने भी कहा है—

‘स्रोतांसि दोषलिप्तानि प्रमथ्य विवृणोति यत् ।

प्रविश्य सौदम्यात्तैदृण्याच्च तत् प्रमाथीति संज्ञितम् ॥’

अर्थात् जो द्रव्य सूक्ष्मता वा तीक्ष्णता के कारण प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से स्रोतों के दोषसञ्चय को मथकर बलात् बाहिर निकाल देता है वह प्रमाथी कहाता है ॥ १५६ ॥

द्विपञ्चमूल्यादिघृतम्

द्विपञ्चमूलीत्रिफलाचविकाभार्गिचित्रकैः ।

कुलत्थपिप्पलीमूलपाठाकोलयवैर्जले ॥ १५७ ॥

शृतैर्नागरदुःस्पर्शापिप्पलीशटिपौष्करैः ।

कल्कैः कर्कटशृङ्गा च समैः सर्पिर्विपाचयेत् ॥ १५८ ॥

सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च ।

दत्त्वा युक्त्या पिबेन्मात्रां क्षयकासनिपीडितः ॥ १५९ ॥

इति द्विपञ्चमूल्यादिघृतम् ।

द्विपञ्चमूल्यादिघृत—बिल्व की छाल, गाम्भारीछाल, पाटला-छाल, अरणीछाल, श्योनाक (अरलू, सोनापाठा) छाल, शाल-पर्णी, पृथ्वीपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, हरड़, बहेड़ा, आंवला, चव्य, भारंगी, चित्रक, कुलत्थ, पिप्पलीमूल, पाढ़, कोल (बेर), जौ; इनके जल में किये गये क्वाथ से और सोंठ, दुरालभा, पिप्पली, कचूर, पोहकरमूल, काकड़ासिंगी; इनके कल्क से यथाविधि घृतपाक करे। सिद्ध हो जाने पर यवक्षार सर्जिद्वार तथा पांचों नमक (सैन्धव, सामुद्र, सौवर्चल, विड, औद्धिद) डालकर क्षयकास से पीड़ित व्यक्ति युक्तिपूर्वक उसकी मात्रा पीवे।

घी यदि २ प्रस्थ हो तो विल्वत्वक् आदि का काथ २ प्रस्थ
 काथ ४ प्रस्थ, जल ३२ प्रस्थ, शेष ८ प्रस्थ) और सोंठ आदि
 कल्क १ शराव लिया जायगा। चार और पांचों नमकों का प्रक्षेप
 के अनुसार वा इतना ही देना चाहिये जिससे वह सेवन योग्य
 मकीन हो जाय। प्रक्षेप के सामान्य नियम के अनुसार घी से
 प्रविष्ट तुर्यांश प्रक्षेप देने पर रोगी सेवन न कर सकेगा। मात्रा—
 आधा तोला ॥ १५७-१५८ ॥

गुडूच्यादिघृतम्

गुडूचीं पिप्पलीं मूर्वा हरिद्रां श्रेयसीं वचाम् ।

निदिग्धिकां कासमर्द पाठां चित्रकनागरम् ॥ १६० ॥

जले चतुर्गुणे पक्त्वा पादशेषेण तत्समम् ।

सिद्धं सर्पिः पिबेद् गुल्मश्वासार्तिक्षयकासनुत् ॥ १६१ ॥

इति गुडूच्यादिघृतम् ।

गुडूच्यादिघृत—गिलोय, पिप्पली, मूर्वामूल, हल्दी, गज-
 पिप्पली, वच, छोटी कटेरी, कसौंदी, पाद, चित्रक, सोंठ; इन्हें
 समपरिमाण में लेकर चौगुने जल में काथ करें। जब जल
 तुर्यांश आविशिष्ट रह जाय तब उतार कर छान लें। इस काथ
 समान प्रमाण में घी मिलाकर पाक करें। सिद्ध हो जाने पर
 पीवे। यह घृत गुल्म, श्वास तथा क्षयकास को नष्ट करता
 है। मात्रा—आधा तोला।

‘समम्’ को यदि सहार्थक माना जाय तो घी से काथ
 होना चाहिये। परन्तु व्यवहार उपर्युक्त विधान से है ॥

कासमर्दाभयापुस्तपाठाकटफलनागरैः ।

पिप्पलीकटुकाद्राक्षाकाशमर्यसुरसैस्तथा ॥ १६२ ॥

अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके ।

पचेच्छोषज्वरक्षीहसर्वकासहरं शिवम् ॥ १६३ ॥

कासमर्दादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । दूध और अंगूर का रस मिलित २ आढ़क (८ प्रस्थ) । कल्कार्थ—कासमर्द (कसौदी), हरड़, मोथा, पाढ़, कट्फल, सोंठ, पिप्पली, कटुकी, मुनका, गाम्भारीफल, सुरस (तुलसी वा निर्गुण्डी); प्रत्येक १ कर्ष । यथा-विधि इसे पकावें । यह शोष, ज्वर, सीहा तथा सब कासों को हरता है और कल्याणकारक है ।

यहां दूध का प्रमाण सामान्य परिभाषा के अनुसार २ प्रस्थ होना चाहिये और शेष ६ प्रस्थ अंगूर का रस लिया जायगा ॥

धात्रीफलैः क्षीरसिद्धैः सर्पिर्वाऽप्यवचूर्णितम् ।

अथवा दूध में स्विन्न किये आंवलों का घी में अवचूर्णित करके रोगी को सेवन करावें ।

द्विगुणे दाडिमरसे विपक्वं व्योषसंयुतम् ॥ १६४ ॥

पिवेदुपरि भक्तस्य यवक्षारघृतं नरः ।

अथवा दुगुने (घृत से) अनार के रस से और त्रिकुट (चतुर्थांश) के कल्क से सिद्ध किये घी में यवक्षार का प्रक्षेप देकर क्षयजकास का रोगी भोजन के अन्त में पीवे । घृत की मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक ॥ १६४ ॥

पिप्पलीगुडसिद्धं वा छागक्षीरयुतं घृतम् ॥ १६५ ॥

अथवा घी को पिप्पली और गुड के कल्क से सिद्धकर बकरी के दूध के साथ सेवन कराना चाहिये ।

इस श्लोकार्थ का यह भी अभिप्राय लिया जा सकता है कि घी को चतुर्गुण बकरी के दूध से और चतुर्थांश पिप्पली तथा गुड़ के मिलित कल्क से पकावें । मात्रा—आधा तोला ॥ १६५ ॥

एतान्यग्निविवृद्धयर्थं सर्षीषि क्षयकासिनाम् ।

स्युर्दोषवद्धकोष्ठोरःस्रोतसां च विशुद्धये ॥ १६६ ॥

१ 'यवक्षारयुतं' अष्टाङ्गसङ्ग्रहघृतः पाठः ।

ये उक्त घृत क्षयकास के रोगियों की अग्नि को बढ़ाने के लिये तथा दोष से लिप्त कोष्ठ छाती तथा स्रोतों की विशुद्धि के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ १६६ ॥

हरीतकीलेहः ।

हरीतकीर्यवक्वाथद्वयाढके विंशतिं पचेत् ।

स्विन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन् पुराणगुडषट्पलम् ॥ १६७ ॥

दद्यान्मनःशिलाकर्ष कर्षार्धं च रसाञ्जनम् ।

कुडवार्धं च पिप्पल्याः स लेहः श्वासकासनुत् ॥ १६८ ॥

इति हरीतकीलेहः ।

हरीतकीलेह—जौ के क्वाथ ४ आढक (१६ प्रस्थ) में २० उत्तम हरड़ों को डालकर पकावे । जब अच्छीप्रकार गल जाय तब उन्हें निकाल लें और उनकी गुठलियां पृथक् कर फैंक दें । हरड़ों के दलों को अच्छीप्रकार श्लक्ष्ण पीसकर उसी क्वाथ में मिला दें । ६ पल पुराना गुड, विशुद्ध मनःशिला १ कर्ष, रसाञ्जन (रसौत) आधाकर्ष, पिप्पलीचूर्ण २ पल भी उसमें डाल दें और मन्द मन्द आंच से पकावें । जब यथावत् लेहपाक हो जाय तब नीचे उतार लें । यह लेह श्वास और कास को नष्ट करता है । मात्रा—२ रत्ती से ४ रत्ती तक ।

पाण्डुरोगचिकित्सिताध्याय में हलीमक की चिकित्सा में (२५५६ पृष्ठ पर) अभयालेह के प्रयोग कराने का विधान कहा जा चुका है । वहां हमने अभयालेह से अगस्त्यहरीतकी का ग्रहण करने को कहा है । चक्रपाणि ने भी वहां ऐसा ही कहा है । अगस्त्यहरीतकी भी हलीमकरोग में लाभकर होती है और अनाड़ी वैद्य द्वारा प्रयुक्त होने पर भी उससे हानि नहीं हो सकती अतएव उसका वहां ग्रहण कर लिया है । वस्तुतस्तु वहां अभयालेह से इसी हरीतकीलेह का ग्रहण है । यह हलीमक में

भी अपेक्षया शीघ्र लाभ करता है । परन्तु वैद्य को दोष बल आदि देख कर मात्रा में सावधान होकर इसका प्रयोग कराना चाहिये । मनःशिला में मल्लविष (Arsenic) का योग होता है । रसतरङ्गिणी ११ तरङ्ग में मनःशिला का निर्माणप्रकार कहा है—

‘ विशोधितं शङ्खविषं मरुद्भागमितं तथा ।
विशुद्धं गन्धपाषाणं कलाभागिकंमाहरेत् ॥
खल्वे निक्षिप्य यत्नेन चूर्णयेद्विषजां वरः ।
चूर्णितञ्चाथ विज्ञाय यन्त्रे डमरुकाभिधे ॥
पचेत्ततः स्वतः शीते कुनटीमूर्ध्वगां हरेत् ।
प्रयोजयेद्विधानेन मात्रा सर्षपसम्मिता ॥ ’

इससे स्पष्ट है कि इसमें मुख्य भाग मल्ल का है । मल्ल प्रवृद्ध एवं पुरातन पाण्डुरोग और हलीमक के नाश के लिये अद्यावधि बड़ी सफलता के साथ प्रयुक्त होता है । यह बल्य भी है । यह रक्त की लालिमा एवं लाल अणुओं को बढ़ाता है । श्वास कास-नाशक है । उसी के गुणों में वहां कहा है—

‘ कान्तिप्रदः परं जीर्णपाण्डुरोगनिपूदनः । ’

रसाञ्जन रक्तशोधक ज्वरनाशक वातपित्तशामक एवं श्वास-नाशक होने से हलीमक में उत्तम होता है । निघण्टु में कहा भी है—

‘ रसाञ्जनं च पीताभं विषवक्त्रगदापहम् ।

श्वासहिध्माहरं वर्यं वातपित्तास्रनाशनम् ॥ ’

पिप्पली का ज्वर क्षय श्वास कास कफ वायु का नाशक होना प्रसिद्ध ही है । यह अग्निवर्धक भी है । हरीतकी मलसारक यकृत की शोधक है । तीनों दोषों को शान्त करती और रसायन है । अतएव यह लेह हलीमक अथवा पुरातन पाण्डुरोग में भी अत्यन्त हितकर है ॥ १६७-१६८ ॥

श्राविधां सूचयो दग्धाः सघृतचौद्रशर्कराः ।

श्वासकासहरा बर्हिपादौ वा चौद्रसर्पिषा ॥ १६६ ॥

बड़े सेह के कांटों को अन्तर्धूम दग्ध करके उस मसी को घी खांड और मधु के साथ मिलाकर मात्रा में प्रयोग कराने से श्वास कास नष्ट होते हैं। अथवा मोर के पैरों को अन्तर्धूम दग्ध करके मधु और घी के साथ चटाने से भी श्वास कास नष्ट होते हैं। मात्रा—२ से ४ रत्ती तक। ये दोनों योग श्वासाधिकार में (२५६६ पृष्ठ पर) भी कहे जा चुके हैं ॥ १६६ ॥

एरण्डपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम् ।

लिह्यादेतेन विधिना सुरसैरण्डपत्रजम् ॥ १७० ॥

अथवा एरण्ड के पत्तों के क्षार में त्रिकटुचूर्ण मिला ४ रत्ती मात्रा में तैल और पुराने गुड के साथ रोगी को चटावें। इसी प्रकार तुलसी अथवा सम्भालू और एरण्ड के पत्तों को इकट्ठा जला उसके क्षार को चटाना चाहिये। अर्थात् इस क्षार में भी त्रिकटु चूर्ण मिश्रित कर तैल और गुड के साथ चटाय़ा जाता है ॥ १७० ॥

द्राक्षापन्नकवार्ताकपिप्पलीः चौद्रसर्पिषा ।

लिह्यात्पूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा ॥ १७१ ॥

द्राक्षादिलेह—मुनक्का, पद्माख, पके तथा शुष्क बृहतीफल के बीज, पिप्पली; इन्हें एकत्र समपरिमाण में मिला मधु और घी के साथ रोगी चाटे। मात्रा—१ मासे से २ मासे तक। अन्यत्र कहा भी है—

‘पिप्पली पद्मकं द्राक्षा सम्पक्वं बृहतीफलम् ।

घृतचौद्रयुतो लेहः श्वासकासनिवर्हणः ॥’ (चक्रदत्त)

अथवा केवल त्रिकटुचूर्ण को पुराने गुड और घी के साथ

१ ‘श्राविधः’ पा० । २ ‘सुरसं सुनिषण्णकम्’ चक्रः ।

३ भैषज्यरत्नावल्यां ‘मुस्तकं पिप्पली द्राक्षा’ इति पाठान्तरमुपलभ्यते ।

चाटना चाहिये ॥ १७१ ॥

चित्रकं त्रिफलाजार्जीकर्कटाख्यं कटुत्रिकम् ।

द्राक्षां च दौद्रसर्पिभ्यां लिह्यादद्याद् गुडेन वा ॥ १७२ ॥

चित्रकादिलेह—चित्रक, हरड़, बहेड़ा, आंवला, श्वेतजीरा, काकड़ासिंगी, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, द्राक्षा (मुनक्का); इसे मधु और घी के साथ चटायें । चूर्ण की मात्रा—१॥ मासे से ३ मासे तक ।

अथवा रोगी को चाहिये कि चित्रक आदि के समस्त चूर्ण में समान भाग गुड़ मिला कर खावे । मात्रा—३ मासे से ६ मासे तक ॥ १७२ ॥

पद्मकादिलेहः ।

पद्मकं त्रिफला व्योषं विडङ्गं सुरदारु च ।

बला रास्ना च तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥ १७३ ॥

सर्वैरोभिः समं चूर्णैः पृथक् दौद्रं घृतं सिताम् ।

विमथ्य लेहयेल्लेहं सर्वकासहरं शिवम् ॥ १७४ ॥

इति पद्मकादिलेहः ।

पद्मकादिलेह—पद्माख, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, देवदारु, बला, रास्ना; इनके सूक्ष्म चूर्णों को समभाग में मिश्रित करें । इस समस्त चूर्ण के समान पृथक् पृथक् मधु घी और खांड उसमें मिलाकर आलोडित कर लें । लेह रोगी को चटायें । यह सब कासों को नष्ट करता है और कल्याणकारक है । लेह की मात्रा—६ मासे से १ तोला तक । अष्टाङ्गसंग्रह में तो समस्त चूर्ण के समान खांड मिला कर खाने की अथवा इसी (खांड मिश्रित चूर्ण) में प्रयोग के समय मधु और घृत मिलाकर चाटने की व्यवस्था है ।

१ ' लिह्याल्लेहं विमथ्यैतं ' ग. ।

‘पद्मकं त्रिफलाव्योषं विडङ्गं देवदारु च ।
 बला रास्ना च तच्चूर्णं समस्तसमशर्करम् ॥
 खादेन्मधुघृताभ्यां वा लिह्यात्कासहरं परम् ॥ १७३-१७४ ॥
 जीवन्तीं मधुकं पाठां त्वक्क्षीरीं त्रिफलां शटीम् ।
 मुस्तैले पद्मकं द्राक्षां द्वे बृहत्यौ वितुन्नकम् ॥ १७५ ॥
 सारिवां पौष्करं मूलं कर्कटाख्यं रसाञ्जनम् ।
 पुनर्नवां लोहरजस्त्रायमाणां यवानिकाम् ॥ १७६ ॥
 भार्गी तामलकीमृद्धिं विडङ्गं धन्वयासकम् ।
 क्षारचित्रकचव्याम्लवेतसव्योषदारु च ॥ १७७ ॥
 चूर्णीकृत्य समांशानि लेहयेत्क्षौद्रसर्पिषा ।
 चूर्णात्पाणितलं पञ्च कासानेतद् व्यपोहति ॥ १७८ ॥

जीवन्त्यादिलेह—जीवन्ती, मुलहठी, पाढ़, वंशलोचन,
 हरड़, बहेड़ा, आंवला, कचूर, मोथा, छोटी इलायची, पद्माख,
 मुनक्का, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, वितुन्नक (धनियां), सारिवा
 (अनन्तमूल), पोहकरमूल, काकड़ासिंगी, रसौत, पुनर्नवा,
 लोहणलोहभस्म, त्रायमाण, अजवाइन, भारंगी, भुई आंवला,
 मृद्धि, वायविडङ्ग, धमासा, यवक्षार, चित्रक, चव्य, अम्लवेतस,
 सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, देवदारु, इन्हें समपरिमाण में चूर्णित
 कर मिश्रित कर लें । मधु और घी के साथ १ कर्ष मात्रा में
 इसे चटायें । यह पांचों कासों को नष्ट करता है । चूर्ण की आधु-
 निक मात्रा—२ मासे से ४ मासे तक ।

मुद्रित अष्टाङ्गसंग्रह में पद्मक के स्थान पर पिप्पली का पाठ
 है जिसके अनुसार पिप्पली के २ भाग होते हैं । परन्तु पद्मक
 के स्थान पर पिप्पली पाठ में लेखक का प्रमाद ही प्रतीत
 होता है । ‘वितुन्नक’ से कई केवटी मोथा लेते हैं ॥ १७५—१७८ ॥

लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतदौद्रशर्करम् ।

सर्वकासहरं श्रेष्ठं लेहं कासादितो नरः ॥ १७६ ॥

अथवा कास से पीड़ित पुरुष कालीमिर्च के चूर्ण को घी मधु और खांड के साथ चाटे । यह लेह सब कासों को नष्ट करता है ॥ १७६ ॥

बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम् ।

स्वरभेदे च कासे च लेहमेतं प्रयोजयेत् ॥ १८० ॥

बेरी के ताजे कोमल पत्तों के कल्क को घी में भूनकर थोड़ा सेन्धानमक मिला लें । स्वरभेद और खांसी में इस लेह का प्रयोग करें ॥ १८० ॥

पत्रकल्कं घृतैर्भृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम् ।

पेया चोत्कारिका छर्दितृट्कासामातिसारनुत् ॥ १८१ ॥

तिल्वक के पत्तों के कल्क को घी में ईषद् भृष्ट कर खांड मिला उससे पेया वा उत्कारिका बना रोगी को प्रयोग करावें । इससे कै तृषा कास तथा आमातिसार नष्ट होते हैं ॥ १८१ ॥

गौरसर्षपगण्डीरविडङ्गव्योषचित्रकान् ।

सामयान्साधयेत्तोये यवागूं तेन चाम्भसा ॥ १८२ ॥

ससर्पिलवणां कासे हिक्काश्वासे सपीनसे ।

पाण्ड्वामये क्षये शोथे कर्णशूले च शस्यते ॥ १८३ ॥

गौरसर्षपादियवागू—श्वेतसरसों, गण्डीर (शमठशाक), वायविडङ्ग, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, चित्रक, हरड़; इन्हें एकत्र षडङ्गपानीय के विधान से जल में सिद्ध करें । उस जल से यवागू प्रस्तुत करें । यवागू में थोड़ा घी और सेन्धानमक भी डालना चाहिये । यह यवागू कास हिक्का श्वास प्रतिश्याय पाण्डुरोग क्षय शोथ और कर्णशूल में प्रशस्त है ॥ १८२-१८३ ॥

१ ' स्वरपघाते कासे ' ग. । २ ' शोपे ' पा० ।

कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः ।

सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम् ॥ १८४ ॥

छोटी कटेरी के क्वाथ में साधित तथा घृत और काली-
मिर्च आदि से संस्कृत मूंग का यूष जिसमें श्वेतसरसों और
आंवला भी उचित प्रमाण में डाला हो, जो अनार आदि के रस
से ईषद् अम्लीकृत हो, सब कासों की औषध है ।

गौर के अर्थ केसर, श्वेतसरसों, हल्दी आदि हैं । हमने
इत में से गौरसर्षप ही का अर्थ इसीलिये ग्रहण किया है क्यों
कि पूर्व यवागूविधान में भी गौरसर्षप का पाठ है । यदि गौरा-
मलक को एक ही द्रव्य माना जाय तो पके ताजे आंवले का
ग्रहण होगा । गौरामलक से कई प्राचीनामलक (पानी आमला) का
ग्रहण करते हैं ।

छोटीकटेरी का क्वाथ षडङ्गपानीय के विधान से किया
जायगा ॥ १८४ ॥

वातघ्नौषधनिष्काथे क्षीरं यूषान् रसानपि ।

वैष्किरप्रतुदान् बैलान् दापयेत्क्षयकासिने ॥ १८५ ॥

वातघ्न देवदारु आदि औषधों के क्वाथ में साधित दूध मूंग
आदि के यूष वा विष्किर प्रतुद तथा बिलेशय पशुपक्षियों के
सांसरसों को क्षयकास के रोगियों को दे ।

विष्किर प्रतुद तथा बिलेशय (भूमिशय) प्राणियों का
गिरिगणन सूत्रस्थान २७ अध्याय में किया जा चुका है ॥ १८५ ॥

क्षतकासे च ये धूमाः सानुपाना निदर्शिताः ।

क्षयकासेऽपि तानेव यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥ १८६ ॥

क्षतकास में जो धूम और उनके अनुपान बताये गये हैं
वही धूमों और उनके अनुपानों को रोगी की अवस्था के अनु-

सार क्षयकास में भी प्रयोग करावे ॥ १८६ ॥

दीपनं बृंहणं चैव स्रोतसां च विशोधनम् ।

व्यत्यासात्क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं हितं भवेत् ॥ १८७ ॥

क्षयकास के रोगियों को अग्निदीपन बृंहण और स्रोतों का शोधन ये कर्म पर्यायक्रम से हितकर होते हैं । तथा च जो भी बलकारक आहार विहार वा औषध है वह सब रोगी के लिये लाभकर है ॥ १८७ ॥

सन्निपातोद्भवो ह्येष क्षयकासः सुदारुणः ।

सन्निपातहितं तस्मात्सदा कार्यं भिषग्जितम् ॥ १८८ ॥

यह अत्यन्त दारुण क्षयकास सन्निपात से उत्पन्न होता है अतः सदा इसकी वह चिकित्सा की जानी चाहिये जो सन्निपात (त्रिदोष) में हितकर हो ॥ १८८ ॥

दोषानुबलयोगाच्च भवेद्रोगबलाबलम् ।

कासेष्वेषु गरीयांसं जानीयादुत्तरोत्तरम् ॥ १८९ ॥

इस क्षयजकास में दोष के अनुबल के अनुसार रोग की बलाबल को जानना चाहिये । अर्थात् यद्यपि क्षयजकास सन्निपातिक है परन्तु अनुबन्धभूत दोषविशेष के अनुसार इनमें अपेक्षाकृत बलवत्ता होती है । यदि वात की प्रबलता हो तो अपेक्षाकृत कम बलवान् होगा, यदि पित्त का उद्रेक होगा तो वात की

१ 'दोषानुबलयोगाच्च हरेद् रोगबलाबलम्' 'दोषानुबलयोगाच्च कुर्याद् रोगबलाबलम्' । पा० । अत्र चक्रपाणिः—'क्षयकासस्य सन्निपातोद्भव इत्यदिना सान्निपातिकत्वमभिधाय दोषोद्रेकविशेषानुबन्धरूपेण चिकित्साविशेष सूत्रमाह—'दोषानुबन्धयोगाच्च हरेद् रोगबलाबलम्' इति । अत्र बुद्ध्वा इत्यध्याहार्यम् । दोषाणामनुबन्धः उत्कर्षापकर्षादिना सम्बन्धः तदपेक्षयोगः । अत्र पञ्चमी हेतौ । अन्ये तु दोषानुबन्धरूपेण भेषजयोगेन रोगस्य क्षयकासस्य प्रबलवन्तश्च दोषं हरेत् । तस्मिन्नु युक्तं हरेद्रोगबलाबलमिति । अन्ये तु दोषानुबलयोगाच्च कुर्याद्रोगबलाबलमिति पठन्ति । तेन दोषानुबन्धयोगात् रोगबलाबलं बुद्ध्वा कुर्याद्भिषग्जितमिति सम्बन्धः ।'

अपेक्षा अधिक बलवान् होगा और यदि कफ का प्राधान्य होगा तो बलवत्तम होगा । चिकित्सा करते समय भी इस बात का विचार कर लेना चाहिये । यदि वात प्रधान हो तो सन्निपात चिकित्सा में अवशिष्ट दोनों दोषों की चिकित्सा के साथ साथ मुख्यतया वात की चिकित्सा होगी । इसीप्रकार पित्त और कफ की प्रधानता में जानना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ५ में कहा है—
'सन्निपातोद्भवो घोरः क्षयकासो यतस्ततः ।

यथादोषबलं तस्य सन्निपातहितं हितम् ॥'

वातज पित्तज कफज क्षतज और क्षयज; इन कासों में यथोत्तर अधिक बल जानना चाहिये । वातज से पित्तज, पित्तज से कफज, कफज से क्षतज और क्षतज से क्षयजकास अधिक बलवान् होता है ॥ १८६ ॥

तत्र श्लोकौ ।

भोज्यं पानानि सर्पांषि लेहांः पाचनकानि च ।

क्षीरं सर्पिर्गुडा धूमाः कासभैषज्यसंग्रहः ॥ १८० ॥

संख्या निमित्तं रूपाणि साध्यासाध्यत्वमेव च ।

कासानां भैषजं प्रोक्तं गरीयस्त्वं च कासिनः ॥ १८१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने कासचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अध्याय का उपसंहार—कासोपयोगी भोज्य, पेय, घृत, लेह, पाचन, क्षीर (दूध), सर्पिर्गुड, धूम; कासघ्न औषध का संग्रह, कास की संख्या, हेतु, रूप, साध्यासाध्यता चिकित्सा और कासरोगियों की परस्पर बलवत्ता की तुलना इस अध्याय में कही गई है ।

इति कासचिकित्सा ।

ऊनविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽतीसारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम अतीसारचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

भगवन्तं खल्वत्रेयं कृताह्निकं हुताग्निहोत्रमासीनमृषिगण-परिवृतं हिमवतः पार्श्वे विनयादुपेत्याभिवाद्याग्निवेश उवाच—भगवन्नतीसारस्य प्रागुत्पत्तिनिमित्तलक्षणोपशमनानि तु प्रजानुग्रहार्थमाख्यातुमर्हसीति ॥ २ ॥

एक समय जब भगवान् आत्रेय नित्यकर्म और अग्निहोत्र समाप्त कर हिमालय के पार्श्व में ऋषियों से घिरे हुए बैठे थे तब शिष्य अग्निवेश ने विनयपूर्वक पास आकर अभिवादन करने के पश्चात् कहा—भगवन् ! प्रजा पर अनुग्रह के लिये आप अतीसार की प्रागुत्पत्ति (पुराकाल में उत्पत्ति वा आद्युत्पत्ति), निमित्त (हेतु), लक्षण और चिकित्सा का उपदेश करें ॥ २ ॥

अथ भगवान् पुनर्वसुरात्रेयस्तदग्निवेशवचनमनुनिशम्योवाच श्रयतामग्निवेश सर्वमेतदखिलेन व्याख्यायमानम्—आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालम्बनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म, ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्तनाभागेच्चाकुरिष्टशर्यात्यादीनां च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः, अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलामाद्गवामालम्भैः प्रवर्तितः, तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः, तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्या-

१ 'समालम्बनीया' ग. । 'अभिमन्य परित्याज्या बभूवुः' चक्र ।

२ 'पशवण्वाभ्यनुज्ञाय प्रोक्षणमेवावापुः' ग. । ३ 'अतः' ग. । ४ 'गवामालम्भश्च' ग. । ५ 'उपाकृतः पशुरसौ योऽभिमन्य क्रतौ हतः' ।

दसात्म्यत्वादशस्तोपयोगात्स्वाद्वपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसां
अतीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे ॥ ३ ॥

अग्निवेश के इस प्रश्न को सुनकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय
कहा—अग्निवेश ! सुनो । मैं इस सारे विषय को सम्पूर्ण रूप
से बताता हूँ ।

अतीसार की प्रागुत्पत्ति—आदिकाल में निश्चय से यज्ञों में
पशुओं को स्पर्श के योग्य अथवा पूजार्थ केसर आदि के लेपन के
योग्य समझा जाता था, उन्हें मारा नहीं जाता था । दत्त प्रजापति के
अनन्तर के काल में नरिष्यन्त नाभाग इक्ष्वाकु रिष्ट शर्याति आदि मनु
के पुत्रों के यज्ञों में पशुओं की ही (बधार्थ) अभ्यनुज्ञा (अनुमति) होने
से पशुओं का प्रोक्षण (अभिमन्त्रित करके हनन) किया गया । इसके भी
पश्चात्काल में पृषध्र राजा (यह भी मनु का पुत्र है) ने दीर्घसत्र
(अतिदीर्घकाल में समाप्त होने वाले) यज्ञ किया । उसमें जब अन्य
पशुओं की बलि दी जा चुकी और पशु दुर्लभ हो गये तब उसने
गौओं को मारकर यज्ञ में बलि देना (यज्ञार्थ बध) प्रवृत्त कर
दिया । इसे देखकर भूतगण (प्राणिमात्र) अत्यन्त दुःखित हुए ।
उन यज्ञार्थ अभिमन्त्रित करके हनन की गई गौओं के मांस के—
जो गुरु उष्ण तथा असात्म्य होने के कारण उपयोग में
अप्रशस्त है और जो स्वादु भी नहीं—सेवन से अग्नि के मन्द हो
जाने के कारण तथा मानसिक आघात से पृषध्र के यज्ञ में सब
से पूर्व अतीसार की उत्पत्ति हुई ॥ ३ ॥

अथावरकालं वातलस्य वातातपव्यामातिमात्रनिषेविणो रू-
क्षाल्पप्रमिताशिनस्तीक्ष्णमद्यव्यवायनित्यस्योदावर्तयतश्च वेगान्
वायुः प्रकोपमापद्यते पक्वा चोपहन्यते; स वायुः कुपितोऽग्रावुपहते

१० 'दसात्म्याद०' ग. ।

२ '०मुत्पन्नस्तपृषध्र०' ग. । ३ 'वेगाद् वायुः' ग. ।

मूत्रस्वेदौ पुरीषांशयमुपहत्य, ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्य, अतीसाराय प्रकल्पते ॥ ४ ॥

वातज अतीसार की सम्प्राप्ति—पृषध के यज्ञ के काल के पश्चात् के समय से जो वातल पुरुष वायु घाम तथा व्यायाम का अत्यधिक सेवन करता है, रूक्ष अत्यल्प प्रमाण में भोजन करता है, प्रतिदिन तीक्ष्ण मद्य पीता है, नित्य मैथुन करता है, वेगों को रोकता है उसका वायु प्रकुपित हो जाता है, पाचकाग्नि नष्ट हो जाती है। पाचकाग्नि के नष्ट हो जाने पर वह प्रकुपित वायु मूत्र और स्वेद को पुरीषाशय (मोटी आंत और उत्तर गुदा) में लाकर उन दोनों से पुरीष को पतला करके अतीसार को उत्पन्न करता है। मूत्र और स्वेद अब्धातु के उपलक्षण मात्र हैं। यतः देह में इन दोनों की अपेक्षा स्पष्ट जलीयधातु नहीं दिखाई जा सकती अतः उन दोनों का ही नाम आचार्यने लिया है। देह का जलीय भाग इन दो रूपों में ही स्पष्टतया अधिकतर बाहिर निकलता है। श्वास से भी जलीयभाग निकलता है पर वह अत्यन्त स्पष्ट रूप में दिखाई नहीं देता। इसीप्रकार अन्य मार्गों से निकलते हुए को भी जानना चाहिये। आचार्य ने इससे यह भी जता दिया है कि जब अतीसार होता है तब मूत्र और पसीने की मात्रा कम हो जाती है ॥ ४ ॥

तस्य रूपाणि—विज्जलमामविप्लुतमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगन्धं सशब्दमीषच्छब्दं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं, वायुश्चान्तःकोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्यक् चरति विबद्ध इत्यामातिसारो वातात्, पक्वं विबद्धमल्पाल्पं सशब्दं सशूलफेनपिच्छापरिकर्तिकं हृष्टरोमा विनिःश्वसन् शुष्कमुखः कट्यरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली अष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात् ; तमाहुरनुग्रथित-

१ पुरीषालय० ' ग. । २ ' कल्पते ' ग. । ३ ' विनिश्चरय ' ग. ।

सायायित्येके, वातानुग्रथितवर्चस्त्वात् ॥ ५ ॥

वातज आमतीसार के लक्षण—वातज आमतीसार में पिच्छिल(चिपचिपा)अथवा क्लिन्न जल से युक्त, आमदोष से व्याप्त, विषसादि (शिथिलता करने वाला अथवा जल में नीचे बैठ जाने वाला), रूखा, द्रव शूलयुक्त, आमगन्धि (कच्ची गन्ध वाला), अत्यधिक शब्द के साथ अथवा थोड़े शब्द के साथ पुरीष का अतीसार होता है । मूत्र और वात विबद्ध होते हैं अर्थात् उनकी खुलकर प्रवृत्ति नहीं होती । वायु विबद्ध आ हुआ कोष्ठ के अन्दर गुडगुड शब्द और शूल को उत्पन्न करता है । यह वातज आमतीसार होता है ।

वातज पक्कातीसार के लक्षण—वातज पक्कातीसार में बंधा आ, थोड़ा थोड़ा, शब्द के साथ, शूल भाग पिच्छा (आंव) रिकर्तिका (कोष्ठ वा गुदा में कर्तनवत् पीड़ा Colic) से युक्त मल निकलता है । इसमें रोमाञ्च, श्वास, मुख की शुष्कता, कटि कमर) ऊरु त्रिकसन्धि घुटना पीठ तथा पार्श्वों में शूल, गुद-प्राश (कांच निकलना) होता है । बारबार गांठदार पुरीष आता है । वात के कारण मल के गांठदार हो जाने से इसे अनुग्रथित भी कहते हैं ।

‘ विनिश्चसन् ’ के स्थल पर ‘ विनिष्टनन् ’ ऐसा पाठ ही अधिक सम्भव है । क्योंकि अष्टाङ्गसंग्रह में यही पाठ है । विनिष्ट-नन् पाठ होने पर प्रवाहिका का होना अर्थ होगा ।

चक्रपाणि ने ‘आमविप्लुत’ का अर्थ आमत्वयुक्त और प्रस-शील ऐसा किया है । ‘ सशब्दमीषच्छब्दं वा ’ के स्थान पर सशब्दमशब्दं वा ’ ऐसा पाठान्तर भी उपलब्ध होता है । वहां

‘अशब्द’ में नञ् को ईषदर्थ का वाचक माना जा सकता है। सुश्रुत उ० अ० ४० में वातज अतिसार का सामान्य लक्षण कहा है—

‘शूलाविष्टः सक्तमूत्रोऽन्त्रकूजी सस्तापानः सन्नकटयरुजङ्घः ।

वचो मुख्रत्यल्पमल्पं सफेनं रूक्षं श्यावं सानिलं मारुतेन ॥५॥

पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुकदारोष्णतीक्ष्णातिमात्रनिषे-
विणः प्रतताग्निसूर्यसन्तापोष्णमारुतोपहतगात्रस्य क्रोधेर्ष्याबहुलस्य
पित्तं प्रकोपमापद्यते, तत् प्रकुपितं द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य पुरीषा-
शयमाश्रितमौष्ण्यात् द्रवत्वात् सरत्वाच्च भित्त्वा पुरीषमतिसाराय
कल्पते ॥ ६ ॥

पित्तातीसार की सम्प्राप्ति—पित्तल पुरुष के अम्ल लवण
कटु दार उष्ण तथा तीक्ष्ण द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करने से
निरन्तर आग वा घाम को तापने से वा उष्ण वायु (लू) के
देह पर लगने से तथा अत्यधिक क्रोध और ईर्ष्या से पित्त प्रकुपित
होता है । वह प्रकुपित होकर स्वयं द्रव होने से पुरीषाशय (पक्का-
शय) में आश्रित ऊष्मा को नष्ट कर देता है और उष्ण द्रव
तथा सर गुण युक्त होने के कारण मलभेद कर के अतीसार को
उत्पन्न करता है ॥ ६ ॥

तस्य रूपाणि—हारिद्रं हरितं नीलं रक्तपित्तोपगतमतिदुर्ग-
न्धमतिसार्यते पुरीषं तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाशूलब्रध्नसन्तापपाकपरीत
इति पित्तातिसारः ॥ ७ ॥

पित्तातिसार के लक्षण—रोगी को हल्दी के वर्ण का, हरा
वा नीला, रक्तपित्त से युक्त, अत्यन्त दुर्गन्धमय दस्त होता है ।
तृष्णा, दाह, स्वेद, मूर्च्छा, शूल, गुदा में सन्ताप (उष्णता, जलन)
और गुदा का पक जाना; ये लक्षण होते हैं । सुश्रुत उ०
अ० ४० में कहा है—

दुर्गन्ध्युष्णं वेगवन्मांसतोयप्रख्यं भिन्नं स्विन्नदेहोऽतितीक्ष्णम् ।

तत्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकज्वरार्तः ॥ ७ ॥

श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुरशीतस्निग्धोपसेविनः सम्पूरकस्याचिन्त-
तो दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, स स्वभावाद्
गुरुमधुरशीतस्निग्धः स्रस्तोऽग्निमुपहृत्य सौम्यस्वभावात् पुरीषा-
यमुपहृत्योपक्लेद्य पुरीषमतिसाराय कल्पते ॥ ८ ॥

श्लेष्मातिसार की सम्प्राप्ति—कफप्रधान पुरुष के गुरु मधुर
शीतल तथा स्निग्ध द्रव्यों के आहार से, तृप्तिपूर्वक भोजन से,
किसी प्रकार की भी चिन्ता न होने से, प्रतिदिन दिन में सोने से
तथा आलस्य से कफ प्रकुपित हो जाता है । वह कफ स्वभाव से
गुरु मधुर शीतल स्निग्ध एवं शिथिल होता है अतएव अग्नि
नष्ट कर तथा च पुरीषाशय (पक्वाशय) में पहुँच सौम्य-
स्वभाव (जलीयस्वभाव) होने से मल को क्लिन्न कर अतिसार
कल्पन कर देता है ॥ ८ ॥

तस्य रूपाणि—स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु
गुरुमधुरशीतस्निग्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्र-
हिक्कं गुरुदरगुदवस्तिवङ्क्षणदेशः कृतेऽप्यकृतसंज्ञः सलोमहर्षः
तिक्ष्णेशो निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसारः ॥ ९ ॥

श्लेष्मातिसार के रूप—कफज अतिसार के रोगी को स्निग्ध
श्वेत चिपचिपा तन्तुओं से युक्त आम (कच्चा) दुर्गन्धमय कफयुक्त
शूल के अनुबन्ध से युक्त अल्प अल्प मल पुनः पुनः प्रवाहिका
साथ दस्त के रूप में प्रवृत्त होता है । रोगी पेट गुदा वस्ति

१ ' गुरुमधुरशीतस्निग्धस्य पुंसोऽग्निमुपहृत्य ' ग. । २ ' ०मुपगत्योपक्लेद्य ०'
३ ' पुरीषाशयमुपहृत्येति पुरीषाशयं गत्वा, हन्तेर्गतिर्हिंसात्मकत्वात् अत्र
चयैव । किं वा पुरीषाशयशब्देन स्थानेन स्थानिन उपचारात् पुरीषमेवो-
च्यते । यथा मञ्जाः क्रोशन्तीति । ततश्च पुरीषमुपहृत्येति सम्बन्धः ।' चक्रः ।
' कृतापकृतसंज्ञः ' ग. । ' कृतापकृतसंज्ञः ' पा० ।

तथा वङ्क्षण देश को भारी अनुभव करता है । अतीसार का वेग होने पर भी रोगी उसे समझ नहीं पाता । अर्थात् इसमें मल भारी और अपेक्षया गाढ़ा होता है । अथवा वेग के समाप्त होने पर भी रोगी वेग को पूर्ण हुआ नहीं जानता उसे वेग की आशङ्का बनी रहती है । वह लोमाञ्च उत्केश निद्रा आलस्य शिथिलता तथा अन्नद्वेष (अरुचि) से युक्त होता है । सुश्रुत उ० अ० ४० में भी कहा है—

‘तन्द्रानिद्रागौरवोत्केशसादी वेगाशङ्की सृष्टविट्कोऽपि भूयः ।

शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं भक्तद्वेषी निःस्वनं हृष्टरोमा’ ॥६॥

अतिशीतस्निग्धरूक्षोष्णगुरुखरकठिनविषमविरुद्धासात्म्यभोजनादभोजनात् कालातीतभोजनाद् यत्किंचिदभ्यवहरणात् प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानीयपानादसंशोधनात् प्रतिकर्मणां विषमगमनादनुपचाराज्ज्वलनादित्यपवनसलिलातिसेवनादस्वप्नादतिस्वप्नाद्वेगविधारणादतुविपर्ययादयथाबलमारम्भाद्भयशोकचिन्तोद्वेगतियोगात् कृमिशोषज्वराशोविकारातिकर्षणाद्वा व्यापन्नाग्नेस्त्रयो दोषाः प्रकुपिता भूय एवाग्निमुपहत्य पक्वाशयमनुप्रविश्यातीसारं सर्वदोषलिङ्गं जनयन्ति; अपि च शोणितादीन् धातूनतिप्रैकृष्टं दूषयन्तो धातुदोषस्वभावकृतानतीसारवर्णानुपदर्शयन्ति ॥१०॥

सान्निपातिक अतीसार—अत्यन्त शीतल स्निग्ध रूक्ष उष्ण भारी खर कठिन आहारों से, विषम भोजन विरुद्ध भोजन और असात्म्य भोजन से, अनशन (उपवास) से, आहार काल में न खाकर उस काल के व्यतीत हो जाने पर खाने से, पथ्यापथ्य का विचार न करके जो मिल गया उसी के खा लेने से, दूषित मद्य एवं दूषित जल के पीने से अथवा मद्य वा जल के (उनके

१ ‘ किञ्चिदभ्यवहरणात् ’ ग. । २ ‘ किमिशोथ० ’ ग. । ३ ‘ धातूनतिप्रैकृष्टं प्रदुष्टान् ’ ग. ।

दूषित न होने पर भी) अत्यधिक पीने से, यथाकाल वमन विरेचन
 आदि द्वारा संशोधन न करने से, प्रतिकर्म के विषम प्रभाव होने से
 अर्थात् चिकित्सा के अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग से, रोग का
 उपचार न कराने से, आग घाम वायु और जल के (स्नान तैरना
 आदि द्वारा) अत्यधिक सेवन से, न सोने से अथवा अत्यधिक
 निद्रासेवन से, वेगों के रोकने से, ऋतुविपर्यय से अर्थात् उष्ण
 काल में शीत और शीतकाल में उष्णता होने से, अपनी शक्ति
 से अधिक कार्य करने (साहस) से, भय शोक चिन्ता और
 उद्वेग (ग्लानि) में अत्यधिक ग्रस्त रहने से, कृमिरोग शोष
 (यक्ष्मा) ज्वर तथा अर्श आदि रोगों द्वारा देह के अतिकृश
 हो जाने से विकृताग्नि पुरुष के प्रकुपित हुए तीनों दोष और भी
 अधिक अग्नि को क्षीणकर पक्काशय में प्रविष्ट हो सब दोषों के
 लक्षणों से युक्त अतीसार को उत्पन्न करते हैं । तथाच रक्त आदि
 धातुओं को बहुत अधिक दूषित करते हुए धातु और दोषों के
 स्वभाव से उत्पन्न वर्णों को अतीसार में दिखाते हैं ॥१०॥

तत्र शोणितादिषु धातुष्वतिप्रदुष्टेषु हारिद्रिहरितनीलमाज्जिष्ठ-
 मांसधावनसङ्काशं रक्तं कृष्णं श्वेतं वा वराहमेदःसदृशमनुबद्धवेदन-
 मवेदनं वा समासव्यत्यासादुपवेश्यते शकृद्ग्रथितमामं सकृदपि
 वा पक्कमनतिक्षीणमांसशोणितवलो मन्दाग्निर्विहतमुखरसश्च, ता-
 दृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात् ॥ ११ ॥

रक्त आदि धातुओं के अत्यन्त दूषित होने पर हल्दी के वर्ण
 का, हरा, नीला, मंजीठ के सदृश वा, मांस के धोवन के जल के
 सदृश वर्ण का, लाल, काला, श्वेत अथवा सूअर की मेदा के
 सदृश वर्ण का मल आता है । ये वर्ण एक बार के मल में मिले

१ 'धातुषु नातिप्रदुष्टेषु' ग. । २ 'मनुबद्धवेदनमतिवेदनं' ग. ।
 ३ 'मुपवेश्यते पुरीषम् । महद्ग्रन्थितमामं शकृदपि वा' ग. ।

हुए भी हो सकते हैं । और ऐसा भी हो सकता है कि पहिली वार यदि हल्दी के वर्ण का मल आया है तो दूसरी वार हरा आ जाय तीसरी वार मंजीठ के वर्ण का और चौथी वार काला आ जाय इत्यादि । इसमें अतीसार के साथ वेदना हो भी सकती है और नहीं भी । रोगी का मल गांठदार होता है । मल कदाचित् कच्चा (साम) ही होता है और कदाचित् पक्का (निराम) । यदि इसके साथ ही रोगी के मांस रक्त तथा बल अत्यधिक क्षीण न हों । अग्नि मन्द हो और मुख का रस विकृत हो तो ऐसे रोगी को कष्टसाध्य जानना चाहिये ॥ ११ ॥

एभिर्वर्णैरतिसार्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्या-
चक्षीत; तद्यथा—काथशोणिताभं यकृत्पिण्डोपमं मेदोमांसोदक-
सन्निकाशं दधिघृतमज्जतैलवसाक्षीरवेशवाराभमतिनीलमतिरक्तमति-
कृष्णमुदकमिवाच्छं पुनर्मैत्रकाभमतिस्निग्धं हरितनीलकषायवर्णं
कर्बुरमाविलं पिच्छिलं तन्तुमदामं चन्द्रकोपगतमतिकुणपपूतिपूय-
गन्ध्यामाममत्स्यगन्धि मक्षिकाक्रान्तं कुथितं बहुधातुस्रावमल्प-
पुरीषमपुरीषं वाऽतिसार्यमाणं तृष्णादाहज्वरभ्रमर्तमोहिकाश्वासानु-
बन्धमतिवेदनमवेदनं वा स्रस्तपक्वगुदं पतितगुदवलिं मुक्कनालमति-
क्षीणबलमांसशोणितं सर्वपर्वास्थिशूलिनमरोचकारतिप्रलापसंमोह-
परीतं सहसोपरतविकारमतिसारिणमचिकित्स्यं विद्यादिति सन्नि-
पातातिसारः ॥ १२ ॥

परन्तु यदि सान्निपातिक अतीसार में निम्नोक्त वर्ण और उपद्रव हों तो उस रोगी को असाध्य जानें । जैसे यदि मल का वर्ण काथ वा रुधिर की आभा वाला हो, वा यकृत्पिण्ड (जिगर) के सदृश हो, वा मेदोधातु के सदृश हो वा मांसोदक

१ 'हरिताभं नीलकषायवर्णं वा' ग. । २ 'कथितबहु०' पा० ।
३ '० अल्पपुरीषं बहुपुरीषं ग. । ४ '० तमकहिका०' पा० ।

त्या-
क-
ति-
वर्ण^९
य-
ल्प-
नु-
ति-
ह-
नि-

हन्यादेनं यत्प्रतीपं भवेच्च क्षिणं हन्युश्चोपसर्गाः प्रभूताः ॥

असंवृतगुदं क्षिणं दुराध्मातमुपद्रुतम् ।

गुदे पक्वे गतोष्माणमतीसारक्षिणं त्यजेत् ॥'

तथा च अन्यत्र—

‘पक्वजाम्बवसङ्काशं यकृत्खण्डनिभं तनु ।

घृततैलवसामज्जवेशवारपयोदधि-

मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम् ।

मेचकं स्निग्धकर्बूरं चन्द्रकोपगतं घनम् ॥

कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि कुथितं बहु ।

तृष्णादाहतमःश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम् ॥

सम्मूच्छ्रारतिसम्मोहयुक्तं पक्ववलीगुदम् ।

प्रलापयुक्तं च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम् ’ ॥ १२ ॥

तमसाध्यतामसंप्राप्तं चिकित्सेद् यथाप्रधानोपक्रमेण हेतूपशय-
दोषविशेषपरीक्षया चेति ॥ १३ ॥

इनमें से जो असाध्यावस्था को प्राप्त नहीं ऐसे अतीसार की हेतु उपशय तथा दोषविशेष की परीक्षा करके सन्निपात में जो दोष प्रधान हो मुख्यतया उसके उपचार से चिकित्सा करो ॥ १३ ॥

आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ ।

तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम् ॥ १४ ॥

दो आगन्तु अतीसार हैं जो भय और शोक से उत्पन्न होते हैं ये दोनों भाव मन से सम्बन्धित हैं अतः ये मानस कहाते हैं । इन दोनों अतीसारों में वही लक्षण होते हैं जो वातातीसार के हैं ।

१ उपद्रुतमित्यतीसारोपद्रवैः शोथादिभिर्युक्तम् । यदुक्तं-शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां श्वासं कासमरोचकम् । छर्दिं मूच्छ्रां च हिक्कां च दृष्ट्वातीसारिणं त्यजेत् ॥

२ ‘तमसाध्यमसाध्यतामसंप्राप्तं’ ग. । ३ ‘यथाप्रधानेनोपक्रमेण’ ग. ।

४ ‘यौ तयोर्लक्षणं’ ग. ।

सुश्रुत उ० अ० ४० में शोकज अतीसार के भिन्न लक्षण कहे गये हैं—

‘तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य
वाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः ।

कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं

तच्चाधस्तात्काकणन्तीप्रकाशम् ॥

निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड्वा

निर्गन्धं वा गन्धवद्वातिसारः ।

शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं

रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥ १४ ॥

मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति ।

तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च ॥ १५ ॥

इत्युक्ताः षडतीसाराः,

भय और शोक से शीघ्र ही वायु प्रकुपित हो जाता है । शोकज और भयज अतीसार में वातहर क्रिया की जाती है । इसके अतिरिक्त रोगी के मन को प्रसन्न करना तथा उसे आश्वासन देना अत्यावश्यक है ।

इसप्रकार ये छह अतीसार कहे गये हैं । १ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ सान्निपातिक ५ शोकज ६ भयज । सुश्रुतसंहिता में जो छह अतीसार कहे हैं वे इसप्रकार हैं—१ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ सान्निपातिक ५ शोकज ६ अन्नाजीर्णज । इनमें से पूर्व के चार अतीसार तो दोनों में एक से ही हैं । शोकज अतीसार के लक्षणों में विभिन्नता है । सुश्रुतोक्त शोकज अतीसार अत्यन्त दुःसाध्य कहा गया है । प्रकृतसंहिता में उक्त शोकज अतीसार उतना भयङ्कर नहीं । यदि शोकज अतीसार

सुश्रुतोक्त सम्प्राप्ति के अनुसार प्रकट हो तो वह दुःसाध्य होता है। इसमें वात के साथ पित्त कफ और रक्त का कोप भी हो जाता है। चरक ने इसप्रकार की सम्प्राप्ति के अतीसार को सान्निपातिक अतीसार में ही परिगणन किया है। सान्निपातिक अतीसार के हेतुओं में शोक चिन्ता आदि को भी पढ़ा है। अन्नाजीर्ण से उत्पन्न अतीसार के लक्षण सुश्रुत में इस प्रकार कहे हैं—

‘अन्नाजीर्णात् प्रद्रुताः क्षोभयन्तः

कोष्ठं दोषा धातुसङ्घान्मलांश्च ।

नानावर्णं नैकशः सारयन्ति

शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥’

इन लक्षणों और सम्प्राप्ति से स्पष्ट ही है कि यह त्रिदोषज है। ‘दोषाः’ यह बहुवचनान्त है। चरक में भी त्रिदोषज अतीसार में तीनों दोषों की दुष्टि और अग्नि का विकृत होना कहा ही गया है। अतएव अन्नाजीर्णज भी प्रकृतसंहिता में सान्निपातिक अतीसार में ही समाविष्ट है। सुश्रुत में तो हेतु की भिन्नता से इन दोनों को पृथक् कह दिया है। चरक में इन दोनों का समावेश सान्निपातिक में करते हुए सम्प्राप्ति में भिन्न शोकज और भयज का उनसे पृथक् परिगणन किया है। यद्यपि शोकज और भयज में वातहर चिकित्सा एक सी ही है परन्तु मानसचिकित्सा में भेद होने से संख्या में उन्हें भी पृथक् कर दिया है। शोकजातीसार में हर्षण और भयज अतीसार में मानसशान्ति के लिये आश्वासन का विशेष उपदेश है। अपने विचारों के उपदेश की शैली भिन्न भिन्न हुआ करती है ॥ १५ ॥

साध्यानां साधनं त्वतः ।

प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण यथावत्तन्निबोधत ॥ १६ ॥

होता

भी

र को

तिक

है ।

कार

वेदो-

षज

होना

में

की

होनों

कज

कज

त्सा

जा-

लिये

की

अब मैं साध्य अतीसारों की यथाक्रम चिकित्सा कहूंगा—उसे यथावत् समझो—॥ १६ ॥

दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः ।

अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् संप्रवर्तयेत् ॥ १७ ॥

आहार की विदग्धता (Fermentation) के कारण कुपित हुए हुए दोष सञ्चित होकर अतीसार को उत्पन्न करते हैं अतः एव उन्हें पूर्व और भी अधिक प्रवृत्त ही कराना चाहिये ॥ १७ ॥

न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे ।

विवर्ध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून् ॥ १८ ॥

शोथपाण्ड्वामयसीहिकुष्ठगुल्मोदरज्वरान् ।

दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यशौगिदांस्तथा ॥ १९ ॥

आमातिसार के रोगी को सब से पूर्व संग्रहण (कब्ज करने वाली) औषध न देनी चाहिये । यदि दोषों को प्रवृत्त न कराया जाय और पूर्व ही संग्राहक औषध दे दी जाय तो विबद्ध हुए हुए दोष शोथ पाण्डुरोग सीहा कुष्ठ गुल्म उदर ज्वर दण्डकालसक आध्मान ग्रहणी तथा अर्श प्रभृति बहुत सी व्याधियों को उत्पन्न कर देते हैं । दण्डकालसक का लक्षण यह है—

‘दुष्टा ह्यलसके दोषाश्छर्द्यतीसारवर्जिताः ।

कारकास्तीव्रशूलादेः स्रोतसां सन्निरोधकाः ॥

निजयोगात्तनुं सर्वा दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत् ।

स दण्डालसकः शीघ्रं नरदेहविनाशकृत् ॥’

इसे कोई विलम्बिका भी मानते हैं ॥ १८—१९ ॥

तस्मादुपेक्षेतोत्किष्ठान् वर्तमानान् स्वयं मलान् ।

कुच्छं वा वहतान् दद्यादभयां संप्रवर्तिनीम् ॥ २० ॥

अतः वैद्य उत्किष्ठ अर्थात् स्वयं बहिर्मुख होकर प्रवृत्त हुए

१ ‘दोषा ह्यादौ बध्यमाना’ ग. ।

दोषों की उपेक्षा करे, उन्हें प्रवृत्त होने दे-रोके नहीं । अपि तु यदि कष्ट से थोड़ा थोड़ा प्रवृत्त हो तो उसकी सम्यक्तया प्रवृत्ति के लिये हरड़ का प्रयोग कराना चाहिये ॥ २० ॥

तया प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः ।

जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्धते ॥ २१ ॥

हरड़ के प्रयोग से दोष के बह जाने पर उदरामय (अतीसार) शान्त हो जाता है । देह में लघुता होती है और जाठराग्नि प्रवृद्ध होती है ।

ये उपाय बहुदोष एवं बलवान् पुरुषों के लिये समझने चाहिये ॥ २१ ॥

प्रमथ्यां मध्यदोषेभ्यो दद्याद्दीपनपाचनीम् ।

लङ्घनं चाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम् ॥ २२ ॥

यदि रोगी में दोष मध्यम हो (न अधिक हो न कम) तो दीपन और पाचन प्रमथ्या का प्रयोग कराना हितकर है । वैद्यकशास्त्र की परिभाषा में प्रमथ्या से दीपन पाचन काथ का ग्रहण होता है ।

यदि अतीसार के रोगी में दोष अल्प ही हो तो लङ्घन कराना श्रेष्ठ है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में कहा है—

‘प्रायेणातिसारो ह्यग्निमुपहत्य प्रागामाधिष्ठानो भवति । तस्मादनिलजमप्यामपाचनार्थमादौ लङ्घनेनोपक्रमेत् ’ ॥ २२ ॥

पिप्पली नागरं धान्यं भूतीकमभया वचा ।

हीबेरं भद्रमुस्तानि बिल्वं नागरधान्यकम् ॥ २३ ॥

पृश्निपर्णी श्वदंष्ट्रा च समङ्गा कण्टकारिका ।

तिस्रः प्रमथ्या विहिताः श्लोकाधैरतिसारिणाम् ॥ २४ ॥

१ पिप्पल्यादिप्रमथ्या—पिप्पली, सोंठ, धनियां, भूतीक (सुगन्धितृण), हरड़, वचा ।

१६] १६] १६] १६] १६] १६] १६] १६] १६] १६]
 २ ह्रीवेरादिप्रमथ्या—सुगन्धबाला, नागरमोथा, बेलगिरी,
 धौठ, धनियां ।

३ पृश्निपर्ण्यादिप्रमथ्या—पृश्निपर्णी, गोखरू, समझा (मझिष्ठा
 लज्जालु), छोट्टी कटेरी ।

ये अतीसार के रोगी के लिये आधे आधे श्लोक में तीन प्रम-
 थ्यायें कही गई हैं । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में—

‘मध्यदोषस्तु विशेषयन् मागधीनागरवचाभूतीकधनिकाहरी-
 कीनां काथं पिबेत् । जलजलदबिल्वपेशिकाशुण्ठीधान्यकानां वा ।
 उभयमपि चैतत्प्रमथ्याख्यम् ।’

प्रकृतसंहिता में उक्त प्रमथ्याओं (दीपनपाचन काथों) को
 कई क्रमशः वात पित्त कफज आमातीसार में प्रयोग कराने को
 कहते हैं ।

आचार्य ने पूर्व यद्यपि केवल वातातीसार में ही आमातीसार
 और पक्वातीसार का भेद दर्शाया है पर यह भेद तीनों दोषों में
 ही हुआ करता है । वातातीसार में उक्त आम पक्व के लक्षणों
 की विवेचना से ही पित्तातीसार और कफातीसार में सामता
 और निरामता की परीक्षा कर लेनी चाहिये । चारपाणि ने
 कहा भी है—

‘वातातिसारः सामश्च सशूलः फेनिलस्तनुः ।

श्यावः सशब्दो दुर्गन्धो विबद्धोऽल्पाल्प एव च ॥

एवं पित्तकफानां चाप्यतीसारं विनिर्दिशेत् ॥’

मुश्रुत उ० अ० ४० में—

‘स्नेहाजीर्णनिमित्तस्तु बहुशूलप्रवाहिकः ।

विसूचिकानिमित्तस्तु चान्योऽजीर्णनिमित्तजः ॥

विषार्शः कृमिसम्भूतो यथास्वं दोषलक्षणः ॥

इत्यादि अतीसारों का उपसंहार करके—

‘आमपक्कमं हित्वा नातिसारे क्रिया यतः ।

अतः सर्वातिसारास्तु ज्ञेयाः पक्कमलक्षणैः ॥’

ऐसा कहा है । आम और निराम की परीक्षा वहीं पूर्व कही गई है—

‘संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति ।

पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥

एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै ।

लाघवं च विशेषेण तस्य पक्कं विनिर्दिशेत् ॥’

प्रकृत संहिता में भी साम और निराम पुरीष की परीक्षा ग्रहणी-चिकित्सिताध्याय में (२४७३ पृष्ठ पर) कह चुके हैं । आम किसे कहते हैं इस विषय पर भी उसी अध्याय (चि० अ० ११) में उपर्युक्त प्रकरण से ठीक ऊपर ही तन्त्रान्तरों के वचन उद्धृत किये जा चुके हैं । यहां एक वचन और भी उद्धृत किये देते हैं—

‘आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवत् ।

स हेतुः सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते ॥’

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ८ में साम और निराम पुरीष की परीक्षा कही गई है—

‘अतीसारः समासेन द्वेधा सामो निरामकः ।

(सासृङ्निरस्र)स्तत्राद्ये गौरवाद्प्सु मज्जति ॥

शकृद्दुर्गन्धमादोपविष्टम्भार्तिप्रसेकिनः ।

विपरीतो निरामस्तु कफात्पक्वोऽपि मज्जति ॥’ २३-२४ ॥

वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तपर्पटकेन वा ।

हृविरशृङ्गवेराभ्यां पक्कं वा पाययेज्जलम् ॥ २५ ॥

रोगी को वचा और अतीस से अथवा मोथा और पित्त-पापड़ा से अथवा सुगन्धवाला और अदरक (वा सोंठ) से पकाया जल पीने को दें । यह जलपाक षडङ्गपानीय के विधान

अनुसार किया जायगा ॥ २५ ॥

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघून्यन्नानि भोजयेत् ।

तथा स शीघ्रमाप्नोति रुचिमग्निबलं बलम् ॥ २६ ॥

भूख से व्याकुल रोगी को उचित आहारकाल में लघु अन्न भोजन करावे । इसप्रकार शीघ्र ही रोगी के आहार में रुचि होती है । जाठराग्नि बलवान् होती है और शारीरिक बल प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

तक्रेणावन्तिसोमेन यवाग्रा तर्पणेन वा ।

सुरया मधुना चादौ यथासात्म्यमुपाचरेत् ॥ २७ ॥

सबसे पूर्व सात्म्य के अनुसार आहार में तक (छाछ), अन्तिसोम (कांजिक) यवागू (चौदहगुने जल में साधित), मधु (द्रवालोडित लाजा के सत्तू), सुरा और मधु के प्रयोग द्वारा रोगी का उपचार करना चाहिये ॥ २७ ॥

यवागूभिर्विलेपीभिः खडैर्धनरसौदनैः ।

दीपनग्राहिसंयुक्तैः क्रमश्च स्यादतः परम् ॥ २८ ॥

इसके पश्चात् दीपन और संग्राही द्रव्यों से युक्त यवागू (६ गुना द्रव से साधित) विलेपी (४ गुना द्रव से साधित) खड़ तथा गाढ़े मांसरस और भात का क्रम किया जाता है । घन मांस रस से प्रलेह का कई ग्रहण करते हैं । क्षेमकुतूहल में प्रलेह का निर्माण प्रकार बताया है—

‘स्थूलानि मांसखण्डानि क्षालितानि च वारिणा ।

तप्तस्नेहे विनिक्षिप्य दर्व्या सञ्चालयन् पचेत् ।

ततस्तत्र विनिक्षिप्य लवणं जलमल्पकम् ॥

पचेत्पटपटाशब्दं तस्मिन्मांसे प्रकुर्वति ।

प्रक्षिपेद्वाडिमीनीरं बहु तेन पचेत्पुनः ॥

१ ‘खडैर्युषै रसौदनैः’ पा० ।

मांसपिण्डेषु सिद्धेषु देया शुण्ठी सजीरका ।

तत उत्तार्य तन्मांसं पृथक् कुर्यात्प्रलेहतः ॥

प्रलेहं वाससा पूतं स्थापयेदन्यभाजने ।

हिंशुना घृतयुक्तेन धूपं तत्रैव दापयेत् ' ॥ २८ ॥

शालपर्णीं पृश्निपर्णीं बृहतीं कण्टकारिकाम् ।

बलां श्वदंष्ट्रां बिल्वानि पाठां नागरधान्यकम् ॥ २९ ॥

शटीं पलाशं हपुषां वचां जीरकपिप्पलीम् ।

यवानीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ३० ॥

वृक्षाम्लं दाडिमं चाम्लं सहिज्जुबिडसैन्धवम् ।

प्रयोजयेदन्नपाने विधिना सूपकल्पितम् ॥ ३१ ॥

वातश्लेष्महरो ह्येष गणो दीपनपाचनः ।

ग्राही बल्यो रोचनश्च तस्माच्छस्तोऽतिसारिणाम् ॥ ३२ ॥

दीपन और संग्राही मण—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, बला (खरैटी), गोखरू, बेलगिरी, पाद, सोंठ, धनियां, कचूर, पलाश (ढाक), हाऊबेर, वच, श्वेत जीरा, पिप्पली, अजवाइन, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, वृक्षाम्ल (विषांबिल), खट्टा अनार, हींग, बिडनमक, सेन्धानमक; इन द्रव्यों की विचारपूर्वक (व्यस्त समस्त रूप से) कल्पनायें करके विधि अनुसार अन्नपान में प्रयोग करायें । यह गण वातकफ-नाशक है, दीपन पाचन है, संग्राही है, बलकारक तथा रुचि को उत्पन्न करने वाला है । अतएव अतिसार के रोगियों के लिये प्रशस्त है ॥ २९—३२ ॥

आमे परिणते यस्तु विवद्वमतिसार्यते ।

सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम् ॥ ३३ ॥

यूपेण मूलकानां तं बदराणामथापि वा ।

उपोदिकायाः क्षीरिण्या यवान्या वास्तुकस्य वा ॥ ३४ ॥

सुवर्चलायाश्चञ्चोर्वा शाकेनावल्गुजस्य वा ।

शट्याः कर्कारुकाणां वा जीवन्त्याश्चिर्भटस्य वा ॥ ३५ ॥

लोणिकायाः सपाठायाः शुष्कशाकेन वा पुनः ।

दधिदाडिमसिद्धेन बहुस्नेहेन भोजयेत् ॥ ३६ ॥

आम के परिपक्व हो जाने पर जो रोगी शूल और आंव से युक्त विवद्ध (बंधे हुए, कठिन) मल का प्रवाहिका के साथ अल्प २ प्रमाण में बहुत बार अतिसार रूप से त्याग करता है उसे मूली के वा बेरों के यूष अथवा पोई, क्षीरिणी (शाकविशेष अथवा खिरनी वा क्षीरकाकोली) यवानी (अजवाइन के पत्र), वथुआ, सुवर्चला (सूरजमुखी वा ब्राह्मी), चञ्चु (नाडी च शाक, चेवुना), अवल्गुज (कालीजीरी), शटी (कचूर), कर्कारुक (कोहली) पेठा वा छोटा कच्चा तरबूज), जीवन्तीशाक, चिर्भट (चिम्भड़), लोणिका (लूणक, नौनिया शाक, कुलफा), पाठा अथवा शुष्क शाक (शुष्कपत्र शाक, बंगाल में नालितापाता, शुक्लपाता) जिन्हें दही और अनार के रस से सिद्ध किया हो और जिनमें प्रभूत मात्रा में घृत आदि स्नेह डाला हो—के साथ शालि आदि लघु अन्न खाने को दें ॥ ३३-३६ ॥

कल्कः स्याद्बालविल्वानां तिलकल्कश्च तत्समः ।

दध्नः सरोऽम्लः स्नेहाढ्यः खडो हन्यात् प्रवाहिकाम् ॥ ३७ ॥

कच्ची बेलगिरी के कल्क और तिल के कल्क को समप्रमाण में मिलाकर खट्टी दही की मलाई से अम्लीकृत और प्रचुर स्नेह (घृत अपदि) से युक्त यथाविधि प्रस्तुत खड प्रवाहिका को नष्ट करता है । खड का साधन यूषवत् ही है ॥ ३७ ॥

यवानां मुद्गमाषाणां शालीनां च तिलस्य च ।

कोलानां बालविल्वानां धान्ययूषं प्रकल्पयेत् ॥ ३८ ॥

ऐकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसाधितम् ।

वर्चःक्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत् ॥ ३९ ॥ ३३७

जौ, मूंग, उड़द, शालिचावल, तिल, बेर तथा बेलगिरी; इन्हें एकत्र कर यथाविधि धान्ययूष प्रस्तुत करे । इस धान्ययूष को मिश्रित घृत और तैल में भूनना चाहिये तथा दही एवं अनार के रस से अम्लीकरणार्थ संस्कृत करना चाहिये । जिस रोगी का मुख इस रोग के कारण अत्यन्त सूख गया हो उसे पुरीषक्षय होने पर उक्त धान्ययूष के साथ शालि का भात खिलाना चाहिये । शूकधान्य तथा शमीधान्यों की प्रधानता होने से इसे धान्ययूष कहा जाता है ॥ ३८—३९ ॥

दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम् ।

सुरां वा यमके भृष्टां व्यञ्जनार्थं प्रदापयेत् ॥ ४० ॥

अथवा आहार में व्यञ्जनार्थ दही की मलाई को मिश्रित घृत और तैल में भूनकर उसमें गुड तथा सोंठ का चूर्ण उचित प्रमाण में मिलाकर देना चाहिये । अथवा यमक (घृत+तैल) में ही सुरा को भूनकर वा छौंककर व्यञ्जनार्थ प्रयोग करना चाहिये ।

पूर्व के व्यञ्जनयोग में सोंठ के स्थान पर अनारदाने का प्रयोग भी किया जा सकता है । अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० ११ में कहा है—

‘दधिसरं वा सगुडदाडिमं यमकभृष्टम् ।’ ॥ ४० ॥

फलाम्लं यमके भृष्टं यूपं गृञ्जनकस्य वा ।

लोपाकरसमम्लं वा स्निग्धाम्लं कच्छपस्य वा ॥ ४१ ॥

अथवा अनार आंवला आदि के रसों को यमक में भर्जितकर अथवा गृञ्जनक(गाजर, शलगम वा पलाण्डुविशेष)के यूष को अथवा लोमड़ी के मांसरस को अनार आदि के रस से अम्लीकृत करके अथवा कछुए के घृत आदि से स्निग्ध और अनार आदि के रस से अम्लीकृत मांसरस को व्यञ्जनार्थ प्रयोग कराना चाहिये ॥ ४१ ॥

वर्हितित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां तथा रसाः ।

स्निग्धाम्लाः शालयश्चाज्या वर्चःक्षयरुजापहाः ॥ ४२ ॥

मोर, तीतर, मुर्गा तथा वर्तकों (बटेर) के मांसरस से जो घी आदि स्नेहों से स्निग्ध और अनार आंवले आदि के रस से अम्लीकृत हों तथा श्रेष्ठ पुराने शालि पुरीषक्षय के रोग को नष्ट करते हैं ।

पुराने लाल शालि मल को बांधकर लाते हैं और यदि उपर्युक्त खड यूष वा मांस रसों के साथ प्रयुक्त कराये जाय तो पुरीषक्षय को नष्ट करते हैं ॥ ४२ ॥

अन्तराधिरसं पूत्वा रक्तं मेषस्य चोभयम् ।

पचेद्दाडिमसाराम्लं सधान्यस्नेहनागरम् ॥ ४३ ॥

ओदनं रक्तशालीनां तेनाद्यात् प्रपिवेच तम् ।

तथा वर्चःक्षयकृतैर्व्याधिभिर्विप्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

मेष (मेढ़े) के मध्यदेह (धड़) के मांसरस को वस्त्र से छान कर उसमें मेढ़े का ही रक्त मिश्रित करें । इसे घृत में भर्जित कर लें और अनारदाना वा अनार का रस धनियां और सोंठ डाल कर पकावें । घी में पूर्व भर्जित न कर पीछे भी किया जा सकता है । इस मांसरस से लाल शालियों का भात खिलाना चाहिये । रोगी इस मांसरस को पी भी सकता है । इसप्रकार वह पुरीषक्षय से उत्पन्न व्याधियों से मुक्त हो जाता है ॥ ४३-४४ ॥

गुदनिःसरणे शूले पानमम्लस्य सर्पिषः ।

प्रशस्यते निरामाणामथवाऽप्यनुवासनम् ॥ ४५ ॥

यदि रोगी की गुदा बाहिर निकल आती हो, शूल हो और पुरीष निराम हो तो अम्ल घृत का पान प्रशस्त है । अथवा रोगी को अनुवासन वस्ति देनी चाहिये ॥ ४५ ॥

चाङ्गेरीघृतम्

चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम् ।

घृतमुत्कथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम् ॥ ४६ ॥

इति चाङ्गेरीघृतम् ।

चाङ्गेरीघृत—गन्धघृत २ प्रस्थ । चाङ्गेरी (तिपत्तिया) का रस ८ प्रस्थ । बेर का काथ ८ प्रस्थ । खट्टी दही ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—सोंठ और यवचार मिलित आधा प्रस्थ । यथाविधि साधित इस घृत के पान से गुदभ्रंश नष्ट होता है । मात्रा—आधा तोला ।

इस घृत में द्रव और कल्क के विनिश्चय के लिये चक्रपाणि ने अपने संग्रहग्रन्थ में—

‘शुण्ठीक्षारावत्र कल्कौ शिष्टन्तु द्रवमिष्यते ॥’

कहा है । जो द्रवों को मिलाकर घी से चतुर्गुण लेना मानते हैं वे चाङ्गेरीस्वरस सूखे बेरों का काथ तथा खट्टी दही तीनों को मिलाकर ८ प्रस्थ लेते हैं । अन्य चाङ्गेरीस्वरस को तो घी के समान लेते हैं और शेष दोनों द्रवों को घी से तिगुना । वे कहते हैं कि स्वरस में दूध के सदृश ही विधान है । परन्तु दही में भी तो दूध के सदृश ही प्रायशः विधान है दही को भी घी के समान ही लेना चाहिये । यदि दही को भी घी के समान ही लें तो बेर का काथ द्विगुण होगा । पर व्यवहार इन दोनों विधियों से नहीं । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी यह योग पढ़ा है—

‘गुदभ्रंशे शूले चाम्लवदरचाङ्गेरीरसदधिकारनागरकल्केन शृतमम्लं सर्पिर्निराममातुरं पार्थयेत् ।’

एक अन्ययोग भी तन्त्रान्तरों में चाङ्गेरीघृत नाम से है जो गुदभ्रंश तथा ग्रहणी आदि में प्रयुक्त होता है ।

‘नागरं पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥

१ अत्रेन्दुः—अम्लवदरचाङ्गेरीरसयोर्दक्षश्च मिश्रीभूतानां सर्पिस्समं यवचारशुण्ठीकल्कः स्नेहाचतुर्थांशेन इति । परमत्र मिश्रीभूतानां द्रवाणां समत्वसमाख्याने स एव प्रमाणम् ।

श्वदंष्ट्रा पिप्पली धान्यं बिल्वं पाठा यमानिका ।

चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः कल्कैरेतैर्विपाचयेत् ॥

चतुर्गुणेन दध्ना च तद्घृतं कफवातनुत् ॥

अर्शांसि ग्रहणीदोषं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ।

गुदभ्रंशार्तिमानाहं घृतमेतद्वचपोहति ॥'

अर्थात् गव्यघृत २ प्रस्थ । दही ८ प्रस्थ । चाङ्गेरीरस ८ प्रस्थ (दही का साहचर्य होने से) । कल्कद्रव्य—सोंठ, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, गोखरू, पिप्पली, धनियां, बेलगिरी, पाढ़, अजवाइन; मिलित आधा प्रस्थ । यह घृत वातकफज रोगों में हितकर है । अर्श, संग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, शूल तथा आनाह प्रभृति रोगों का नाशक है ॥ ४६ ॥

चव्यादिघृतम्

सचव्यपिप्पलीमूलं सव्योषविडदाडिमम् ।

पेयमम्लं घृतं युक्त्या सधान्याजाजिचित्रकम् ॥ ४७ ॥

इति गुदभ्रंशे चव्यादिघृतम् ।

चव्यादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । चाङ्गेरी स्वरस ८ प्रस्थ । वेरका काथ ८ प्रस्थ । खट्टी दही ८ प्रस्थ । अथवा द्वितीय पक्ष के अनुसार मिलित तीनों द्रव ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—चव्य, पिप्पली-मूल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, विडनमक, अनारदाना, धनियां, श्वेतजीरा, चित्रक; मिलित आधा प्रस्थ । यथाविधि घृतपाक करे । यह घृत गुदभ्रंश को नष्ट करता है । मात्रा—आधा तोला । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

‘ सरिचपञ्चकोलाजाजीधनिकाविडदाडिमगर्भं वा पूर्ववद् (चाङ्गेरीघृतवद्) अम्लम् ’ ॥ ४७ ॥

दशमूलोपसिद्धं वा सविल्वमनुवासनम् ।

१ ‘ दशमूल्युपसिद्धं ’ पा० । ‘ दशमूल्युपसिद्धमित्यपि केचित्पठन्ति तत्र दशमूल्या अपः दशमूल्यपस्तेन सिद्धमित्येवमर्थ उन्नेयः ।

शटीशताह्वाविल्वैर्वा वचया चित्रकेण वा ॥ ४८ ॥

अथवा दशमूल (विल्वत्वक्, पाटलात्वक्, अरणीत्वक्, गाम्भारीत्वक्, श्योनाकत्वक्, शालपर्णी, पृथिपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) के क्वाथ से तथा बेलगिरी के कल्क से यथाविधि साधित स्नेह का अनुवासन कराना चाहिये ।

अथवा १ कचूर सोये और बेलगिरी से अथवा २ वचा से अथवा ३ चित्रकसे यथाविधि साधित स्नेह का अनुवासन कराना चाहिये

घी का प्रकरण होने से कोई अनुवासनार्थ घृत का पाक करते हैं । पर अनुवासन में प्रायशः तिलतैल का व्यवहार अधिक है अतः दूसरे तैल का पाक ही उचित समझते हैं ॥ ४८ ॥

स्तब्धभ्रष्टगुदे पूर्व स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत् ।

सुखिन्नं च मृदुभूतं पिचुना संप्रवेशयेत् ॥ ४९ ॥

यदि गुदभ्रंश स्तब्ध हो अर्थात् बाहिर निकला हुआ गुदा का भाग कठिन होकर अन्दर प्रविष्ट न हो तो पूर्व स्नेहन और स्वेदन करे । जब अच्छी प्रकार स्वेदन हो जाने से मृदु हो जाय तब अंगुल को पिचु (रुई वा कपड़े की गद्दी) से आच्छादित करके हलके दबाव से अन्दर प्रविष्ट कर दे ।

अन्तःप्रविष्ट कराने के पश्चात् यदि आवश्यक हो तो सच्छिद्र मृदु चर्म से गोष्फणाबन्ध बांध देना चाहिये । चर्म का सच्छिद्र भाग गुदा के मुख पर आना चाहिये । सुश्रुत चि० अ० २१ में कहा भी है—

गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत् ।

कारयेद्गोष्फणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ॥

विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः ॥

गोष्फणाबन्ध कौपीन के सदृश होता है ॥ ४९ ॥

१ ' शटीशताह्वाकुष्ठैर्वा ' ।

विबद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः ।

सरक्कपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति ॥ ५० ॥

जिसके वायु और पुरीष विबद्ध हों, शूल और प्रवाहिका बहुत हो, रक्त तथा आंव आती हो और जो तृष्णा से पीड़ित हो उस व्यक्ति को दूध भरपेट पिलाना चाहिये । अर्थात् ऐसे रोगी को जब भूख लगे तब दूध ही देवे ॥ ५० ॥

यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा पिबेन्नरः ।

शृतमेरण्डमूलेन बालविल्वेन वा पुनः ॥ ५१ ॥

अथवा रोगी पूर्व यमक (घी और तैल मिश्रित) को मात्रा में पीकर ऊपर से धारोष्ण दूध पीवे ।

अथवा एरण्डमूल या कच्ची बेलगिरी से यथाविधि साधित दूध पीना चाहिये ॥ ५१ ॥

एवं क्षीरप्रयोगेण रक्तं पिच्छा च शाम्यति ।

शूलं प्रवाहिका चैव विबन्धश्चोपशाम्यति ॥ ५२ ॥

इस प्रकार दूध के प्रयोग से रक्त, आंव, शूल, प्रवाहिका और वात तथा पुरीष का विबन्ध शान्त हो जाता है । प्रवाहिका का लक्षण निम्नोक्त है—

‘वायुः प्रवृद्धो निश्चितं बलासं

नुदत्यधस्तादहिताशनस्य ।

प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाकं

प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥’ सु० उ० अ० ४० ॥

वाग्भट चि० अ० ६ में—

‘स्रुते रक्ते पुरीषे च वायुना विड्विवर्जिते

प्रवाहिकेति विख्यातं यत्फेनाभं प्रवर्तते ॥’

अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० ११ में कहा है—

‘पक्वदोषोऽपि योऽतिसार्यते बहुशोऽनिलेन विबद्धं सपिच्छं

सफेनं सशूलपरिकर्तिकं सरोमहर्षं निष्पुरीषं च तां प्रवाहिकां
विम्बिसीमिति चाचक्षते ।'

इसे विखंसी, निश्चारक, निस्तानिका, अन्तर्ग्रन्थि इत्यादि
नामों से भी कहा जाता है ॥ ५२ ॥

पित्तातिसारं पुनर्निदानोपशयाकृतिभिरामान्वयमुपलभ्य यथा-
बलं लङ्घनपाचनाभ्यामुपाचरेत् ॥ ५३ ॥

पित्तातिसारचिकित्सा—निदान उपशय तथा लक्षणों से
पित्तातिसार की सामता को जानकर रोगी के बल के अनुसार
लङ्घन (उपवास) और पाचन से चिकित्सा करे ॥ ५३ ॥

तृष्यतस्तु मुस्तर्पणकोशीरसारिवाचन्दनकिराततिक्ककोदीच्य-
वारिभिरुपचारः ॥ ५४ ॥

जब रोगी को प्यास लगे तब मोथा, पित्तपापड़ा, खस,
सारिवा (अनन्तमूल), लाल चन्दन, चिरायता, सुगन्धवाला;
इनसे षडङ्गपानीय के विधान से साधित जल पीने को देना चाहिये

लङ्घितस्य चाहारकाले बलातिबला-सूर्यपर्णी-शालपर्णी-पृश्नि-
पर्णी-बृहती-कण्टकारिकाश्वदंष्ट्रानिर्यूहसंयुक्तेन यथासात्म्यं यवागू-
मण्डादिना तर्पणादिना वा क्रमेणोपचारः ॥ ५५ ॥

लङ्घन कराने के पश्चात् रोगी का आहार के समय सात्म्य के
अनुसार बला, अतिबला सूर्यपर्णी (मुद्रपर्णी और माषपर्णी), शाल-
पर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू; इनसे षडङ्गपानी-
योक्त विधान द्वारा साधित जल से साधित यवागूमण्ड आदि वा
तर्पण आदि के भोजन द्वारा क्रमशः उपचार करना चाहिये ।
अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में कहा है—

‘उपोषितस्य चात्रकालेऽभीरुह्रस्वपञ्चमूलबलाद्वयसूष्यपर्ण्यादि-
मृदुमधुरतिक्तदीपनद्रव्यनिर्यूहयुक्तान् कालाविन्मण्डपेयासक्तयु-
रसादीनीषदम्लाननम्लान्वा कवोष्णान् सुशीतान् वा सक्षौद्रान् ॥ ५६ ॥

मुद्गमसूरहरेणुमकुष्ठकाढकीगुषैर्वा लावकपिञ्जलशशहरिणै-
कालपुच्छकरसैरीषदम्लैरनम्लैर्वा क्रमशोऽग्निं सन्धुक्षयेत् ॥ ५६ ॥

मूंग, मसूर, हरेणु (चना वा मटर), मोठ, इनके यूषों से अथवा
लाव, कपिञ्जल (गौरैया), शशक, हरिण, एण (कृष्ण हरिण),
कालपुच्छक (जिस मृग की पूंछ काली होती है), इनके मांस-
रसों से जो अनार आदि के रस से थोड़ा खट्टा किया गये हों
अथवा विना खट्टा किये हुआओं से ही अग्नि को प्रदीप्त करे ।
अर्थात् इनके प्रयोग से पित्तातिसारी की अग्नि उदीप्त होती है ॥ ५६ ॥

अनुबन्धे त्वस्य दीपनीयपाचनीयोपशमनीयसंग्रहणीयान्
योगान् प्रयोजयेदिति ॥ ५७ ॥

यदि उपर्युक्त क्रम से पित्तातिसार शान्त न हो तो दीपनीय
पाचनीय उपशमनीय (पित्त को शान्त करने वाले) तथा संग्र-
हणीय योगों का प्रयोग करे ॥ ५७ ॥

भवन्ति चात्र ।

सत्तौद्रातिविषं पिष्ट्वा वत्सकस्य फलत्वचम् ।

पिबेत् पित्तातिसारघ्नं तण्डुलोदकसंयुतम् ॥ ५८ ॥

अतीस, इन्द्रजौ, कुटज की छाल; इनके चूर्णों को समप-
रिमाण में मिला मधु मिश्रित कर तण्डुलोदक के साथ रोगी
पीवे । यह पित्तातिसार को नष्ट करता है । चूर्ण की मात्रा—
४ रत्ती ॥ ५८ ॥

किराततिक्ककं मुस्तं वत्सकः सरसाञ्जनः ।

विल्वं दारुहरिद्रा च हीवेरं सदुरालभम् ॥ ५९ ॥

चन्दनं च मृणालं च नागरं लोध्रमुत्पलम् ।

तिला मोचरसो लोध्रं समङ्गा कमलोत्पलम् ॥ ६० ॥

उत्पलं धातकीपुष्पं दाडिमत्वङ्महौषधम् ।

३३८

कट्फलं नागरं पाठा जम्बाग्रास्थिदुरालभाः ॥ ६१ ॥

योगाः षडेते सत्तौद्रास्तण्डुलोदकसंयुताः ।

पेयाः पित्तातिसारघ्नाः श्लोकार्धेन निदर्शिताः ॥ ६२ ॥

पित्तातिसारनाशक योग—१ चिरायता, मोथा, इन्द्रजौ, रसौत । मात्रा—६ रत्ती ।

२—बेलगिरी, दारुहल्दी, सुगन्धवाला, दुरालभा । मात्रा—१ मासा ।

३—लालचन्दन, मृणाल (खस), सोंठ, लोध, नीलोत्पल । मात्रा—२ मासे ।

४—तिल, मोचरस, लोध, समझा (लज्जालु), श्वेतकमल, नीलोत्पल । मात्रा—२ मासे ।

५—नीलोत्पल, धाय के फूल, अनार का छिलका, सोंठ । मात्रा—२ मासे ।

६—कट्फल, सोंठ, पाठा, जामुन की गुठली, आम की गुठली, दुरालभा । मात्रा—२ मासे ।

इन छहों योगों को मधु मिला तण्डुलोदक के साथ रोगी पीवे । ये आधे आधे श्लोक में बताये गये योग पित्तातिसार को नष्ट करते हैं ॥ ५६—६२ ॥

जीर्णौषधानां शस्यन्ते यथायोगं प्रकल्पितैः ।

रसैः सांग्राहिकैर्युक्ताः पुराणा रक्तशालयः ॥ ६३ ॥

जब औषध जीर्ण हो जाय तब यथायोग्य प्रस्तुत किये गये संग्राही मांसरसों के साथ पुराने लाल शालि के भात का भोजन हितकर होता है ॥ ६३ ॥

पित्तातिसारो दीप्ताग्नेः क्षिप्रं समुपशाम्यति ।

अजाक्षीरप्रयोगेण बलं वर्णश्च वर्धते ॥ ६४ ॥

बकरी के दूध के प्रयोग से अग्नि के दीप्त होने पर पित्ताति-

सार शीघ्र शान्त हो जाता है । बल और वर्ण की वृद्धि होती है ।
यह स्मरण रखना चाहिये कि बकरी का दूध संग्राही भी है ॥ ६४ ॥

बहुदोषस्य दीपाग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति ।

पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत् ॥ ६५ ॥

यदि दोष के आधिक्य के कारण इस चिकित्सा से पैत्तिक
अतीसार शान्त न हो तो दीपाग्नि एवं बल तथा उत्साहयुक्त रोगी
को दूध से विरेचन करावे ॥ ६५ ॥

पलाशफलनिर्यूहं पयसा पाययेत तम् ।

ततोऽनुपाययेत् कोष्णं क्षीरमेव यथाबलम् ॥ ६६ ॥

प्रवाहिते तेन मले प्रशाम्यत्युदरामयः ।

उस रोगी को विरेचनार्थ पलाशफल (ढाक की फली) के
काथ को दूध में मिलाकर पिलावें । इसके पश्चात् अनुपान रूप
में रोगी के बल के अनुसार कोसा दूध ही पिलाना चाहिये ।
अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में पलाशफल के काथ से दूध को
सिद्ध करने को कहा है—

‘बलवान् विबद्धमलो विरेकार्थं त्रिफलाचूर्णयुक्तं वा पलाश-
फलकाथसिद्धं वा पयः पीत्वा पय एव कवोष्णमनुपिबेत् ॥’

इसके प्रयोग से मल के बाहिर बह जाने पर अतीसार शान्त
हो जाता है ॥ ६६ ॥

पलाशवत् प्रयोज्या वा त्रायमाणा विशोधिनी ॥ ६७ ॥

अथवा पलाशफल के काथ के सदृश ही त्रायमाणा का
प्रयोग कराना चाहिये । अर्थात् त्रायमाणा के क्वाथ को दूध में
मिश्रित कर मात्रा में रोगी को पिलाकर ऊपर से सुहाता गरम
दूध पिलावें । यह भी विशोधन करती है । अतएव कारणभूत
विवद्ध रुके हुए पुराने मल के निकल जाने से अतीसार शान्त
हो जाता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

‘ एवमेव च त्रायमाणया शृतम् । ततो निःसृते शकृति
पुराणेऽतीसारः शान्तिमेति ’ ॥६७॥

संसर्ग्या क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते ।

सूतदोषस्य तं शीघ्रं यथावदनुवासयेत् ॥ ६८ ॥

यदि दोष के साव अर्थात् विरेचन के पश्चात् संसर्जनक्रम
(पेया आदिक्रम) को करते हुए भी शूल का अनुवर्तन हो तो
उस रोगी को शीघ्र ही यथावत् अनुवासन कराना चाहिये ॥६८॥

शतपुष्पावरीभ्यां च पयसा मधुकेन च ।

तैलपादं घृतं सिद्धं सविल्वमनुवासनम् ॥ ६९ ॥

शतपुष्पाद्यनुवासन—गव्यघृत और इससे चतुर्थांश
तिलतैल मिश्रितकर इस यमक को चौगुने दूध और सोये, शता-
वर, मुलहठी, तथा बेलगिरी इनके कल्क चतुर्थांश से यथाविधि
पकावें । पश्चात् छानकर रोगी को अनुवासन दें ।

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में शतावर नहीं पढ़ी गई, वहां
सौंफ लेने को कहा है—

‘ सूतदोषस्य च संसर्जनकाले शूलं चेदनुवर्तते ततो विल्व-
मधुकशताह्वाद्ययगर्भं सक्षीरं तैलचतुर्गुणं सर्पिर्विपाच्यानुवासनं दद्यात् ।
इसकी टीका करते हुए इन्दु ने दूध को स्नेहसमान लेने को
कहा है । परन्तु यह परिभाषा से विरुद्ध है ॥६९॥

कृतानुवासनस्यास्य कृतसंसर्जनस्य च ।

वर्तते यद्यतीसारः पिच्छावस्तिरतः परम् ॥ ७० ॥

अनुवासन कराने के पश्चात् संसर्जनक्रम (पेयादिक्रम)
कराने के अनन्तर भी यदि अतिसार जारी रहता है—निवृत्त नहीं
होता, तो तत्पश्चात् पिच्छावस्ति दी जानी चाहिये ॥७०॥

१ ‘ सांसर्ग्या हियमाणायां ’ ग. । ‘ शेषमलसंसर्गकर्मानिवृत्त्यां हिय-
माणायां ’ गङ्गाधरः ।

पिच्छावस्तिः

परिवेष्ट्य कुशैरद्रैरार्द्रवृन्तानि शाल्मलेः ।
 कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्य स्वेदयेत् गोमयाग्निना ॥ ७१ ॥
 मुशुष्कां मृत्तिकां ज्ञात्वा तानि वृन्तानि शाल्मलेः ।
 श्रुते पयसि मृद्वीयादापोऽथ्योलूखले ततः ॥ ७२ ॥
 पिण्डं मुष्टिसमं प्रस्थे तत् पूतं तैलसर्पिषोः ।
 योजितं मात्रया युक्तं कल्केन मधुकस्य च ॥ ७३ ॥
 वस्तिमभ्यक्त्वात्राय दद्यात्, प्रत्यागते ततः ।
 स्नात्वा भुञ्जीत पयसा जाङ्गलानां रसेन वा ॥ ७४ ॥
 पितातिसारज्वरशोथगुल्मजीर्णातिसारग्रहणीप्रदोषान् ।
 जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृद्धान् विरेचनास्थापनयोश्च वस्तिः ॥ ७५ ॥

इति पिच्छावस्तिः ।

पिच्छावस्ति—सेमल के ताजे गीले ही वृन्तों को ताजी गीली कुशा से अच्छी प्रकार लेपट कर कालीमिट्टी का लेपकर दें । और गीले को ही उपलों की अग्नि में स्वन्न करें । जब मिट्टी अच्छी प्रकार सूख जाय तब उन वृन्तों को निकाल लें और ऊखल में कुचलकर उसका एक पल प्रमाण पिण्ड ले लें । इसे उबले हुए दूध २ प्रस्थ में मल दें । पश्चात् स्वच्छ वस्त्र से छान कर उचित मात्रा में तैल और घृत तथा मुलहठी का कल्क मिलाकर रोगी को वस्ति दें । वस्ति देने से पूर्व रोगी के देह पर तैल का अभ्यङ्ग कर लेना चाहिये ।

घी और तैल की मात्रा तथा मुलहठी के कल्क की मात्रा का निर्धारण वस्तिविधान के अनुसार सोचकर करना चाहिये । यह प्रकरण सिद्धिस्थान अध्याय ३ में आयगा ।

१ 'गुल्मजीर्णा' पा० । 'गुल्मरक्तातिसार' इति वा पाठः कार्यः वृद्धवारभटसंवादात् । २ 'शीघ्रमतिप्रयुक्त्वा विरेचनास्थापनजांश्च' इति पाठः साधुः ।

वस्ति देने के पश्चात् जब वह बाहिर निकल जाय तब रोगी को चाहिये कि स्नान करके दूध अथवा जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस से शालि आदि का अन्न (भात) खावे ।

यह वस्ति अत्यन्त प्रवृद्ध पित्तातिसार, ज्वर, शोष, गुल्म, पुराना अतिसार, ग्रहणी दोष प्रभृति रोगों तथा विरेचन एवं आस्थापन के अतियोग को शीघ्र जीतती है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी यह वस्ति पढ़ी है—

‘शाल्मलीवृन्तान्याद्र्दभैर्वैष्टयित्वा कृष्णमृदावलिप्य गोमया-
भिना स्वेदयेत् । शुष्कायां मृदि स्विन्नानि ज्ञात्वा वृन्तान्युलूखले
समापोध्य तेषां मुष्टिसम्मितं पिण्डं क्षीरप्रस्थे विमर्दयेत् । ततस्तेन
पयसा पूतेन सघृततैलेन मधुमधुकल्कयुक्तेनास्थापयेत् । प्रत्यागते
च स्नातः पयसा कच्छुराशृतेन जाङ्गलरसैर्वाश्रियात् । एष पिच्छा-
वस्तिः पित्तरक्तातिसारग्रहणीगुल्मशोषज्वरान् विरेचनास्थापनाति-
योगं च शमयति ॥’

इसमें मधु का डालना विशेष कहा है । तथा वस्ति के अनन्तर जो भोजन का उपदेश है उसमें दूध को दुरालभा से सिद्ध करने को कहा है ॥ ७१-७५ ॥

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते ।

पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम् ॥ ७६ ॥

रक्तातिसारं कुरुते रक्तमाशु प्रदूषयत् ।

तृष्णां शूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम् ॥ ७७ ॥

रक्तातिसार का हेतु तथा पित्तातिसार के अन्य उपद्रव—जो पित्तातिसार का रोगी उक्त चिकित्सा को न करते हुए पित्तवर्द्धक अन्नपान का सेवन करता है उसका अत्यन्त प्रबल हुआ पित्त रक्त को दूषित करके रक्तातिसार को उत्पन्न करता है । अत्यन्त तृष्णा, शूल, विदाह (दाह अथवा Inflammation) और दारुण गुदपाक (गुदा

का पकना) ये उपद्रव हो जाते हैं ॥ ७६-७७ ॥

तत्र छागं पयः शस्तं शीतं समधुशर्करम् ।

पानार्थं व्यञ्जनार्थं च गुदप्रक्षालने तथा ॥ ७८ ॥

चिकित्सा—ऐसी अवस्था में पीने के लिये, भोजन में व्यञ्जन के लिये और गुदा को धोने में मधु तथा खांड से युक्त शीतल बकरी का दूध हितकर होता है ।

यदि इस दूध को बट आदि क्षीरीवृक्षों के अङ्कुरों से सिद्ध कर लिया जाय तो और भी शीघ्र लाभ होने की सम्भावना है । सुश्रुत उ० अ० ४० में कहा है—

‘ यो रक्तं शकृतः पूर्वं पश्चाद्वाप्यतिसार्यते ।

स पल्लवैर्वटादीनां ससर्पिः साधितं पयः ॥

पिवेत्सशर्कराक्षौद्रम् ॥”

यद्यपि यहां बकरी के दूध पर ही बल नहीं दिया तो भी बकरी का दूध ही अधिक अभीष्ट है । अतएव अष्टाङ्गसंग्रहकार ने तो कहा है—

‘तत्र क्षीरमाजं न्यग्रोधादिप्रसवशृतं सितामधुयुक्तमाहारे गुद-
प्रक्षालने च विदध्यात् ।’ चि० अ० ११ ॥ ७८ ॥

भोजनं रक्तशालीनां पयसा तेन भोजयेत् ।

रसैः पारावतादीनां घृतभृष्टैः सशर्करैः ॥ ७९ ॥

लाल शालि के भात को उसी दूध अर्थात् मधु तथा खांड से युक्त बकरी के दूध से खिलावें । अथवा पारावत आदि प्रतुद पक्षियों के मांसरसों से—जो घी में भर्जित हों और जिनमें खांड डाली गई हो—लाल शालि का अन्न खिला सकते हैं । प्रतुद पक्षियों के मांस के गुण सू० अ० २७ में कहे जा चुके हैं—

‘ लावाद्यो वैष्किरो वर्गः प्रतुदा जाङ्गला मृगाः ।

लघवः शीतमधुरा सकषाया हिता नृणाम् ॥

पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ॥ ' ७६ ॥

शशानां धन्वजानां च शीतानां मृगपक्षिणाम् ।

रसैरनम्लैः सघृतैर्भोजयेत् तं सशर्करैः ॥ ८० ॥

शशक तथा जाङ्गलदेश के तथा अन्यभी जो शीतवीर्य हैं उन पशुपक्षियों के मांसरस—जिनमें घृत और खांड हो—के साथ लाल शालि आदि का भात खिलाना चाहिये । इन्हें अनार आदि के रस से खट्टा न करना चाहिये । शशक मांस के गुण भी २७ अध्याय में कहे जा चुके हैं । यह शीतल तथा कषायमधुर होता है ॥ ८० ॥

रुधिरं मार्गमाजं वा घृतभृष्टं प्रशस्यते ।

काशमर्यफलयूषो वा किञ्चिदम्लः सशर्करः ॥ ८१ ॥

अथवा रोगी के लिये घी में भर्जित मृग वा बकरे का रुधिर का पीना भी प्रशस्त है । अथवा गाम्भारी के फल का यूष जो अनार आदि के रस से थोड़ा खट्टा किया हो और जिसमें खांड डाली हो प्रशस्त है ॥ ८१ ॥

नीलोत्पलं मोचरसं समझां पन्नकेशरम् ।

अजाक्षीरयुतं दद्याज्जीर्णं च पयसौदनम् ॥ ८२ ॥

दुर्बलं पाययित्वा वा तस्यैवोपरि भोजयेत् ।

नीलोत्पलादियोग—नीलोत्पल, मोचरस, समझा (लज्जा अथवा मञ्जिष्ठा), कमलकेसर; इनके चूर्ण को २ मासा मात्रा में बकरी के दूध के साथ दें । औषध के जीर्ण होजाने पर रोगी दूध के साथ भात खावे । यहां भी दूध बकरी का ही अधिक अच्छा होगा ।

यदि रोगी दुर्बल हो तो नीलोत्पलादि चूर्ण को बकरी के दूध के साथ पिलाकर उसके ऊपर ही भोजन करा दें । औषध के जीर्ण होने की प्रतीक्षा न करें ॥ ८२ ॥

प्राग्भक्तं नवनीतं वा दद्यात् समधुशर्करम् ॥ ८३ ॥

अथवा भोजन से ठीक पूर्व मक्खन में मधु और खांड मिला कर रोगी को खाने को देना चाहिये । यदि यह मक्खन दूध से निकाला हो तो अच्छा होगा ॥ ८३ ॥

प्राश्य क्षीरोत्थितं सर्पिः कपिञ्जलरसाशनः ।

त्र्यहादारोग्यमाप्नोति पयसा क्षीरभुक् तथा ॥ ८४ ॥

कपिञ्जल के मांसरस का भोजन करने वाला अथवा दूध का ही पथ्य रखने वाला रोगी दूध से निकाले घी को दूध के अनुपात के साथ ही सेवन करे । इस प्रकार तीन दिन में आरोग्यलाभ होता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

‘क्षीरोत्थं वा सर्पिः क्षीरानुपातं कपिञ्जलरसाशी क्षीराशी वा लिह्यात्’ ॥ ८४ ॥

पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीरभुक् जयेत् ।

रक्तातिसारं पीत्वा वा तया सिद्धं घृतं नरः ॥ ८५ ॥

शतावर के कल्क को दूध के साथ पीकर रक्तातिसार को नीते अथवा शतावरी से साधित घी को दूध के साथ पीने से भी रक्तातिसार जाता रहता है । इसके प्रयोग करते हुए रोगी को केवल दूध ही पीना चाहिये ॥ ८५ ॥

घृतं यवागूमण्डेन कुटजस्य फलैः शृतम् ।

पेयं, तस्यानुपातव्या पेया रक्तापशान्तये ॥ ८६ ॥

इन्द्रजौ से साधित घी को यवागू के मण्ड के साथ पीना चाहिये । इसके पीने के पश्चात् ऊपर से पेया पीनी चाहिये । इस से रक्तातिसार की शान्ति होती है ॥ ८६ ॥

त्वक् च दारुहरिद्रायाः कुटजस्य फलानि च ।

१ ‘वत्सकस्य च बीजानि दाढ्याश्च त्वच उत्तमाः’ पा० ।

पिप्पली शृङ्गवेरं च लाक्षा कटुकरोहिणी ॥ ८७ ॥

षड्भिरेतैर्घृतं सिद्धं पेयामण्डावचारितम् ।

अतीसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम् ॥ ८८ ॥

दारुणादिघृत—दारुहल्दी की छाल, इन्द्रजौ, पिप्पली, अद-
रक, कच्ची लाख, कटुकी; इन छह औषधियों के कल्क (चतुर्थांश)
से यथाविधि साधित घी को पेया के मण्ड में डालकर पीने से
दारुण त्रिदोषज अतीसार भी शीघ्र जीता जाता है । मात्रा—आधा
तोला । इसे षडङ्गघृत नाम से भी कहा जाता है ॥ ८७—८८ ॥

कृष्णमृन्मधुकं शङ्खं रुधिरं तण्डुलोदकम् ।

पीतमेकत्र सचौद्रं रक्तसंग्रहणं परम् ॥ ८९ ॥

कृष्णमृदादियोग—कालीमिट्टी, मुलहठी, शङ्खभस्म, ताजा
रुधिर (बकरे का), तण्डुलोदक और मधु; इन्हें एकत्र यथायोग्य
मात्रा में मिश्रितकर रोगी पीवे । यह परम रक्तसंग्राहक है—रक्त-
स्राव को रोकता है ।

रुधिर से कई कुङ्कुम (केसर) का ग्रहण करते हैं । परन्तु
यह ठीक नहीं । उसके उष्ण होने से रक्तस्राव रुक नहीं सकता,
अधिक ही प्रवृत्त होगा । कुङ्कुम कफवात में तो अवश्य प्रशस्त माना
गया है, परन्तु पित्त में नहीं । बकरे के रक्त का प्रयोग तो पूर्व
कहा ही जा चुका है ॥ ८९ ॥

पीतः प्रियङ्गुकाकल्कः सचौद्रस्तण्डुलाम्भसा ।

रक्तस्रावं जयेच्छीघ्रं धन्वमांसरसाशिनः ॥ ९० ॥

जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस का पथ्य रखते हुए रोगी
यदि प्रियङ्गु के कल्क में मधु मिला तण्डुलोदक के अनुपात से
सेवन करे तो रक्तस्राव शीघ्र रुक जायगा । मात्रा—१ मासा ॥ ९० ॥

कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करापञ्चभागिकः ।

१ 'द्राक्षा' पा० । २ शर्कराभागमपेक्ष्य पञ्चमो भागस्तिलकदकस्येत्यर्थः ।

आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति ॥ ६१ ॥

काले तिलों का कल्क १ भाग और खांड ४ भाग मिलाकर एक तोला वा दो तोला प्रमाण में बकरी के दूध के साथ पीने से शीघ्र रक्त रुक जाता है । जतूकर्ण ने भी कहा है—

‘कृष्णतिलान् शर्करापादिकान् छागीपयसा ॥’ ६१ ॥

पलं वत्सकवीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत् ।

यो रसाशी जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जठरामयम् ॥ ६२ ॥

१ पल इन्द्रजौ का काथ करके उस काथ को जो रोगी पीता है वह शीघ्र ही पैत्तिक अतीसार को जीत लेता है । पथ्य-मांसरस भोजन । आजकल तो इन्द्रजौ को अधिक से अधिक आधा तोला वा एक तोला प्रमाण में लेकर काथ करना चाहिये । सामान्य अवस्थाओं में तो ३ मासे ही पर्याप्त होगा ६२

पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्भसा ।

दाहतृष्णाप्रमेहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते ॥ ६३ ॥

रक्त वा श्वेत चन्दन के चूर्ण को (१ मासा मात्रा) खांड और मधु के साथ मिश्रित कर तण्डुलोदक के साथ पीने से रोगी दाह तृष्णा प्रमेह और रक्तस्राव से मुक्त हो जाता है ॥ ६३ ॥

गुदो बहुभिरुत्थानैर्यस्य पित्तेन पच्यते ।

सेचयेत्तं सुशतिन पटोलमधुकाम्बुना ॥ ६४ ॥

बार बार बहुतबार पाखाना जाने के कारण पित्त से जिसकी गुदा पक गई हो वहां पटोलपत्र और मुलहठी के अत्यन्त शीतल काथ से गुदा का परिषेचन करना चाहिये । यह काथ अर्धशृत किया जाता है ॥ ६४ ॥

पञ्चवल्कमधूकानां रसैरिक्षुरसैर्घृतैः ।

छागैर्गव्यैः पयोभिर्वा शर्कराक्षौद्रसंयुतैः ॥ ६५ ॥

पांचों क्षीरीवृक्ष (वट, पीपल, गूलर, खजूर, वेतस) की

छाल तथा महुआ; इनके काथ से, ईख के रस से, बकरी वा गौ के दूध वा घी से जिनमें खांड और मधु मिलाया हो गुदा का परिषेचन करना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में तो इसप्रकार कहा है—

‘गुददाहे पुनः पटोलमधुकमधूकक्षीरिवृक्षादिकषायेण सघृत-
शर्कराक्षौद्रेण क्षीरेण वा गुदं तदासन्नांश्च प्रदेशान् सिञ्चेत् ॥’ ६५ ॥

प्रक्षालनानां कल्कैर्वा ससर्पिष्कैः प्रलेपयेत् ।

एषां वा सुकृतैश्चूर्णैस्तं गुदं प्रतिसारयेत् ॥ ६६ ॥

अथवा जो अभी प्रक्षालनार्थ वा परिषेचनार्थ पटोलपत्र आदि द्रव्य कहे गये हैं उनके कल्कों में घी मिलाकर गुदा पर प्रलेप भी कर सकते हैं । अथवा उन्हीं द्रव्यों के अतिशुद्ध चूर्णों का प्रतिसारण (Dusting) भी हितकर होता है ॥ ६६ ॥

धातकीलोध्रचूर्णैर्वा समर्षैः प्रतिसारयेत् ।

तथा न च स्रवत्यसं गुदं तैः प्रतिसारितम् ।

पक्वता प्रशमं याति वेदना चोपशाम्यति ॥ ६७ ॥

अथवा धाय के फूल, लोधं, उड़द; इनके चूर्ण का अव-
चूर्णन करे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

‘तच्चूर्णैः (पटोलादीनां चूर्णैः) धातकीलोध्रमाषचूर्णैश्च
पायुद्वारमवचूर्णयेत् ’ ॥ ६७ ॥

इस प्रकार गुदा पर इन अवचूर्णनों से रक्तस्राव नहीं होता,
पक्वता और वेदना शान्त होती हैं ।

यथोक्तैः सेचनैः शीतैः शोणितैः निःस्रवत्यति ।

गुदवङ्क्षणकट्यरू सेचयेद् घृतभावितम् ॥ ६८ ॥

यदि अत्यधिक रक्त निकलता हो तो गुदा वङ्क्षण कमर तथा

१ धातकीत्यादि पद्यार्थं न पठति गङ्गाधरः । २ ‘समांशैः’ पा० । ३ ‘तथा
रक्तं न स्रवति’ ग. । ४ ‘शोणितैः’ ति स्रवत्यपि’ ग. । ‘शोणितैः निःस्रवत्यपि’ पा० ।

ऊरुदेश पर घी की मालिश करके उपर्युक्त शीतल पटोलादि सेचन
काथों का परिषेचन करे । यदि रक्त का अत्यधिक स्राव हो तो
कमर से लेकर ऊरुदेश पर्यन्त सेचन करना चाहिये । यदि अल्प
ही रक्तस्राव हो तो केवल गुदा पर भी शीतल और स्तम्भक
परिषेचन से कार्य हो जाता है ॥ ६८ ॥

चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा ।
कार्पाससंगृहीतेन भावयेद्गुदवङ्क्षणौ ॥ ६९ ॥

रोगी की गुदा और वंक्षणदेश को चन्दनाद्यतैल (उवरचिकि-
त्सितोक्त) अथवा शतधौतघृत (सौवार शीतल जल से धोया
घी) को रुई से लेकर भावित करना चाहिये । गुदा के अन्दर तो
तैल वा घृत में भीगा पिचु रख सकते हैं । और बाहिर गुदद्वार तथा
वंक्षण आदि देशों पर उसे चुपड़ दिया जाता है । परिषेचन से
पूर्व भी इनका चुपड़ने के लिये प्रयोग हो सकता है ॥ ६९ ॥

अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते ।
यदा वायुर्विवद्धश्च कृच्छ्रं चरति वा न वा ॥ १०० ॥

पिच्छावस्ति तदा तस्य यथोक्तमुपकल्पयेत् ।
प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषा चानुवासयेत् ॥ १०१ ॥

जब रोगी को रक्त और शूल से युक्त थोड़ा २
पाखाना बारबार आता है और कोष्ठ में विवद्ध हुआ हुआ वायु
कष्ट से संचार करता है वा सर्वथा सञ्चार ही नहीं करता, एक स्थान
पर ही रुक जाता है तब उक्त पिच्छावस्ति का रोगी को प्रयोग
कराना चाहिये । तथा पुण्डरीककाष्ठ से यथाविधि साधित घी की
अनुवासन वस्ति देनी चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में
भी कहा है—

‘ यदा पुनर्वायुना विड्वद्धं सशोणितमल्पाल्पं सफेनं कृच्छ्रा-
दुपवेश्यते तदा पूर्वोक्तं पिच्छावस्तिं दद्यात् । मधुरौषधसिद्धेन च

सर्पिषानुवासयेत् ' ॥ १००-१०१ ॥

प्रायशो दुर्बलगुदाश्चिरकालातिसारिणः ।

तस्मादभीक्ष्णशस्तेषां गुदे स्नेहं प्रयोजयेत् ॥ १०२ ॥

जिन्हें अतीसार चिरकाल से हो प्रायशः उनकी गुदा अत्यन्त दुर्बल हो जाती है, अतः उनकी गुदा में प्रतिदिन स्नेह का प्रयोग करना चाहिये । अर्थात् घृत वा तैल आदि में भिगोया पिचु गुदा में रखना चाहिये ॥ १०२ ॥

पवनोऽतिप्रवृत्तौ हि स्वे स्थाने लभतेऽधिकम् ।

बलं तस्य सपित्तस्य जयार्थं वस्तिरुत्तमः ॥ १०३ ॥

अतिसार की अत्यन्त प्रवृत्ति होने पर वायु अपने स्थान (पक्वाशय) में अधिक बल पकड़ लेता है । उस पित्तयुक्त बलवान् वायु के जीतने के लिये वस्ति ही सर्वोत्तम उपाय है । अतः उक्त अनुवासन वस्ति रोगी के लिये अत्यन्त हितकर होती है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी—

‘ अतिसारातिप्रवृत्तौ स्वस्थानवलवृद्धो वायुः पित्तमनुबलमवाप्य दुर्जयतरो भवति । तस्मात्तेषामभीक्ष्णमनुवासनं प्रयुज्जीत ।’

चक्रपाणि कहता है कि सामान्यतः वस्ति कहने से निरुह और अनुवासन दोनों ही का अभिप्राय है ॥ १०३ ॥

रक्तं विदूषहितं पूर्वं पश्चाद्वा योऽतिसार्यते ।

शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत् ॥ १०४ ॥

जिस अतिसार के रोगी को रक्त मल के साथ मिला हुआ अथवा उससे पूर्व वा पश्चात् स्रुत होता है उसे शतावरीघृत चटाना चाहिये । घृत को शतावरी के रस और कल्क से सिद्ध करने पर शतावरीघृत कहाता है अथवा द्रव दूध हो और कल्क

१ ‘ अतिवृत्तौ हि पवनः ’ ग. ।

शतावर का हो । पूर्व ८५ वें श्लोक द्वारा इसका विधान किया जा चुका है—

‘पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीरभुक्जयेत् ।

रक्तातिसारं पीत्वा वा तथा सिद्धं घृतं नरः ॥’

अथवा शतावरीघृत से योनिव्यापत्चिकित्सा (३० अ०) में ‘शतावरीमूलतुलाश्रतल्लः’ इत्यादि द्वारा कहे गये बृहच्छतावरीघृत का ग्रहण किया जाता है ॥ १०४ ॥

शर्करार्धाशिकं लीढं नवनीतं नवोद्घृतम् ।

क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः ॥ १०५ ॥

हिताहार करने वाला पुरुष यदि ताजे निकाले मक्खन में उससे आधी खांड और चतुर्थांश मधु मिलाकर चाटे तो उक्त विकार (पुरीष के साथ मिलकर, उससे पूर्व वा पश्चात् रक्तस्राव का होना) शीघ्र नष्ट होता है ॥ १०५ ॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गानापोथ्य वासयेत् ।

अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनाम्भसा पचेत् ॥ १०६ ॥

तदर्धशर्करायुक्तं लिह्यात्सक्षौद्रपादिकम् ।

अथो वा यदि वाऽप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते ॥ १०७ ॥

न्यग्रोध (बरगद), उदुम्बर (गूलर), पीपल; इनके नूतन अङ्कुरों को कुचल कर गरम जल में २४ घण्टे भिगो रखें। पश्चात् छानकर उस जल से घी को यथाविधि पकावें। जब सिद्ध होजाय तब वस्त्र से छान लें। इस घृत की एक मात्रा में आधी खांड और चौथाई मधु मिलाकर वह रोगी जिसके मुख से वा गुदा-मार्ग से रक्त प्रवृत्त होता हो—चाटे। इस से शीघ्र ही रक्त का आना बन्द होजाता है। मात्रा—१ तोला।

यहां भिगोने के लिये गरम जल अङ्कुरों से चौगुना लिया जाता है। घृतपाक के लिये यह फाण्टकषाय घी से चौगुना

होना चाहिये ॥ १०६-१०७ ॥

यस्त्वेवं दुर्बलो मोहात्पित्तलान्येव सेवते ।

दारुणं स वलीपाकं प्राप्य शीघ्रं विपद्यते ॥ १०८ ॥

जो इसप्रकार (रक्तातिसार) से दुर्बल हुआ हुआ रोगी मोह से पुनरपि पित्तवर्धक आहार का ही सेवन करता जाता है उसकी वलियां (Sphincters) पक जाती हैं—जिससे वह शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास होता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी—

‘ यः पुनरेवमपि पित्तलान्यासेवते स शीघ्रं गुदवलीषु पकासु व्यापद्यते ’ ॥ १०८ ॥

श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लङ्घनपाचनम् ।

योज्यश्चामातिसारो यथोक्तो दीपनो गणः ॥ १०९ ॥

कफजातीसार की चिकित्सा—कफज अतीसार में सब से पूर्व लङ्घन और पाचन हितकर होता है । तथा रोगी को आम्रातिसारनाशक उक्त दीपनगण का प्रयोग कराना चाहिये ।

दीपनगण इसी अध्याय में २६८६ पृष्ठ पर कहा जा चुका है ॥ १०९ ॥

लङ्घितस्यानुपूर्व्यां च कृतायां न निवर्तते ।

कफजो यद्यतीसारः कफघ्नैस्तमुपाचरेत् ॥ ११० ॥

रोगी को लङ्घन कराने के पश्चात् यथाक्रम पाचन आम्रातिसारनाशक दीपन चिकित्सा करने पर भी यदि कफज अतीसार निवृत्त न हो तो इन कहे जाने वाले कफघ्न योगों से चिकित्सा करें ।

बिल्वकर्कटिका मुस्तमभया विश्वभेषजम् ।

वचा विडङ्गं भृतीकं धान्यकं देवदारु च ॥ १११ ॥

कुष्ठं सातिविषा पाठा चव्यं कटुकरोहिणी ।

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पली ॥ ११२ ॥

योगाः श्लोकार्धविहिताश्चत्वारस्तान् प्रयोजयेत् ।

श्रुताञ्छलेष्मातिसारेषु कायाग्निबलवर्धनान् ॥ ११३ ॥

कफातीसारनाशक चार क्वाथ योग—कच्ची बेलगिरी, मोथा, हरड़, सोंठ।

इस योग में ' बिल्वकर्कटिका ' से कच्चे कोमल बेलफल का ग्रहण है। वैद्यकनिघण्टु में भी कर्कटी का अर्थ कोमल श्रीफल किया है जो उक्त अर्थ का वाचक ही है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी यह योग पढ़ा है। वहां बिल्वकर्कटिका न कहकर स्पष्ट ही बिल्व-शलाटु कह दिया है। यथा—

‘ अनुबन्धे च पिबेत्कषायं मुस्ताभयाशुण्ठीबिल्वशलाटुनाम् ।

गङ्गाधर तो कर्कटिका से काकड़ासिंगी लेता है।

२—वचा, वायविडङ्ग, भूतीक (गन्धवृण, रोहिष अथवा अजवाइन), धनियां, देवदारु ।

३—कुष्ठ, अतीस, पाठा, चन्य, कटुकी ।

४—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली ।

इन आधे आधे श्लोकों में कहे गये चारों कार्यों का कफातिसार में प्रयोग करे। यह पाचकामि के बल को बढ़ाते हैं ॥ १११—११३ ॥

अजाजीमिसितां पाठां नागरं मरिचानि च ।

धातकीद्विगुणं दद्यान्मातुलुङ्गरसामृतम् ॥ ११४ ॥

काला जीरा, पाठा, सोंठ, कालीमिर्च; प्रत्येक १ भाग, धाय के फूल २ भाग, इस चूर्ण को ३ मासे मात्रा में मातुलुङ्ग (बिजौरे) के रस में हिलाकर प्रयोग करावें ॥ ११४ ॥

रसाञ्जनं सातिविषं कुटजस्य फलानि च ।

धातकीद्विगुणं दद्यात्पातुं सत्तौद्रनागरम् ॥ ११५ ॥

रसौत, अतीस, इन्द्रजौ; प्रत्येक १ भाग, धाय के फूल २ भाग; इस चूर्ण की २ मासे की मात्रा को मातुलुङ्ग के रस में हिलाकर मधु और सोंठ का चूर्ण मिला पीने को दें। कई कहते

१ ये तु असितात्र पिप्पली जतूकर्णसंवादात् इति । तदसाम्प्रतं पाठा जातीफलं ज्योषं धातकीद्विगुणमित्यत्र अजाज्याः स्थाने जातीफलस्य पाठात् योगान्तरमेव ।

३४०

हैं कि मधु ही इतना डालना चाहिये जो पीने योग्य हो जाय ।
वे चूर्ण से चौगुना मधु मिलाने को कहते हैं ।

रक्तातिसार में भी इससे मिलता योग तन्त्रान्तरोंमें कहा गया है।
परन्तु यतः वहां रक्तस्राव का रोकने के लिये कहा है अतः वहां
तण्डुलोदक का अनुपान बताया है ॥ ११५ ॥

धातकी नागरं विल्वं लोध्रं पद्मस्य केशरम् ।

जम्बूत्वङ्नागरं धान्यं पाठा मोचरसो बला ॥ ११६ ॥

समझा धातकी विल्वमध्यं जम्बूवाम्रयोस्त्वचः ।

कपित्थानि विडङ्गानि नागरं मरिचानि च ॥ ११७ ॥

चाङ्गेरीकोलतक्राम्लांश्चतुरस्तान्कफोत्तरे ।

श्लोकार्धविहितान्दद्यात्सस्त्रेहलवणान् खडान् ॥ ११८ ॥

कफजातीसार में चार योग—१ धाय के फूल, सोंठ, बेल-
गिरी, लोध, कमलकेसर । मात्रा—३ मासे ।

२—जामुनकी छाल, सोंठ, धनियां पाठा, मोचरस, बला । मात्रा—३ मासे

३—समझा (लाजवन्ती वा मञ्जिष्ठा), धाय के फूल, बेल-
गिरी, जामुन की छाल, आम की छाल । मात्रा—३ मासे ।

४—कैथ की मज्जा, वायविडङ्ग, सोंठ, कालीभिर्च । मात्रा—१॥मासा॥

इन चारों योगों को चाङ्गेरीस्वरस अथवा खट्टे बेरों का काथ
अथवा खट्टी लस्सी में हिलाकर कफप्रधान अतीसार में प्रयोग
करावें । इस में पथ्य के लिये घृत आदि स्नेह से युक्त तथा नमकीन
खडों का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ११६-११८ ॥

कपित्थमध्यं लीढ्वा तु सव्योषचौद्रशर्करम् ।

कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात् ॥ ११९ ॥

कैथ की मज्जा (मध्य भाग, बजियुक्त गूदा) के चूर्ण
(४ मासा) में त्रिकटुचूर्ण (६ रत्ती) मधु तथा खांड मिलाकर
चाटने से अथवा कट्फल के चूर्ण (१ मासा) को मधु में मिला
चाटने से रोगी अतीसार से मुक्त हो जाता है ॥ ११९ ॥

कणां मधुयुतां पीत्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम् ।

जग्ध्वा वा बालविल्वानि मुच्यते जठरामयात् ॥ १२० ॥

मधुयुक्त पिप्पली चूर्ण (४ रत्ती) को पीकर अथवा तक्र में चित्रकचूर्ण (१ मासा) का प्रक्षेप देकर पीने से अथवा कच्चे बिल्व (बेल फल) को खाने से रोगी अतीसार से मुक्त हो जाता है ॥ १२० ॥

बालविल्वादिलेहः

बालविल्वं गुडं तैलं पिप्पलीं विश्वभेषजम् ।

लिह्याद्वाते प्रतिहते सशूलः सप्रवाहिकः ॥ १२१ ॥

भोज्यं मूलकयूषेण वातघ्नैश्चोपसेवनैः ।

वातातिसारविहितैर्यूषैर्मांसरसैः खडैः ॥ १२२ ॥

वायु के विबद्ध होने पर शूल तथा प्रवाहिकायुक्त (उपवेश की इच्छा बार २ हो पर मल थोड़ा २ आंवयुक्त आवे) रोगी कच्ची बेलगिरी, गुड, तिलतैल, पिप्पली, सोंठ; इनके चूर्ण को चाटे। पथ्य-रोगी को मूली के यूष से, वातघ्न उपसेवनों (व्यञ्जन) से तथा अन्य वातातिसार में कहे गये यूष मांसरस तथा खडों के साथ अन्न खिलाना चाहिये ॥ १२१-१२२ ॥

पूर्वोक्तमम्लसर्पिर्वा षट्पलं वा यथाबलम् ।

पुराणं वा घृतं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम् ॥ १२३ ॥

अथवा पूर्वोक्त अम्लसर्पि (चाङ्गेरीघृत), षट्पलघृत (गुल्माधिकार में २०३६ पृष्ठ पर पञ्चकोलघृत नाम से कहा गया) अथवा इस वर्ष पुराने घी को रोगी के बल के अनुसार मात्रा में लेकर यवागू के मण्ड में मिला रोगी को पिलावें ॥ १२३ ॥

वातश्लेष्मविवन्धे वा कफे वाऽतिस्रवत्यपि ।

शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छावस्ति प्रयोजयेत् ॥ १२४ ॥

यदि वात और कफ कोष्ठ में रुके हुए हों अथवा यदि कफ (Mucus) का अत्यधिक स्राव भी होता हो अथवा शूल और

प्रवाहिका होने पर पिच्छावस्ति का प्रयोग करावे ॥ १२४ ॥

पिप्पलीविल्वकुष्ठानां शताह्वाचयोरपि ।

कल्कैः सलवणैर्युक्तं पूर्वोक्तं सन्निधापयेत् ॥ १२५ ॥

उक्त अवस्था में पिच्छावस्ति में पिप्पली, बेलगिरी, कुष्ठ, सोये तथा वचा का कल्क और सेन्धानमक भी डालना चाहिये ।

प्रत्यागते सुखे स्नातं कृताहारं दिनात्यये ।

विल्वतैलेन मतिमान्मुखोष्णेनानुवासयेत् ॥ १२६ ॥

जब यह बस्ति उपद्रवरहित बाहिर आ जाय तब रोगी स्नान करे । और दिन के व्यतीत होने पर अर्थात् सायं काल भोजन करे । इसके पश्चात् अगले दिन बुद्धिमान् वैद्य सुहाते गरम विल्वतैल से अनुवासन करावे ॥ १२६ ॥

वचान्तैरथवा कल्कैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत् ।

बहुशः कफवातार्तस्तथा स लभते सुखम् ॥ १२७ ॥

अथवा पिच्छावस्ति में डालने के लिये कहे गये पिप्पली से लेकर वचापर्यन्त द्रव्योंके कल्कसे यथाविधि तिलतैलको सिद्धकर बहुशः अनुवासन कराना चाहिये । इसप्रकार कफवात से पीड़ित रोगी आरोग्यलाभ करता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

सशूलप्रवाहिकस्य च निरामस्य वातेऽधिके वचाविल्वपिप्पली-
कुष्ठशताह्वाकल्कयुक्तं सलवणं पिच्छावस्तिमनुवासनं च कोष्णेन
विल्वतैलेन बहुशो वचादिगर्भेण वा तैलेनेति ' ॥ १२७ ॥

स्वे स्थाने मारुतोऽवश्यं वर्धते कफसंचयात् ।

स वृद्धः सहसा हन्यात्तस्मात् त्वरया जयेत् ॥ १२८ ॥

लङ्घन आदि चिकित्सा द्वारा कफ के क्षीण हो जाने से वायु अपने स्थान (पक्काशय) में अवश्य बढ़ता है । वह प्रवृद्ध वायु सहसा ही मृत्यु का कारण हो जाया करता है, अतः उस वायु

१ ' सुखं ' पा० । २ ' कफसंचये ' पा० ।

को शीघ्रता से जीतना चाहिये ॥ १२८ ॥

वातस्थानु जयेत्पित्तं पित्तस्थानु जयेत्कफम् ।

त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेद्बलवत्तमः ॥ १२९ ॥

सन्निपातातिसारचिकित्सा—अतीसार की चिकित्सा करते हुए वात को जीतने के पश्चात् पित्त को जीतना चाहिये । और तत्पश्चात् कफ को । अथवा तीनों दोषों में से पूर्व उसी को जीतें जो सब से अधिक बलवान् हो । परन्तु यदि दोष साम हो तो उसे पूर्व निराम कर लेना आवश्यक है ।

यदि सन्निपातातिसार में तीनों दोष समान हो तो क्रमशः वात पित्त तथा कफ को जीतना होता है । यदि विषम रूप से मिले हुए हों तो जो सबसे अधिक बलवान् हो उसे सबसे पूर्व जो उससे कम हो उसे तत्पश्चात् और जो सब से कम हो उसे सबसे पीछे जीते । सुश्रुत उ० अ० ४० में तो कहा है—

‘समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत् ।

ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्रमारुतम् ॥’

कई इसका समाधान यह करते हैं कि पित्तोत्पन्न ज्वर और अतिसार में यह आदेश है ।

तत्र श्लोकः ।

प्रागुत्पत्तिनिमित्तानि लक्षणं साध्यता न च ।

क्रिया चावस्थिकी सिद्धा निर्दिष्टा ह्यतिसारिणाम् ॥ १३० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थानेऽती-

सारचिकित्सितं नामोन्विशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अध्याय का उपसंहार—इस अध्याय में अतीसार की प्रागुत्पत्ति, हेतु, लक्षण, साध्यासाध्यता तथा सिद्ध (प्रत्यक्षफलप्रद) आवस्थिकी चिकित्सा (विशेष २ अवस्थाओं में की जाने वाली चिकित्सा) कह दी है ।

यहां पर भय और शोकसे उत्पन्न चिकित्सा नहीं कही यतः दोनों अवस्थाओंमें ही वातातीसार के सदृश चिकित्सा होती है । इसके साथ हर्षण और आश्वासन भी कराना होता है, यह पूर्व ही कहा जा चुका है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ११ में भी कहा है—

‘ भीशोकाभ्यामपि मरुच्छीघ्रं कुप्यत्यतस्तयोः ।

कार्या क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च ॥’

इत्यतीसारचिकित्सा ।

विंशोऽध्यायः ।

अथातश्छर्दिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम छर्दि (कै) चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

यशस्विनं ब्रह्मतपोद्युतिभ्यां ज्वलन्तमग्न्यर्कसमप्रभावम् ।

पुनर्वसुं भूतहिते निविष्टं पप्रच्छ शिष्योऽत्रिजमग्निवेशः ॥ २ ॥

याश्छर्दयः पञ्च पुरा त्वयोक्ता रोगाधिकारे भिषजां वरिष्ठ ! ।

तासां चिकित्सां सनिदानलिङ्गां यथावदाचक्ष्व नृणां हितार्थम् ३

तत्त्वज्ञान (वेद) और तप की कान्ति से देदीप्यमान अग्नि एवं सूर्य के सदृश प्रभाव रखने वाले प्राणियों के हित में समाहित-चित्त यशस्वी भगवान् आत्रेय पुनर्वसु को शिष्य अग्निवेश ने पूछा—

हे चिकित्सकों मे श्रेष्ठ भगवन् ! आप ने जो रोगाधिकार (सू० अष्टोदरीयाध्याय) में पूर्व पांचप्रकार की छर्दिबों का उपदेश किया है उनका निदान, लिङ्ग तथा चिकित्सा का उपदेश हमें मनुष्यों के हित के लिये यथावत् करें ॥ २-३ ॥

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य प्रीतो भिषक्श्रेष्ठ इदं जगाद ।

याश्छर्दयः पञ्च पुरा मयोक्तास्ता विस्तरेण ब्रुवतो निबोध ॥ ४ ॥

अग्निवेश के उस वचन को सुनकर प्रसन्न हुए हुए चिकित्सक-श्रेष्ठ भगवान् पुनर्वसु ने यह कहा—

जो पांच प्रकार की छर्दियां मैं पूर्व कह आया हूं, उन्हें मैं विस्तार से कहता हूं, ध्यान से सुन ॥ ४ ॥

दोषैः पृथक् त्रिप्रभवा चतुर्थी द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात् ।

पांच प्रकार की छर्दियां—पृथक् २ दोषों से तीन, चौथी तीनों दोषों (सन्निपात) से, पांचवी द्विष्टविषय के संयोग से अर्थात् मनोघ्न रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द के कारण । इसे हम इसप्रकार भी कह सकते हैं—१ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ सन्निपातज ५ द्विष्टार्थसंयोगज ।

तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम् ॥ ५ ॥

छर्दियों के पूर्वरूप—हृदय का उत्क्लेश (जी मचलाना), कफप्रसेक (मुख से लाला बहना), भोजन में द्वेष अर्थात् अरुचि; ये छर्दियों का पूर्वरूप है । सुश्रुत ३० अ० ४९ में कहा है—

‘ हृत्तासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः ।

द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥ ’

इसमें यह विशेष कहा है कि लालाप्रसेक में लाला का रस नमकीन होता है और वह बहुत पतली होती है । इस के साथ ही उद्गाररोध भी विशेष कहा है ॥ ५ ॥

व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोगभयोपवासाद्यतिकर्षितस्य ।

क्रुद्धो महास्रोतसि मातरिश्वा दोषान् समुत्क्रिय तदूर्ध्वमस्यन् ॥ ६ ॥

आमाशयोत्क्लेशकृतां च मर्म प्रपीडयन् छर्दिमुदीरयेत् ।

वातज छर्दि के हेतु सम्प्राप्ति—व्यायाम, तीक्ष्ण औषध, शाक, रोग, भय, उपवास आदि से अत्यन्त कृश वा क्षीण हुए पुरुष के महास्रोत (आमाशय और पक्वाशय) में क्रुद्ध हुआ

वायु दोषों (आमाशयस्थित) को उत्कृष्ट करके (बाहिर की ओर प्रेरित करके) ऊपर की ओर फैकता हुआ तथा हृदय आदि मर्म को पीड़ित करता हुआ आमाशय के उत्क्लेश से उत्पन्न कै को प्रवृत्त करता है । आमाशय का उत्क्लेश कहने से यह जताया है कि वायु के कुपित होने पर आमाशय में विपरीत गति होने लगती है जो अन्न आदि को वहां से ग्रहणी वा पक्वाशय की ओर पचाकर धकेलने की अपेक्षा ऊपर की ओर धकेलती है और उस समय आमाशय के ऊपर का द्वार खुल जाता है और आमाशयस्थित अन्न आदि मुख द्वारा बाहिर निकलजाता है ॥६॥

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषमूर्धनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः ॥ ७ ॥

उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम् ।

कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ॥ ८ ॥

वातज छर्दि के लक्षण—वातदोष से उत्पन्न छर्दि में हृदय तथा पार्श्व में पीड़ा होती है । मुख सूख जाता है । शिर और नाभि में वेदना होती है । रोगी कास स्वरभेद तथा तोद (सूई चुभने की सी दर्द) से युक्त होता है । इसमें उद्गार का शब्द प्रबल होता है । कै भागयुक्त, विच्छिन्न (अर्थात् कै में निकले दोष पृथक् २ टुकड़ों टुकड़ों में दिखाई देते हैं), काली, पतली तथा कषाय- (कसैला) रस युक्त होती है । रोगी को कै की ओर वेग तो महान् होता है पर बड़े ही कष्ट से और थोड़ा सा बाहिर निकलता है । सुश्रुत ३० अ० ४९ में कहा है—

‘ प्रच्छर्दयेत्फेनिलमल्पमल्पं

शूलार्दितोऽभ्यर्दितपार्श्वपृष्ठः ।

श्रान्तः सघोषं बहुशः कषायं

जीर्णेऽधिकं सानिलजा वमिस्तु ॥ ७-८ ॥

१ विच्छिन्नं सान्तरवेगं अल्पद्रवं वा इति विजयपराक्षितः ।

अजीर्णकट्वम्लविदाहशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम् ।
रसायनीभिर्विसृतं प्रपीड्य मर्मोर्ध्वमागम्य वमिं करोति ॥ ६ ॥

पैत्तिक छर्दि का हेतु और सम्प्राप्ति—अजीर्ण से वा कटु अम्ल विदाही तथा उष्ण पदार्थों के सेवन से आमाशय में प्रवृद्ध हुए वेग वाला पित्त रसायनियों द्वारा फैल कर ऊपर की ओर आ मर्म (हृदयदेशस्थित) को पीड़ित करके कै लाता है ॥ ६ ॥

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्तः ।

पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्लं धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥ १० ॥

पैत्तिक छर्दि के लक्षण—पैत्तिक छर्दि में रोगी पित्त के कारण मूर्च्छा, प्यास, मुख का सूखना, शिर तालु तथा नेत्रों में सन्ताप, तम (आंखों के आगे अन्धेरा आना) एवं भ्रम (शिर में चक्कर आना) से पीड़ित होता है । और जो वह कै करता है वह पीली हरी वा धूँ के से वर्ण की (काली भूरी सी) अत्यन्त गरम तिक्तरस युक्त होती है । रोगी को कै के समय गले वा पेट में दाह भी होता है । सुश्रुत उ० अ० ४६ में कहा है—

‘ योऽम्लं भृशं वा कटुतिक्त्वक्त्रः

पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा ।

सदाहचोषज्वरवक्त्रशोष-

मूर्च्छान्वितः पित्तनिमित्तजा सा ’ ॥ १० ॥

स्निग्धातिगुर्वामविदाहिभोज्यैः स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्धः ।

उरःशिरोमर्म रसायनीश्च सर्वाः समावृत्य वमिं करोति ॥ ११ ॥

कफज छर्दि का हेतु वा सम्प्राप्ति—स्निग्ध, अत्यन्त गुरु, आम (कच्चे) तथा विदाही भोजनों के खाने से, तथा अधिक सोना वा दिन में सोना आदि कफवर्धक विहार से अत्यन्त प्रवृद्ध हुआ कफ छाती तथा शिर के मर्मों अथवा छाती शिर तथा

हृदय और सब रसायनियों को आच्छादित करके वमी का कारण होता है ॥ ११ ॥

तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेकसंतोषनिद्रारुचिगौरवार्तः ।

स्निग्धं घनं स्वादु कफाद् विशुद्धं सलोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु ॥ १२ ॥

कफज छर्दि के लक्षण—तन्द्रा, मुख का मीठा होना, कफ-प्रसेक (मुख से लार बहना), सन्तोष (आहार से वृत्त अनुभव करना अर्थात् अन्न में अभिलाषा न होनी) निद्रा, अरुचि तथा देह की गुरुता प्रतीत करना; इन लक्षणों से पीडित कफज छर्दिका रोगी स्निग्ध घने मधुर केवल श्वेत कफ का वमन करता है । इसमें रोगी को लोमाश्च भी होता है । वेदना अल्प होती है । सुश्रुत उ० अ० ४६ में कहा है—

‘ यो हृष्टरोमा मधुरं प्रभूतं

शुक्तं हिमं सान्द्रकफानुविद्धम् ।

अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तो

वमेद्वमी सा कफकोपजा स्यात् ’ ॥ १२ ॥

समश्नतः सर्वरसान्प्रसक्तमामप्रदोषर्तुविपर्ययैश्च ।

सर्वे प्रकोपं युगपत्प्रपन्नाश्छर्दिं त्रिदोषां जनयन्ति दोषाः ॥ १३ ॥

त्रिदोषज छर्दि के हेतु वा सम्प्राप्ति—पथ्यापथ्य का विचार न करते हुए सब रसों को ही मिलाकर निरन्तर सेवन करने से, वा ऋतुविपर्यय (जिस काल में शीत होना चाहिये उस काल में उष्णता होना इत्यादि) से सारे (तीनों) दोष युगपत् (एकसाथ) ही कुपित होकर त्रिदोषज छर्दि को उत्पन्न करते हैं ॥ १३ ॥

शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णाश्वासप्रमोहप्रवला प्रसक्तम् ।

छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाग्निलनीलसान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥ १४ ॥

१ ‘कफं’ पा० । २ समश्नत इति समशनं कुर्वतः । पथ्यापथ्यमिहैकत्र समशनं मतमिति समशनलक्षणम् ।

त्रिदोषज छर्दि के लक्षण—त्रिदोषज छर्दि के रोगी में शूल, अपचन, अरुचि, दाह, तृष्णा, श्वास, प्रमोह (मूर्च्छा); ये लक्षण प्रबल रूप से होते हैं। कै निरन्तर होती रहती है। रोगी को तमकीन खट्टी नीली गाढ़ी गरम तथा लाल वा रक्तयुक्त कै होती है। सुश्रुत उ० अ० ४६ में तो कहा है—

‘सर्वाणि रूपाणि भवन्ति यस्यां सा सर्वदोषप्रभवा मता तु’ ॥ १४ ॥

विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति ।

उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥ १५ ॥

विण्मूत्रयोस्तत्समवर्णगन्धं तृट्श्वासहिकार्तियुतं प्रसक्तम् ।

प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात्तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ॥ १६ ॥

जब वायु पुरीषवह स्वेदवह मूत्रवह तथा अम्बु (जल वा लसीका) वह स्रोतों को रुद्ध करके ऊपर की ओर जाता है तब प्रवृद्ध—दोष पुरुष के उस सञ्चित दोष को कोष्ठ से हिलाकर ऊपर की ओर लाते हुए वर्ण और गन्ध में पुरीष और मूत्र के समान कै लाता है। यह कै अत्यन्त दुष्ट होती है और बड़े वेग से निरन्तर आती रहती है। रोगी प्यास श्वास हिचकी तथा शूल से आक्रान्त होता है। इस छर्दि का रोगी शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है।

इसे कई विकृतिविषमसमवाय से उत्पन्न त्रिदोषज छर्दि कहते हैं। दूसरे कहते हैं कि यदि किसी भी छर्दि के प्रबल होने पर यह सम्प्राप्ति और लक्षण हो जाय तो उसे असाध्य जानना चाहिये ॥ १५—१६ ॥

द्विष्टप्रतीपाशुचिपूल्यमेध्यबीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च ।

यश्छर्दयेत्तप्तमना मनोमैर्द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा ॥ १७ ॥

द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि—द्विष्ट (जिसमें रुचि न हो), विपरीत, उच्छिष्ट, पूति (सड़ा गला, दुर्गन्धित), अमेध्य (मलिन,

अपवित्र), तथा बीभत्स (घृणोत्पादक); मन को आहत करने वाले गन्ध भोजन वा दृश्यों से मन के सन्तप्त होने पर जो छर्दि होती है वह द्विष्टार्थसंयोगज कही जाती है । सुश्रुत ने पांचवीं प्रकार की छर्दि में इस हेतु के अतिरिक्त अन्य हेतुओं से उत्पन्न छर्दियों का भी समावेश कर लिया है—

बीभत्सजा दौहदजामजा च

यासात्म्यतो वा कृमिजा च या हि ।

सा पञ्चमी ताञ्च विभावयेत्तु

दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥' उ० अ० ४६

इसे आगन्तुछर्दि भी कहा जाता है । गर्भिणी स्त्री को होने वाली कै (Morning Sickness) तथा कमि से उत्पन्न कै का भी इसी में अन्तर्भाव किया गया गया है । सुश्रुत में आमजा छर्दि को आगन्तु में गिना है पर प्रकृतसंहिता में त्रिदोषज में परिगणित है । इन में कृमि से उत्पन्न कै को तो कृमिरोग का लक्षण ही जानना चाहिये, पृथक् रोग नहीं । इन सबमें हेतु तो उन उन विशेष कारणों से कुपित वात आदि दोष ही हैं अतः इन्हें पृथक् पढ़ने की प्रकृतसंहिता में आवश्यकता नहीं समझी गई । द्विष्ट बीभत्स आदि हेतुओं से तो पूर्व मन पर प्रभाव पड़ता है । मनः-सन्ताप के पूर्व होने से पृथक् पढ़ना आवश्यक ही है । इनमें मनः-सन्ताप के पश्चात् वात आदि दोषों का कोप होता है । अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी पांच प्रकार की छर्दि के लक्षणों के बताने के पश्चात् कहा है—

‘वातादीनेव विमृशेत् कृमिघृणामदौहदे ॥’ नि० अ० ५ ॥

अर्थात् यद्यपि आचार्यों ने कृमिजा आदि छर्दियों का परिगणन किया है परन्तु इनमें हेतु वातआदियों को ही जाने । ‘एव’ कहने से बताया है कि इनमें मनःसन्ताप आदि विशेष हेतु नहीं होता ।

और यही कारण है कि उसने इनका परिगणन पृथक् नहीं किया । सुश्रुत ने जो पृथक् इन सब का एकत्र ही परिगणन किया है वह बीभत्सजा तथा कृमिज आदि में विशेष लक्षणों के कारण ही है । सुश्रुत में छर्दियों के हेतु और सामान्य सम्प्राप्ति भी बताई है—

‘ अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरपि ।

अकाले चातिमात्रैश्च तथासात्म्यैश्च भोजनैः ॥

श्रमात्क्षयात्तथोद्वेगादजीर्णात् क्रिमिदोषतः ।

नार्याश्चापन्नसत्वायास्तथातिद्रुतमश्नतः ॥

बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्द्रुतमुत्क्रेशितो बलात् ।

छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ॥

निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ।

दोषानुदीरयन् वृद्धानुदानो व्यानसङ्गतः ॥

ऊर्ध्वमागच्छति भृशं विरुद्धाहारसेविनाम् ॥

यद्यपि छर्द वमने इस धातु से भी छर्दि की सिद्धि होती है परन्तु आचार्य ने यहां छर्दि सम्बरणे और अर्द पीड़ने इन दो धातुओं से भी निर्वचन किया है ॥ १७ ॥

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता ।

सचन्द्रिकां तां प्रवदन्त्यसाध्यां साध्यां चिकित्सेदनुपद्रवां च ॥ १८ ॥

असाध्य छर्दि—क्षीण पुरुष को यदि कास श्वास आदि छर्दि के उपद्रवों के साथ रक्त एवं पूय से युक्त निरन्तर कै हो और उसमें सचन्द्रिका (चमकदार लेस वा मोरपंख के सदृश स्निग्ध सी रक्तु) दिखाई दे तो उसे असाध्य कहते हैं । छर्दि में निम्नोक्त उपद्रव होते हैं—

‘ कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च ।

१ सचन्द्रिकामिति मेदःप्रभृतिधातूनां ज्वरः प्रवर्तमानो मयूरपिच्छ-
चन्द्रिकावत्प्रतिभाति इति विजयरचितः ।

हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्दरूपद्रवाः ॥'

जिसमें ये उपद्रव न हों ऐसी साध्य छर्दि की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १८ ॥

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात् ।
 प्राकारयेन्मारुतजां विमुच्य संशोधनं वा कफपित्तहारि ॥ १९ ॥

छर्दिचिकित्सा—सभी छर्दियां आमाशय के उत्क्लेश से उत्पन्न होने वाली मानी गई हैं, अतः सबसे पूर्व वातज छर्दि के अतिरिक्त सब छर्दियों में लङ्घन अथवा कफपित्त-नाशक संशोधन (अर्थात् वमन वा विरेचन) कराना चाहिये ।

अभिप्राय यह है कि यदि रोगी संशोधन के अयोग्य हो तो पूर्व लङ्घन कराना चाहिये । यदि रोगी बलवान् हो, कफप्रधान दोष की मात्रा बहुत हो बारबार वमन का वेग होता हो तो उसे पूर्व वमन ही कराना चाहिये । यदि कै में पित्त की प्रबलता कारण हो तो हृद्य विरेचन देने चाहियें । अथवा वमन कराने के पश्चात् रोगी को हृद्य विरेचन दे ही देना चाहिये जिससे दोष की ऊर्ध्वगति नीचे की ओर हो जाय । वृद्धवाग्भट ने चि० अ० ७ में कहा भी है—

‘ आमाशयोत्क्लेशभवाः प्रायश्छर्द्यो हितं ततः ।

लङ्घनं प्रागृते वायोः, वमनं तत्र योजयेत् ॥

बलिनो बहुदोषस्य वमतः प्रततं बहु ।

ततो विरेकं क्रमशो हृद्यं मधैः फलाम्बुभिः ॥

क्षीरैर्वा सह स हृध्वं गतं दोषं नयत्यधः ॥ १९ ॥

चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयानां हृद्यानि वा यानि विरेचनानि ।

मधैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या नयन्त्यधो दोषमुदीर्णमूर्ध्वम् ॥ २० ॥

विरेचनार्थ हरड़ के चूर्ण को ६ मासा मात्रा में मधु के साथ चाटे । अथवा जो विरेचन हृद्य रुचिकर वा स्वादु हों उन्हें

मद्य वा दूध के साथ युक्तिपूर्वक पिलावें । ये विरेचन ऊपर की ओर प्रवृद्ध एवं प्रवृत्त हुए दोषों को नीचे की ओर ले आते हैं । विरेचन द्वारा वे दोष बाहिर निकल जाते हैं ॥ २० ॥

वल्लीफलाद्यैर्वमनं पिबेद्वा यो दुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत् ।

सैर्मनोऽज्ञैर्लघुभिर्विशुष्कैर्भक्ष्यैः सभोज्यैर्विविधैश्च पानैः ॥ २१ ॥

अथवा वल्लीफल आदि अर्थात् धामार्गव (पीतघोषा), जीमूत (देवदाली) इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी) कोशातकी प्रभृति द्वारा वमन लेना चाहिये ।

जो दुर्बल पुरुष हो उसे संशोधन न कराना चाहिये उसकी संशमन—चिकित्सा ही करनी चाहिये । संशमन का लक्षण निम्न है—

‘ न शोधयति यदोषान् समान्नोदीरयत्यपि ।

समीकरोति विषमान् तत्संशमनमुच्यते ॥ ’

अर्थात् जो दोषों का शोधन नहीं करता अर्थात् बाहिर नहीं निकाल फेंकता और जो सम दोषों को प्रवृद्ध भी नहीं करता अपि तु विषम दोषों को सम कर देता है उसे संशमन कहते हैं ॥

यह संशमनचिकित्सा मन को प्रिय लगाने वाले लघु मांसरसों से अथवा मनभाते लघु शुष्क भक्ष्यों से अथवा इसीप्रकार के अन्य विविध भोज्य और पेयपदार्थों से की जानी चाहिये ।

सुसंस्कृतास्तिचिरिर्बर्हिंलावरसा व्यपोहन्त्यनिलप्रवृत्ताम् ।

छर्दिं तथा कोलकुलत्थधान्यविल्वादिमूलाम्लयवैश्च यूषः ॥ २२ ॥

वातज छर्दि की चिकित्सा—तीतर मोर और लावा पक्षियों के अनारदाना मरिच तथा घृत आदि स्नेह प्रभृति के साथ अच्छीप्रकार साधित मांसरस वात के कारण प्रवृत्त हुई वमी को नष्ट करते हैं । इसी प्रकार सूखे बेर, कुलत्थ, धनियां, बिल्व आदि पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल), अनारदाना आदि अम्लद्रव्य तथा जौ; इनसे

युक्तिपूर्वक साधित यूष वातिक वमी का नाशक होता है ।

गङ्गाधर 'विल्वादि' से महत्पञ्चमूल और मूलांमल से कांजिक आदि के निर्माण में डाले गये मूली के टुकड़े जो उसमें पड़े पड़े खट्टे हो गये हों का ग्रहण करता है ।

इस यूष में कुलत्थ मुख्य द्रव्य है—जिसका यूष बनाना है और बेर आदि यूष को संस्कृत करने के साधन द्रव्य हैं ॥ २२

वातात्मिकायां हृदयद्रवातों नरुः पिबेत्सैन्धववद्घृतं तु ।

सिद्धं तथा धान्यकनागराभ्यां दध्ना च तोयेन च दाडिमस्य ॥२३॥

यदि वातिक वमी में हृदयद्रव (हृदय में धकधक होना) भी हो तो रोगी पुरुष को चाहिये कि वह सैन्धवनमक युक्त घी को मात्रा में पीवे ।

तथा धनियां और सोंठ के चतुर्थांश कल्क से चौगुने दही और चौगुने अनार के रस से घी को यथाविधि सिद्धकर रोगी मात्रा में पीवे । अथवा कई दही को घी के समान लेते हैं और चौगुना अनार का रस डालते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ८ के पाठ से तो यह प्रतीत होता है कि दही भी कल्कद्रव्य ही है यथा—

‘ सिद्धं वा दाडिमाम्बुना ।

सशुण्ठीदधिधान्येन

॥ २३ ॥

व्योषेण युक्तां लवणैस्त्रिभिश्च घृतस्य मात्रामथवा विदध्यात् ।

स्निग्धानि हृद्यानि च भोजनानि रसैः सयूषैर्दधिदाडिमाम्लैः ॥२४॥

अथवा घृत की मात्रा में त्रिकटुचूर्ण और तीन नमक का प्रक्षेप देकर रोगी को देना चाहिये । सोंठ, कालीमिर्च और पिप्पली ये तीन द्रव्य त्रिकटु व्यूषण वा व्योष कहाते हैं । तीन नमक से सैन्धव सौवर्चल और बिड नमक लिया जाता है ।

रोगी को दही वा अनार के रस से अम्लीकृत यूषों के साथ

स्निग्ध और हृद्य भोजन खिलाना चाहिये ॥ २४ ॥

पित्तात्मिकायामनुलोमनार्थं द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत्स्यात् ।

कफाशयस्थं त्वतिमात्रवृद्धं पित्तं हरेत्स्वादुभिरूर्ध्वमेव ॥ २५ ॥

पित्तज छर्दि की चिकित्सा—पित्तज छर्दि में अनुलोमन वा विरेचन के लिये त्रिवृत् (निसोत) के चूर्ण को द्राक्षा (अङ्गूर वा मुनक्का) विदारीकन्द वा ईख के रस के साथ देना चाहिये ।

यदि अत्यधिक प्रवृद्ध पित्त कफाशय (कफस्थान, आमाशय का ऊर्ध्वभाग वा छाती) में स्थित हो तो उसे मधुर द्रव्यों (मुलहठी आदि)से ऊपर की ओर ही निकाले अर्थात् वमन द्वारा ही निकाले ॥ २५ ॥

शुद्धाय काले मधुशर्कराभ्यां लाजैश्च मन्थं यदि वाऽपि पेयाम् ।

प्रदापयेन्मुद्गरसेन वापि शाल्योदनं जाङ्गलजै रसैर्वा ॥ २६ ॥

जब शोधन हो जाय तब आहारकाल में लाजा के मन्थ (द्रवालोडित लाजा के सत्तू) अथवा लाजा से प्रस्तुत पेया में मधु और खांड डालकर रोगी को आहारार्थ दें । अथवा मूंग के यूस के साथ वा जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरसों के साथ शालि का भात खाने को देना चाहिये ॥ २६ ॥

सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिः कुल्माषलाजायवसक्कृगृञ्जान् ।

खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलं द्राक्षामथो वा बदराणि लिह्यात् ॥ २७ ॥

रोगी कुल्माष (अर्धस्विन्न गेहूं चने आदि), लाजा, जौ के सत्तू, मण्डयुक्त यवान्न, खजूर का गूदा, नारियल, मुनक्का अथवा बेरों का का चूर्ण इन में से किसी एक को मिसरी मधु और पिप्पली चूर्ण के साथ चाटे ॥ २७ ॥

स्रोतो जलाजोत्पलकोलमज्जचूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभ्यां वा ।

कोलास्थिमज्जाञ्जनमक्षिकाविड् लाजासितामागधिकाकणान् वा ॥ २८ ॥

स्रोतोऽञ्जन, लाजा, नीलोत्पल, बेर की गुठली की मींगी; इनके चूर्ण को १ रत्ती मात्रा में मधु के साथ चाटे । अथवा हरड़ के चूर्ण को मधु के साथ चाटे ।

अथवा बेर की गुठली की मींगी, स्रोतोऽञ्जन, मक्खी की विष्ठा, लाजा चूर्ण, खांड, पिप्पली के कण (बीज); इन्हें एकत्र पीसकर रोगी १ या १॥ रत्ती मात्रा में मधु के साथ चाटे ॥२८॥

द्राक्षारसं वापि पिवेत्सुशीतं मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं जलं वा ।

जम्ब्वाम्रयोः पल्लवजं कषायं पिवेत्सुशीतं मधुसंयुतं वा ॥ २९ ॥

अथवा रोगी सुशीतल अंगूर का रस पीवे । अथवा पके मिट्टी के ढेले को आग में तपाकर जल में बारबार बुझावें । बुझाने के बाद जब वह जल शीतल हो जाय तो रोगी पीवे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में कहा भी है—

‘मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं सुशीतं सलिलं पिवेत् ॥’

अथवा जासुन के पत्ते, आम के पत्ते; इनका काथ करें । सुशीतल होने पर मधु मिला रोगी को पिलावें ।

अष्टाङ्गसंग्रहकार ने एक अन्य योग कहा है जिसमें इन दोनों प्रकार के पत्तों के साथ ही खस तथा बरगद और पीपल के अंकुर भी लेकर काथ करने का आदेश किया है—

‘जम्ब्वाम्रपल्लवोशीरवटाश्वत्थाङ्कुरोद्भवः ।

काथः क्षौद्रयुतः पीतः शीतो वा विनियच्छति ॥

छार्दि ज्वरमतीसारं मूर्च्छां तृष्णां च दुर्जयाम् ’ ॥२९॥

निशि स्थितं वारि समुद्रकृष्णं सोशीरधान्यं चणकोदकं वा ।

गवेधुकामूलजलं गुडच्या जलं पिवेदिक्षुरसं पयो वा ॥ ३० ॥

मूंग, पिप्पली, खस, धनियां; इनके अधकुटे चूर्ण को छहगुने जल में डालकर रात्रिभर पड़ा रहने दें । प्रातः छानकर रोगी को पिलावें ।

अ० २०]

चिकित्सितस्थानम् ।

२७२६

अथवा इसीप्रकार चनों को जल में भिगोकर प्रातःकाल वह जल रोगी पीवे ।

अथवा गवेधुका (गरहेडुआ, धान्यविशेष) के जड़ का निशास्थित जल (शीतकषाय) अथवा गिलोय का निशास्थित जल (शीतकषाय) रोगी को पिलाना चाहिये । अथवा रोगी गन्ने का रस वा दूध पीवे ॥ ३० ॥
सेव्यं पिबेत्काश्चनगैरिकं वा सवालकं तण्डुलधावनेन ।

धात्रीरसेनोत्तमचन्दनं वा तृष्णावमिघ्नानि समाक्षिकाणि ॥ ३१ ॥

अथवा खस के चूर्ण को तण्डुलोदक के साथ पीवे । अथवा विशुद्धस्वर्णगैरिक का चूर्ण और सुगन्धवाला का चूर्ण मिलाकर ४ रत्ती मात्रा में रोगी तण्डुलोदक के साथ पीवे ।

यदि 'सवालक' को 'सेव्य' का भी विशेषण माना जाय तो प्रथम योग खस और गन्धवाला के चूर्ण से होगा ।

अथवा श्वेतचन्दन को घिसकर आंवले के रस के साथ रोगी को पिलाना चाहिये ।

इन तीनों योगों में मधु भी डालना चाहिये । ये तृष्णा और कै को हटाते हैं । इनमें से तृतीययोग चक्रदत्त नामक ग्रन्थ में भी संगृहीत है—

‘चन्दनेनाक्षमात्रेण संयोज्यामलकीरसम् ।

पिबेन्माक्षिकसंयुक्तं छर्दिस्तेन निवर्तते ॥’

यदि श्वेतचन्दन २ तोला लिया जाय तो आंवले का रस ८ तोला मिलाना चाहिये । इसमें किंचित् मधु मिलायें । आजकल के नागरिकों के लिये ये आठ मात्रायें बन जायगी ॥ ३१ ॥

कल्कं तथा चन्दनसेव्यमांसीद्राक्षोत्तमावालकगैरिकाणाम् ।

शीताम्बुना गैरिकशालिचूर्णं मूर्वा तथा तण्डुलधावनेन ॥ ३२ ॥

१ धात्रीरसेनेत्यादिपद्यार्थं मूर्वा तथा तण्डुलधावनेनेत्येतानि च दत्ति
काधरः । २ ‘स्युश्चैदितृष्णासु’ पा० ।

२७३०

चरकसंहिता ।

[अ० २०]

श्वेतचन्दन, खस, जटामांसी (बालछड़), उत्तम द्राक्षा (मुनक्का), सुगन्धबाला, विशुद्ध स्वर्णगैरिक; इनके कल्क को शीतल जल से रोगी सेवन करे । मात्रा—१॥ मासे ॥

अथवा शालि चावल और विशुद्ध स्वर्णगैरिक; इन दोनों के चूर्णों को समभाग में मिला ४ रत्ती मात्रा में शीतल जल के साथ रोगी प्रयोग करे । तथा मूर्वामूल के चूर्ण को तण्डुलोदक के साथ सेवन करने से भी वमी रुकती है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० में भी कहा है—

‘पिवेच्छीताम्बुना शालिस्वर्णगैरिकजं रजः ।

पिष्टं वा चन्दनद्राक्षामांसीसेव्याम्बुगैरिकम् ॥’

यदि उत्तमा को पृथक् ही द्रव्य स्वीकार किया जाय तो उस से मोथा वा भुई आंवला का ग्रहण होगा । मूर्वामूल के चूर्ण को मधु के साथ भी प्रयोग कराने का विधान है ।

‘मूर्वा वा माक्षिकान्विताम्’ । अ० सं० चि० अ० ७ ॥३२॥

कफात्मिकायां वमनं प्रशस्तं सपिप्पलीसर्पपनिम्बतोयैः ।

पिण्डीतकैः सैन्धवसंप्रयुक्तैर्वम्यां कफामाशयशोधनार्थम् ॥ ३३ ॥

कफजवमीकी चिकित्सा—कफज वमीमें कफाशय (छाती, फुफुस) और आमाशयकी अथवा कफयुक्त आमाशयकी शुद्धिके लिये पिप्पली सरसों तथा नीम की छाल के अर्धशृत काथ में भैरवफल और सेन्धानमक का चूर्ण यथायोग्य मात्रा में डालकर वमन करावे। यह सामान्यतः अर्ध प्रतीत होता है, पर प्रयोग इसप्रकार नहीं होता । वैद्य नीमकी छाल के काथ में शेष द्रव्यों का प्रक्षेप देते हैं । अथवा तोय से उबल जल का ग्रहण होता है और शेष सभी द्रव्योंका चूर्ण डाला जाता है । वृद्धवाग्भट ने भी पिप्पली सरसों नीम भैरवफल इनके चूर्ण को कोसे जल में आलोडित कर वमनार्थ पिलाने को कहा है । साथ ही यह भी स्पष्टरूप से कह दिया है कि दुर्बल को वमन न कराना चाहिये, उसे लङ्घन ही करावे—

अ० २०]

चिकित्सितस्थानम् ।

२७३१

‘कफजायां वमेन्निम्बकृष्णापिण्डीतसर्पपैः ।

युक्तेन कोष्णतोयेन दुर्बलं चोपवासयेत् ॥’ ३३ ॥

गोधूमशालीन्सयवान्पुराणान्युषैः पटोलाभृतचित्रकाणाम् ।

व्योषस्य निम्बस्य च तक्रसिद्धैर्युषैः फलाम्लैः कटुभिस्तथाऽद्यात् ३४

पुराने गेहूं, पुराने शालि तथा पुराने जौ के अन्न को पर-
वल, गिलोय और चित्रक; इनके यथाविधि साधित यूष से अथवा
त्रिकटु के तक्र द्वारा साधित यूष से अथवा निम्बपत्र के तक्र द्वारा
साधित यूष से अथवा अन्य कफघ्न यूषों से जो अनार आदि के
रस से अम्लीकृत हों और कालीभिर्च सोंठ पिप्पली आदि से युक्त
होने के कारण कटुरस हों—खावे ।

नवीन शालि आदि मधुर होने से कुछ कफ को करते हैं ।
पुरातन होने पर वे कफकारक नहीं होते । कहा भी है—

‘श्लेष्मलं मधुरं प्रायो जीर्णाच्छालियवाहते ॥’ ३४ ॥

रसांश्च शूल्यानि च जाङ्गलानां मांसानि जीर्णान्मधुशीघ्ररिष्टान् ।

रागांस्तथा षाडवपानकानि द्राक्षाकपित्थैः फलपूरकैश्च ॥ ३५ ॥

जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस, अथवा उन्हीं के शूल्य मांस
(शूल वा शलाका पर मांस को पिरोकर जो अङ्गारों पर भूना
जाता है), पुराने मधु शीघ्र (ईख के रस की मद्य) वा अरिष्ट, द्राक्षा
(किशमिश) कैथ तथा बीजपूर (बिजौरा) आदि से प्रस्तुत
आचार चटनी मुरब्बे वा पानक आदि का प्रयोग कराना चाहिये ।

मुद्गान्मसूरांश्चणकान्कलायान्भृष्टान् युतान्नागरमाक्षिकाभ्याम् ।

लिह्यात्तथैव त्रिफलाविडङ्गचूर्णं विडङ्गस्रवयो रसं वा ॥ ३६ ॥

मूंग, मसूर, चने वा कलाय (मटर वा काबुली श्वेत चने);
को वालू में भूनकर चूर्ण कर लें और उसमें सोंठ का चूर्ण और
मधु मिलाकर रोगी चाटे ।

१ योगरत्नाकर में भी कहा है—**वृथा कफोद्भवायां तु वमनं कारयेद्भिषक् ।**
सर्पपसिन्धूत्थराठानिम्बकणायुतः ॥

अथवा इसी प्रकार हरड़, बहेड़ा, आवला, वायविडङ्ग; इन के चूर्ण को रोगी चाटे अर्थात् इस में सोंठ का चूर्ण और मधु मिलाकर रोगी सेवन करे । चूर्ण की मात्रा—दो मासे ।

अथवा वायविडङ्ग और सव (केवटीमोथा); इनके रस में सोंठ के चूर्ण और मधु का प्रक्षेप देकर रोगी चाटे ।

अन्यत्र वायविडङ्ग केवटी मोथा और सोंठ के चूर्ण को मधु के साथ चाटने का भी विधान है । चक्रपाणि ने अपने संग्रह-ग्रन्थ में कहा है—

‘ विडङ्गत्रिफलाविश्वचूर्णं मधुयुतं जयेत् ।

विडङ्गप्लवशुण्ठीनामथवा श्लेष्मजां वमिम् ॥ ३६ ॥

सजाम्बवं वा बदराम्लचूर्णं मुस्तायुतां कर्कटस्य शृङ्गीम् ।

दुरालभां वा मधुसंग्रयुक्तां लिह्यात्कफच्छर्दिनिग्रहार्थम् ॥ ३७ ॥

अथवा जामुन और शुष्क खट्टे बेर के चूर्ण को कफज वमी के निवारण के लिये मधु से चाटे ।

चक्रपाणि ने चक्रदत्त नाम से प्रसिद्ध अपने संग्रहग्रन्थ में ‘ बदराम्लचूर्ण ’ के स्थान पर ‘ बदरस्य चूर्ण ’ ऐसा पढ़ा है । जिससे कई दूसरा अभिप्राय यह भी निकालते हैं कि जामुन की गुठली और बेर की गुठली; दोनों की सींगी के मिश्रित चूर्ण को मधु के साथ चटाना चाहिये । दोनों ही प्रकार से कै वन्द होती है ।

अथवा मोथा और काकड़ासिंगी; इनके चूर्ण को मधु के साथ अथवा दुरालभा (धमासा) के चूर्ण को मधु के साथ कफज छर्दि को रोकने के लिये चटाना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में कहा भी है—

‘ समुस्तां मधुना शृङ्गीं कोलाम्लं वा सजाम्बवम् ।

तद्विडङ्गत्रिफलां, त्रिफलां च मधुनिषेजम् ॥ Haridwar

तद्वद्दुरालभां खादेत् कपित्थं त्र्यूपणेन च ॥'

मनःशिलायाः फलपूरकस्य रसैः कपित्थस्य च पिप्पलीनाम् ।

क्षौद्रेण चूर्णं मरिचैश्च युक्तं लिहञ्जयेच्छर्दिमुदीर्णवेगाम् ॥ ३८ ॥

अदरक के रस से विशोधित मनःशिला, पिप्पली, काली-
मिर्च; इनके चूर्ण में बिजौरे का रस कैथ का रस और मधु
मिला रोगी चाटे । इससे प्रवृद्ध वेग वाली भी कफज छर्दि
भी नष्ट होती है । चूर्ण की मात्रा— $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ तक ॥ रस और
मधु इतने डालने चाहियें जिससे औषध लेहयोग्य हो । अष्टाङ्ग-
सङ्ग्रह चि० अ० ७ में भी कहा है—

‘लीढं मनश्शिलाकृष्णा मरिचं बीजपूरकात् ।

स्वरसेन कपित्थाच्च सक्षौद्रेण वमिं जयेत् ॥’

चक्रपाणि इसे दो योग स्वीकार करता है। एक तो मनःशिला
के चूर्ण को बिजौरे के रस और मधु के साथ दूसरा पिप्पली
और मरिच के चूर्ण को कैथ के रस और मधु के साथ । गंगाधर
भी दो योग ही मानता है वह मनःशिला के चूर्ण को बिजौरे के
रस और कैथ के रस से चाटने को कहता है और पिप्पली एवं
कालीमिर्च के चूर्ण को मधु के साथ । परन्तु ये दोनों पक्ष ही वृद्ध-
वाग्भट को सम्मत नहीं ॥ ३८ ॥

यैषा पृथक्त्वेन मया क्रियोक्ता तां सन्निपातेऽपि समीक्ष्य बुद्ध्या ।
दोषतुरोगाग्निबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेच्छास्त्रविदप्रमत्तः ॥ ३९ ॥

त्रिदोषज छर्दि की चिकित्सा—यह जो मैंने (आत्रेय ने)
पृथक् २ चिकित्सा कही है, इसे ही शास्त्रज्ञ वैद्य प्रमादरहित होकर
बुद्धि से अच्छीप्रकार परीक्षा करके दोष ऋतु रोग तथा अग्नि
के बल को देखकर सन्निपात में प्रयोग करावे ॥ ३९ ॥

मनोऽभिधाते तु मनोऽनुकूला वाचः समाश्वासनहर्षणानि ।

लोकप्रसिद्धाः श्रुतयो वयस्याः शृङ्गारयुक्ताश्च हिता विहाराः ॥४०॥

गन्धा विचित्रा मनसोऽनुकूला मृत्पुष्पयुक्ताम्लफलादिकानाम् ।
शाकानि भोज्यान्यथ पानकानि सुसंस्कृताः षाड्वरागलेहाः ॥ ४१ ॥
यूषा रसाः काम्बलिकाः खडाश्च मांसानि धाना विविधाश्च भक्ष्याः ॥
फलानि मूलानि च गन्धवर्णरसैरुपेतानि वमिं जयन्ति ॥ ४२ ॥

द्विष्टार्थसंयोगजच्छर्दि की चिकित्सा—मन के आहत होने पर रोगी के मन के अनुकूल वचन, आश्वासन (सान्त्वना), हर्षण (प्रसन्नता को उत्पन्न करना) लोकप्रसिद्ध कथा कहानी आख्यायिका आदि, शृङ्गारयुक्त वयस्य (समान आयु के प्रिय मित्रवर्ग), विहार (क्रीडायें), मन के अनुकूल मिट्टी फूल वा खट्टे फल आदियों की विविध विचित्र गन्धें, मन के अनुकूल ही शाक भोज्यपदार्थ पानक (पेयपदार्थ शरबत आदि), भलीप्रकार संस्कृत मुरब्बे अचार चटनी आदि, यूष, मांसरस, काम्बलिक, खड, मांस, धाना (भुने हुए जौ गेहूं आदि), तथा गन्ध वर्ण एवं रस से युक्त फल कन्द मूल आदि वमी को जीतते हैं ॥ ४१-४२ ॥

गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं रूपं च यद्यत्प्रियमप्यसात्म्यम् ।
तदेव दद्यात्प्रशमाय चैवं तज्जो हि रोगः सुखमेव जेतुम् ॥ ४३ ॥

जो जो भी गन्ध रस स्पर्श शब्द वा रूप रोगी को प्रिय हो, चाहे वह उसके लिये असात्म्य भी हो वह ही छर्दि की शान्ति के लिये दें । क्योंकि अप्रिय गन्ध आदि से उत्पन्न छर्दिरोग इसीप्रकार ही सुगमता से जीता जा सकता है ।

‘प्रशमाय चैवं तज्जो हि रोगः’ इत्यादि के स्थान पर ‘प्रशमय

१ ‘०युक्ताम्र०’ ग. ।

२ दधिमस्त्वम्लसिद्धन्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः । अथवा—विशितेन रसस्तत्र यूषो धान्यैः खडः फलैः । मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः ॥

३ गन्धादीनां प्रियाणामुपयोगेन छर्द्याः प्रशमे सति तज्जो हि रोग इति गन्धादीनामसात्म्यजनित्ररोगो जेतुं सुख एव भवति । मूल व्याधेः महात्पयस्य

तस्यास्तज्जो हि रोगः सुखएव जेतुम् ' और ' प्रशमाय तस्यास्तज्जो हि रोगः सुखमेव जेतुम् ' । प्रायः ये दो पाठ मिलते हैं । इनका अर्थ इसप्रकार है—छर्दि के निवारण के लिये प्रिय परन्तु असात्म्य भी गन्ध आदि रोगी को देने चाहियें । यदि असात्म्यसेवन से रोग हो जाय तो उसका जीतना सुगम ही होता है ॥४३॥

छर्द्युत्थितानां च चिकित्सितात्स्वाच्चिकित्सितं कार्यमुपद्रवाणाम् ।

अतिप्रवृत्तासु विरेचनस्य कर्मातियोगे विहितं विधेयम् ॥ ४४ ॥

छर्दि से उत्पन्न कास श्वास आदि उपद्रवों की चिकित्सा उनकी अपनी २ चिकित्सा के अनुसार ही करनी चाहिये ।

यदि कै अत्यधिक प्रवृत्त हो तो विरेचन कर्म के अतियोग होने पर जिस चिकित्सा का विधान है वह ही करना चाहिये । विरेचन से यद्यपि वमन और विरेचन दोनों का ग्रहण होता है परन्तु विशेषतः वमनातियोग में निर्दिष्ट ही यहां चिकित्सा होती है । यह प्रकरण सिद्धिस्थान के छठे अध्याय में है ॥ ४४ ॥

वमिप्रसङ्गात्पवनोऽप्यवश्यं धातुक्षयाद् वृद्धिमुपैति तस्मात् ।

चिरप्रवृत्तास्वनिलापहानि कार्याण्युपस्तम्भनबृंहणानि ॥ ४५ ॥

निरन्तर कै के होने से धातुक्षीणता होने पर वायु भी अवश्य वृद्धि को प्राप्त होता है अतः चिरकाल से प्रवृत्त हुई कै में वायुनाशक स्तम्भन और बृंहण योगों का प्रयोग कराना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में भी कहा है—

त्वरमाणो जयेच्छर्दिं प्रसक्तामनुबन्धिनीम् ।

जितत्वादित्यभिप्रायः । सुखमेव जेतुमिति पाठे सुखं यथा भवति तथा जेतुं पर्यन्तमिति शेषः । चक्रः ।

गङ्गाधरस्त्वाह—“यद्यस्य प्रियमस्य नरसासात्म्यस्य च तदेव तस्य प्रशमे दद्यात् । कस्मात् ? हि यस्मात् तज्जो यस्य यत्प्रियमथ चासात्म्यं तदसात्म्यजो रोगस्तदसात्म्यस्य प्रियस्य गन्धादेर्दानेन जेतुं सुख एव भवति” ॥

कोष्ठाश्रयमहामर्मपीडाकरतरा हि सा ॥
न चाग्नेन विना कायस्तन्मयो वर्ततेऽपि च ।
धातुक्षयोऽतिवमथौ समीरणसमीरणात् ॥
नियतं जायते तस्माद् द्रुतं तत्र प्रयोजयेत् ।

प्रच्छर्दनातियोगोक्तं क्रमं स्तम्भनवृंहणम् ' ॥ ४५ ॥

सर्पिर्गुडाः क्षीरविधिर्घृतानि कल्याणकज्यूषणजीवनानि ।
वृष्यास्तथा मांसरसाः सलेहाश्चिरप्रसक्तां च वमिं जयन्ति ॥ ४६ ॥
सर्पिर्गुड (क्षतक्षीण आदि में कहे गये), क्षीर (दूध) के योग,
कल्याणकघृत (उन्मादोक्त), ज्यूषणघृत (कासोक्त अथवा त्रिमर्मी-
योक्त), जीवनीयघृत (वातरक्तोक्त), वृष्य मांसरस, लेह (प्रलेह
अथवा मधु से चाटे जाने वाले योग), ये चिरकाल से प्रवृत्त
कै को जीतते हैं ॥ ४६ ॥

तत्र श्लोकः ।

संख्यां हेतुं लक्षणमुपद्रवान् साध्यतां च योगांश्च ।
छर्दीनां प्रशमार्थं चिकित्सितं ग्राह मुनिवर्यः ॥ ४७ ॥

इत्यभिवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने

छर्दिचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

मुनिश्रेष्ठ श्रीभगवान् आत्रेय ने छर्दियों की शान्ति के लिये
छर्दियों की संख्या, हेतु, लक्षण, उपद्रव, साध्यता तथा छर्दियों
के निवारण करने वाले योग और चिकित्सा कही है ॥ ४७ ॥

इति छर्दिचिकित्सा ।

एकविंशोऽध्यायः ।

अथातो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम विसर्पचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान्
आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

कैलासे किन्नराकीर्णं बहुप्रस्रवणौषधे ।

पादपैर्विविधैः स्निग्धैर्नित्यं कुसुमसंपदः ॥ २ ॥

वर्मद्विर्मधुरान् गन्धान्सर्वतः स्वभ्यलङ्कृते ।

विहरन्तं जितात्मानमात्रेयमृषिवन्दितम् ॥ ३ ॥

महर्षिभिः परिवृतं सर्वभूतहिते रतम् ।

अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमुक्त्वान् ॥ ४ ॥

एक समय जब कि ऋषियों से वन्दित महर्षिगण से परिवृत सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत जितात्मा गुरु भगवान् आत्रेय किन्नरों से आकर्षण जिसमें बहुत से भरने भरते हैं जो बहुत प्रकार की औषधियों से सुसम्पन्न है विविध प्रकार के वृक्षों से स्निग्ध अर्थात् हरे भरे जहां उत्तम उत्तम विकसित फूल अपनी भीनी मधुर गन्धों से चारों दिशाओं को सुरभित करते हैं मानों जिसने सर्वत्र अलंकार धारण किये हुए हैं ऐसे कैलास पर्वत पर विहार कर रहे थे उस समय उचित अवसर पाकर अग्निवेश ने विनयपूर्वक पूछा— ॥ २-४ ॥

भगवन् ! दारुणं रोगमाशीविषविषोपमम् ।

विसर्पन्तं शरीरेषु देहिनामुपलक्ष्ये ॥ ५ ॥

सहसैव नरास्तेन परीताः शीघ्रकारिणा ।

विनश्यन्त्यनुपक्रान्ताः तत्र नः संशयो महान् ॥ ६ ॥

स नाम्ना केन विज्ञेयः संज्ञितः केन हेतुना ।

कतिभेदः कियद्भातुः किंनिदानः किमाश्रयः ॥ ७ ॥

सुखसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो ज्ञेयो यश्चानुपक्रमः ।

कथं कैर्लक्षणैः किं च भगवन् ! तस्य भेषजम् ॥ ८ ॥

भगवन् ! प्राणियों के शरीरों में सर्पविष के सदृश एक प्रकार के दारुण रोग को विसर्पण करते हुए (शरीर के एक देश से

१ 'वहद्विर्मधुरान्' ग. । २ 'स्वभ्यलङ्कृते' ग. ।

३ 'कतिधातुः कतिविधो जायते कैश्च हेतुभिः ।' ग. ।

दूसरे देश पर फैलते हुए) देखता हूँ ।

उस शीघ्रकारी (शीघ्र मृत्यु का कारण) रोग से आक्रान्त मनुष्यों की यदि चिकित्सा न हो सके तो वे सहसा ही काल का प्रास होते हैं । उसके विषय में हमें निम्न महान् संशय हैं—

उसका नाम क्या है ? और उस नामकरण में हेतु क्या है ? वह कितने प्रकार का है ? कितनी धातुएं उससे आक्रान्त होती हैं अर्थात् कितने दोष दूष्य हैं ? उसका निदान क्या है ? आश्रय कौन हैं ? उसके मुखसाध्य कष्टसाध्य वा असाध्य होने को किस प्रकार जान सकते हैं ? उनके स्वरूप को किन लक्षणों से जानें ? और भगवन् उसकी चिकित्सा क्या है ? ॥ ५-८ ॥

तदग्निवेशस्य वचः श्रुत्वाऽऽत्रेयः पुनर्वसुः ।

यथावदखिलं सर्वं प्रोवाच मुनिसत्तमः ॥ ९ ॥

अग्निवेश के उस वचन को सुनकर मुनियों में सर्वश्रेष्ठ आत्रेय पुनर्वसु ने यथावत् सम्पूर्ण विषय का अशेषतया उपदेश किया ॥ ९ ॥

विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः ।

परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात् ॥ १० ॥

प्रथम दो प्रश्नों के उत्तर—उस दारुण रोग का नाम विसर्प अथवा परिसर्प है । विविध प्रकार से सर्पण करने के कारण उसे विसर्प कहते हैं । और चारों ओर सर्पण करने से उसे परिसर्प नाम से भी कहा जाता है ।

इन दोनों नामों से यह भी ज्ञात हो गया कि कभी यह रोग दो ओर ही फैलता है और कभी कभी चारों ओर । अथवा विविध कहने से रोग के ऊपर नीचे तिर्यक् गति से तथा शोथ स्फोट आदि के साथ फैलने का भी ग्रहण है ॥ १० ॥

स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेयः सप्तधातुकः ।

पृथक्त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ॥ ११ ॥

तृतीय और चतुर्थ प्रश्न का उत्तर—वह वात आदि दोषों के कारण सात प्रकार का होता है । उसे सप्तधातुक जानना चाहिये अर्थात् जो उस रोग के कारण होते हैं वे दोष और दूष्य मिलाकर सात हैं ॥ ११ ॥

वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ।

चत्वार एते विसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ॥ १२ ॥

आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः ।

यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः ॥ १३ ॥

सात प्रकार का विसर्प—तीनों दोषों से पृथक् पृथक् एक एक, तीनों दोषों के सन्निपात से एक, और द्वन्द्वज तीन । यथा—

१ वातिक, २ पैत्तिक, ३ कफज, ४ सान्निपातिक ये चार, और द्वन्द्वज तीन यथा—

१ वातपित्त से आग्नेय नामक विसर्प, २ कफवात से ग्रन्थि-विसर्प, ३ और पित्त कफ से घोर कर्दमक नामका विसर्प उत्पन्न होता है ।

इसप्रकार मिलाकर सात प्रकार का यह विसर्प है ॥ १२-१३ ॥

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ।

विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ॥ १४ ॥

सात धातु—रक्त लसीका (Lymph), त्वचा मांस; ये चार दूष्य और वात पित्त कफ ये तीन मलभूत दोष मिला कर सातधातु विसर्पों की उत्पत्ति में कारण हैं ।

कुष्ठ में भी ये ही सात धातु होते हैं, ये पूर्व कुष्ठनिदान एवं कुष्ठचिकित्सित में कहा जा चुका है । परन्तु वहां दोष विसर्पणशील तथा इतने शीघ्रकारी एवं इतने रक्तपित्तप्रबल नहीं होते ॥ १४ ॥

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात् ।

१ ' विसर्पो न ह्यसंस्पृष्टो रक्तपित्तेन लक्ष्यते ' इति ॥

दध्यम्लमस्तुशुक्रानां सुरासौवीरकस्य च ॥ १५ ॥

व्यापन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात् ।

शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम् ॥ १६ ॥

कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च ।

दध्नः शण्डाकिपूर्वाणामासुतानां च सेवनात् ॥ १७ ॥

तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पिष्टकस्य च ।

ग्राम्यान्पौदकानां च मांसानां लशुनस्य च ॥ १८ ॥

प्रक्लिन्नानां च मत्स्यानां विरुद्धानां च सेवनात् ।

अत्यादानादिवस्त्रमादजीर्णाध्यशनात्क्षतात् ॥ १९ ॥

वधवन्धप्रपतनाद्धर्मकर्मतिसेवनात् ।

विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः ॥ २० ॥

विसर्प का निदान—लवण, अम्ल, कटु प्रभृति उष्ण रसों के अत्यन्त सेवन से, खट्टी दही, मस्तु (दही का जल), शुक्र (सिरका), सुरा, सौवीर (निस्तुष जौ से सन्धित कांजिकभेद) तथा विकृत मद्य अथवा बहुत अधिक मद्यके सेवन से, उष्णवीर्य द्रव्योंके अधिक सेवन से, राग षाडव (अचार चटनी आदि) के बहुत प्रयोग से, पत्र शाकों के अधिक खाने से, प्याज अदरक आदि हरितकवर्ग (सू० २७ अ०) के तथा अन्य विदाही द्रव्यों के सेवन से, कूर्चिक किलाट, मन्दक दही (जो दही अच्छी प्रकार जमी न हो, कुछ ढीली ढीली हो) तथा शिण्डाकी प्रभृति सन्धित द्रव्यों के प्रयोग से, तिल, उड़द, कुलत्थ, तैल (तिल सरसों प्रभृति के), पिष्टक (चावलों के आटे से प्रस्तुत भोज्य), ग्राम्य आनूप तथा औदक (वारिशय) पशुपक्षियों का मांस, लहसन, प्रक्लिन्न (अत्यन्त सड़े गले) द्रव्य, मछली; इनके अत्यधिक सेवन से,

१ ' दध्नः शिण्डाकिपूर्वाणामालुकानाञ्च सेवनात् ' ग. । २ ' अजीर्णा-
ध्यशनाशनात् ' पा० । ३ विशेष सू० अ२० ७में ८०६ पृष्ठ पर व्याख्या में देखें।

विरुद्ध भोजनों के करने से, अत्यधिक भोजन, दिन में सोना, तथा अजीर्ण पर अध्यशन (पूर्व भुक्त भोजन अभी पचा न हो किपुनः भोजन कर लेना) से, क्षत से, वध से (अति तीव्र आघात से), कसकर पट्टी वा रस्सी आदि के बांधने से, गिरकर चोट लगने से, घाम वा अग्नि आदि के अत्यधिक तापने से अथवा स्वेद आदि उष्ण कर्मों के अत्यधिक सेवन से, विष वायु वा अग्नि के दोष से विसर्पों की उत्पत्ति होती है ।

इन में जो कूर्चिका और किलाट शब्द आये हैं उनके लक्षण निम्न हैं—

‘ दध्ना सह च यत्पक्वं क्षीरं सा दधिकूर्चिका ।

तक्रेण पक्वं यत्क्षीरं सा भवेत्तक्रकूर्चिका ॥

अर्थात् कूर्चिका दो प्रकार की है । १—दधिकूर्चिका २ तक्र-कूर्चिका । यदि दूध में दही वा लस्सी डालकर पकावें तो वह दूध फट जायगा—जलीयभाग और घनभाग पृथक् २ हो जायेंगे । इस फटे हुए दूध को कूर्चिका कहते हैं । यदि दही से फाड़ा गया हो तो दधिकूर्चिका कहेंगे । यदि तक्र से फाड़ा हो तो तक्र-कूर्चिका कहायगा । फटे हुए दूध के घनभाग को किलाट कहते हैं । कहा भी है—

‘ नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्डः प्रोक्तः किलाटकः ।’

अथवा—

‘ पक्वं दध्ना समं क्षीरं विज्ञेया दधिकूर्चिका ।

तक्रेण तक्रकूर्चा स्यात्तयो पिण्डः किलाटकः ॥’

इस किलाट को बंगाली भाषा में छाना कहा जाता है ।

कभी २ विना पकाये भी दूध फट जाता है । उस दूध को क्षीरशाक कहते हैं ।

‘ अपक्वमेव यन्नष्टं क्षीरशाकं हि तत्पयः ॥’

इस क्षीरशाक के घनभाग को भी किलाट कहते हैं । दूध को नीबू आदि के रस से भी पकाकर फाड़ा जाता है । उस का घनभाग भी किलाट ही कहाता है । शण्डाकी का लक्षण शार्ङ्गधर में इसप्रकार है—

शण्डाकी सन्धिता ज्ञेया मूलकैः सर्पपादिभिः ॥'

मूली सरसों आदि द्वारा सन्धित शुक्तविशेष को शण्डाकी कहते हैं ॥ १५-२० ॥

एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः ।

दूष्यान् संदूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम् ॥ २१ ॥

विसर्प की सम्प्राप्ति—अहितभोजी पुरुष में उक्त मिश्रित निदानों से कुपित हुए वात आदि दोष रक्त आदि (लसीका त्वचा मांस) दूष्यों को दूषित करके विसर्पण करते हैं—विसर्परोग को उत्पन्न करते हैं । सुश्रुत नि० अ० १० में इसप्रकार सम्प्राप्ति कही है—

‘ त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः

सर्वाङ्गसारिणमिहास्थितमात्मलिङ्गम् ।

कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं

तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः ॥' २१ ॥

वहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः ।

विसर्पो बलमेपां तु ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम् ॥ २२ ॥

छठे प्रश्न का उत्तर, विसर्प के आश्रय अथवा आश्रय की भिन्नता से विसर्प के भेद—विसर्प तीन प्रकार का है—१ बाहिर आश्रित २ अन्तराश्रित ३ उभयाश्रित अर्थात् बाहिर और अन्दर दोनों देशों में आश्रित । इनके बल में यथोत्तर गुरुता जाननी चाहिये । वहिःश्रित से अन्तराश्रित अधिक बलवान् होता है और अन्तराश्रित से उभयाश्रित अधिक बलवान् है ॥ २२ ॥

बहिर्माग्राश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम् ।

विसर्पं दारुणं विद्यात्सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम् ॥ २३ ॥

सातवें प्रश्न का उत्तर—जो विसर्प बहिर्माग में आश्रित होता है वह साध्य है । जो बाहिर और अन्दर दोनों मार्गों में आश्रित होता है वह दारुण एवं असाध्य है । जो केवल अन्तर्माग में आश्रित होता है उसे अति कष्टसाध्य जानना चाहिये ।

रोगों के बाह्य और आभ्यन्तर मार्ग सूत्रस्थान अध्याय ११ कहे जा चुके हैं ।

‘तत्र शाखा—रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः । गोष्ठं—पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपकाशयश्चेति र्यायशब्दैस्तन्त्रे स रोगमार्ग आभ्यन्तरः ।’

वहां इसी के आगे शाखानुसारी अर्थात् बाह्यरोगमार्ग में उत्पन्न होने वाले तथा कोष्ठानुसारी अर्थात् आभ्यन्तर रोगमार्ग में उत्पन्न होने वाले रोगों में विसर्प का परिगणन किया जा चुका है ॥ २३ ॥

अन्तःप्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये ।

बहिर्वहिःप्रकुपिताः सर्वत्रोभयसंश्रिताः ॥ २४ ॥

अन्तराश्रय विसर्प में दोष अन्दर ही कुपित होकर अन्दर विसर्पण करते हैं । बाहिर प्रकुपित दोष बाहिर त्वचा आदि पर विसर्पण करते हैं । जब दोष बाहिर अन्दर दोनों स्थानों पर आश्रित होते हैं तब सर्वत्र विसर्प होता है ॥ २४ ॥

सर्मोपघातात्संमोहादयनानां विघट्टनात् ।

तृष्णातियोगाद्रेगानां विषमं च प्रवर्तनात् ॥ २५ ॥

१ ‘सर्मोपघातात्संरोधा०’ ग. । सर्मोपघातात्संमोहादिति अष्टाङ्गसङ्ग्रह-
तः पाठः ।

विद्याद्विसर्पमन्तैर्यदाशु चाग्निबलक्षयात् ।

अतोविपर्ययाद्वाह्यमन्यैर्विद्यात्स्वलक्षणैः ॥ २६ ॥

अन्तर्माणाश्रित विसर्प के लक्षण—मर्मपीडा, सम्मोह (मूर्च्छा), श्वास और आहार आदि के मार्गों वा स्रोतों का विघटन अर्थात् रुद्ध होकर कष्ट होना, अत्यधिक प्यास का लगना (प्यास के अतियोग से जो मुख तालु तथा क्लोम शोष आदि अन्य उपद्रव होते हैं उन सबसे युक्त) और मल वात मूत्र आदि के वेगों का विषमरूप से प्रवृत्त होना (यथावत् प्रवृत्त न होना) तथा अग्नि के बल अथवा अग्नि और बल की क्षीणता होना; इन लक्षणों से अन्तराश्रित विसर्प जाना जाता है।

बहिर्माणाश्रित विसर्प के लक्षण—इससे विपरीत बाह्यविसर्प में ये लक्षण नहीं होते। उसे दोष के अनुसार अपने अपने अन्य लक्षणों से पहिचाना जाता है।

यतः अन्तराश्रित विसर्प आहारमार्ग आदि में फैला होता है अतएव उसमें मर्मपीडा श्वासरोध अति पिपासा आदि विशेष लक्षण पाये जाते हैं। शेष लक्षण जो वात आदि दोषों की मिश्रत के कारण विशेष होते हैं वे दोनों में एक से ही होते हैं यह स्मरण रखना चाहिये ॥ २५—२६ ॥

यस्य लिङ्गानि सर्वाणि बलवद्यस्य कारणम् ।

यस्य चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति सः ॥ २७ ॥

विसर्पों की असाध्यता—जिस विसर्पमें अपने सब लक्षण उपस्थित हों, जिसका कारण अत्यन्त बलवान् हो, और जिसमें अत्यन्त कष्टकर उपद्रव हो गये हों, और जो हृदय आदि मर्म तक पहुँच गया हो वह मृत्यु का कारण होता है। इसमें कहा गया एक २

१ 'अन्तर्जमाशु' पा० । २ 'विपर्ययाद्वाह्यमन्यं विद्यात्' पा० ।
'विपर्ययाद्वाह्यमन्यद्विद्यात्' पा० ।

हेतु असाध्यता का ज्ञापक है । विसर्प के उपद्रव सामान्यतः निम्न हैं—

‘ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः ।

अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः’ ॥ २७ ॥

रूक्षोष्णैः कारणैर्वायुः पूरणैर्वा समाचितः ।

प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम् ॥ २८ ॥

वातिक विसर्प का हेतु और सम्प्राप्ति—रूक्ष उष्ण कारणोंसे

अथवा अन्न द्वारा उदरके भर लेनेके कारण रुद्ध होकर सचित हुआ वायु अत्यन्त दुष्ट होकर दूष्यों (रक्त आदि) को दूषित करता हुआ अपने बल के अनुसार विसर्पण करता है अर्थात् विसर्प को उत्पन्न करता है । यदि वायु का बल अधिक होगा तो शीघ्र फैलेगा और यदि अपेक्षाकृत न्यून होगा तो अपेक्षया शनैः शनैः फैलेगा ।

यहां वायु के कोपक कारणोंसे यह भी बता दिया कि पित्त और कफ द्वारा मार्गके रुद्ध होने पर भी वायु का कोप हो जाता है और कुपित होकर यह वायु उन की अपेक्षा अधिक बलवान् हो जाता है । वायु स्वतन्त्रतया वा परतन्त्रतया कुपित होकर विसर्प की उत्पत्ति में कारण होता है । आचार्य ने इसीसे विसर्प की त्रिदोषजता भी बता दी है । रूक्षता वायु को उत्पन्न करती है । उष्ण से पित्त का और पूरण (वृप्ति) से कफ का संसर्ग जताया है ॥ २८ ॥

तस्य रूपाणि-भ्रमदवथुपिपासानिस्तोदशूलाङ्गमदोद्वेष्टनकम्पज्वर-
तमककासास्थिसन्धिभेदविश्लेषणवमनारोचकाविपाकाश्चक्षुषोराकुल-
त्वमस्रागमनं पिपीलिकासंचार इव चाङ्गेषु, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो-
ऽनुविसर्पति सोऽवकाशः श्यावारुणावभासः श्वयथुमान् निस्तोद-

१ ‘केवलो वायुः’ पा० । २ ‘पूरणैः रूक्षादिभिः पूरणेन मार्गावरोधात् कुपितः परतन्त्रो वायुर्जैयः । उष्णं यद्यपि साक्षाद्वातकरं तथापि रूक्षसञ्चयादुष्णं वातं करोति । उष्णसम्बन्धात् सामान्यसम्प्राप्तिसम्प्राप्तं इह यत्कुपितं तज्जन्यमिति ज्ञेयम् ।’ चक्रः । ३ ‘समाहितः’ पा० । ४ ‘स्थिसन्धिविवर्णवमबा-
रोचक०’ पा० । ५ ‘विश्लेषणवेपना०’ पा० । ६ ‘विसर्पति’ पा० ।

भेदशूलायाससंकोचहर्षस्फुरणैरतिमात्रं प्रपीड्यते, अनुपक्रान्तश्चोप-
चीयते शीघ्रभेदैः स्फोटकैस्तनुभिररुणामैः श्यावैर्वा तनुविषमदा-
रुणाल्पास्त्रावैर्विवद्ववातमूत्रपुरीषश्च भवति, निदानोक्तानि चास्य
नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति वातविसर्पः ॥ २६ ॥

वातिक विसर्प के लक्षण—भ्रम, दबथु (उपताप), प्यास,
निस्तोद (सूई चुभने की सी व्यथा), शूल, अङ्गमर्द, उद्वेष्टन,
कंपकंपी, ज्वर, तमकश्वास, कास, अस्थिसन्धियों में भेदनवत्
पीड़ा और विश्लेषण (सन्धि के खुलने का सा अनुभव होना)
कै आना, अरुचि, नेत्रों का मलिन होना, आंसू आना,
अङ्गों में ऐसा प्रतीत होना जैसे चिऊंटियां चलती हों; ये लक्षण
होते हैं। जहां पर विसर्प फैलता है वह देश श्याम और अरुण
आभा वाला होता है, शोथ होता है। वह देश तोद (व्यथा),
शूल, भेदनवत् पीड़ा, आयास (थकावट), सङ्कोच (सिकुड़ना),
रोमहर्ष, स्फुरण (फुरकना); इनसे अत्यधिक पीड़ित होता है।
यदि चिकित्सा न की जाय तो क्रमशः बढ़ते बढ़ते उस आक्रान्त
देश में पतले अरुण और श्याम आभा वाले एवं शीघ्र फूटजाने
वाले स्फोट (फोड़े) हो जाते हैं। इन फोड़ों में से पतला विषम
दारुण और अल्प अल्प साव निकलता है। रोगी के मल मूत्र
और मलवात रुक जाते हैं। निदान में कहे गये हेतु इस रोगी के
लिये सुखावह नहीं। उससे विपरीत ही इसका उपशय है। इसे
वातविसर्प जानें। सुश्रुत नि० अ० १० में इसप्रकार कहा है—

‘ वातात्मकोऽसितमृदुः परुषोऽङ्गमर्द-

सम्भेदतोदपवनज्वरलिङ्गयुक्तः ।

गण्डैर्यदा तु विषमैरतिदूषितत्वा-

युक्तः स एव कथितः खलु वर्जनीयः ’ ॥ २६ ॥

पित्तमुष्णोपचारेण विदाह्यम्लादिभिश्चितम् ।

दूष्यान् संदूष्य धमनीः पूरयद्वै विसर्पति ॥ ३० ॥

पित्तज विसर्प का हेतु और सम्प्राप्ति—उष्ण क्रिया से अथवा विदाही अम्ल उष्णवीर्य आदि द्रव्यों के सेवन से सञ्चित हुआ पित्त दूष्यों को दूषित करके धमनियों का पूरण करता हुआ विसर्प को उत्पन्न करता है ।

धमनियों का पूरण करना सर्वत्र ही होता है । यहां पर सामान्यतः कह दिया है । वातज में वायु के कारण पित्तज में पित्त के कारण और कफज में कफ के कारण धमनियां फूल जाती हैं ॥ ३० ॥

तस्य रूपाणि—ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा मोहश्छर्दिर्रोचकोऽङ्गभेदः स्वेदोऽतिमात्रमन्तर्दाहः प्रलापः शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वमस्वप्नमरतिभ्रमः शीतवातवारितर्षोऽतिमात्रं हरितहारिद्रिमूत्रवर्चस्त्वं हारिद्ररूपदर्शनं यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशस्ताम्रहरितहारिद्रनीलकृष्णरक्तानां वर्णानामन्यतमं पुष्यति, सोत्सेधैश्चातिमात्रं दाहसंभेदनपरीतैः स्फोटकैरुपचीयते तुल्यवर्णासावैरचिरैरपाकश्च भवति, निदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति पित्तविसर्पः ॥ ३१ ॥

पित्तजविसर्प के लक्षण—ज्वर (१०६° वा १०७ F. तक) तृष्णा (प्यास), मूर्च्छा, मोह (इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों का यथावत् ज्ञान न होना), कै, अरुचि, अङ्गभेद, पसीना आना,

१ 'पित्तमुष्णोपचारादि विदाह्यम्लांशनैश्चितम् । दूष्यं सन्दूष्य मार्गांश्च पूरयद्वै विसर्पति ।' पा० ।

२ 'हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं' इति वा पाठः । 'हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वक्' पा० ।

३ 'हारिद्रदर्शनं' ग. । 'हरितहारिद्ररूपदर्शनं' पा० ।

४ 'पश्यति' पा० । ५ 'अचिरपाकैर्निदानो' पा० ।

अत्यधिक अन्तर्दाह, प्रलाप, शिर में दर्द, नेत्रों का मलिन होना, नींद न आना, किसी कार्य में चित्त का न लगना, भ्रम (Giddiness), शीतल वायु और शीतल जल की अत्यधिक अभिलाषा, मूत्र तथा पुरीष के वर्ण का हरा वा हल्दी का सा होना, रूपों का हल्दी के वर्ण का दिखाई देना; ये लक्षण होते हैं। जिस स्थान पर विसर्प फैलता है वह स्थान तांबे का सा लाल, हरा, हल्दी का सा, नीला, काला वा अत्यन्त लाल हो जाता है। वह स्थान ऊंचे उठे हुए वा उभार वाले दाह और भेदनवत् पीड़ा से युक्त फोड़ों से अत्यधिक आक्रान्त हो जाता है। जिस वर्ण के वे फोड़े होते हैं उसी वर्ण का साव उनसे बहा करता है। ये फोड़े शीघ्र पक जाते हैं। निदान में कहे गये हेतु इस रोगी के लिये सुखकर नहीं होते, उनसे विपरीत ही सुखावह होते हैं। निदान से उक्त सामान्य निदान (लवणाम्ल आदि द्वारा) तथा विशेष निदान दोनों का ही ग्रहण होता है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में लक्षण इसप्रकार कहा है—

‘पित्ताद् द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ।’

सुश्रुत नि० अ० १० में—

‘पित्तात्मको द्रुतगतिर्ज्वरदाहपाक-

स्फोटप्रभेदबहुलः क्षतजप्रकाशः ।

दोषप्रवृद्धिहितमांससिरो यदा स्यात्

स्रोतो जकर्मनिभो न तदा स सिध्येत् ’ ॥ ३१ ॥

स्वाद्वस्त्रलवणस्निग्धगुर्वन्नस्वप्नसंचितः ।

कफः संदूषयन् दूष्यं कृत्स्नमङ्गे विसर्पति ॥ ३२ ॥

शैष्मिक विसर्प का हेतु और सम्प्राप्ति—मधुर अम्ल लवण स्निग्ध तथा गुरु अन्न के सेवन से अथवा दिन में सोने से सञ्चित कफ सब अर्थात् चारों दूष्यों को दूषित करके अङ्ग में विसर्पण

१ ‘कृत्स्नमङ्गं’ च. । ‘कृत्स्नमिति ऊर्ध्वम्, श्लेष्मण ऊर्ध्वकाय एवावस्थानात्’ चक

करता है—विसर्प को उत्पन्न करता है ।

‘कृत्स्न’ के स्थान पर ‘कृच्छ्र’ भी पाठ मिलता है । तब अर्थ यह होगा कि कफज विसर्प कष्ट से अर्थात् मन्दगति से विसर्पण करता है ॥ ३२ ॥

तस्य रूपाणि—शीतकः शीतकज्वरो गौरवं निद्रा तन्द्राऽरोचको मधुरास्यत्वमास्योपलेपो निष्ठीविका छर्दिरालस्यं स्तैमित्यमग्निनाशो दौर्बल्यं, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः श्वयथुमान्पाण्डुर्नातिरक्तः स्नेहसुप्तिस्तम्भगौरवैरन्वितोऽल्पवेदनः कृच्छ्रपाकैश्चिरकारिभिर्वहलत्वगुपलेपैः स्फोटैः श्वेतपाण्डुभिरनुवध्यते, प्रभिन्नस्तु श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमद्भनमनुवद्धं स्निग्धमास्त्रावं स्रवत्यूर्ध्वं च गुरुभिः स्थिरैर्जालावततैः स्निग्धैर्वहलत्वगुपलेपैर्वर्णैरनुवध्यतेऽनुषङ्गी च भवति, श्वेतनखनयनवदनत्वङ्मूर्ध्वचस्त्वं, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्म-विसर्पः ॥ ३३ ॥

श्लेष्मिक विसर्प के लक्षण—शीतक (देह में सर्दी सी लगना), शीत फेरे (जिस ज्वर में ठण्ड लगे), देह की गुरुता, निद्रा, तन्द्रा, अरुचि, मुख का स्वाद मीठा होना, मुख का कफ लिप्त रहना, निष्ठीविका (बारबार थूकना), कै, आलस्य, स्तिमितता, अग्निनाश, दुर्बलता; ये लक्षण होते हैं । जिस स्थान पर विसर्प फैलता है उस स्थान पर शोथ होता है । उसका वर्ण पाण्डु होता है अथवा अत्यधिक लाल नहीं होता । वह स्थान स्निग्ध चिकना स्पर्शज्ञानरहित स्तब्धता एवं गुरुता युक्त होता है । वेदना अल्प होती है । पीछे से इसमें भी फोड़े हो जाते हैं । ये फोड़े कठि-

१ ‘शीतज्वरो गौरवं’ ग. ।

२ ‘दुर्गन्धमास्त्रावं’ ग. । ३ ‘च भवति’ इति कचित् न पठ्यते ।

४ ‘० लङ्मन्त्रन्यासादि’ म. The Gurukul Kangri Collection, Haridwar

नता से पकते हैं । चिरकारी होते हैं । इनके ऊपर की त्वचा मोटी होती है, गाढ़े स्राव से लिप्त रहते हैं और वर्ण श्वेत पाण्डु होता है । जब यह विसर्प फूटता है तब उसमें से श्वेत चिपचिपा तन्तुमय गाढ़ा बंधाहुआ स्निग्ध स्राव बहता है । इसके पश्चात् गुरु (बड़े), स्थिर, जाल से व्याप्त, स्निग्ध, मोटी त्वचा के तथा घने मल के लेप से युक्त व्रणों का अनुबन्ध होता है और एवं चिरकालस्थायी होता है । अथवा यह अर्थ भी किया जाता है कि फोड़ों के ऊपर के भाग में गुरु कठिन जाल-व्याप्त चिकने मोटी त्वचा वाले तथा मल से उपलिप्त व्रण उत्पन्न होते हैं । यह विपरीत निरन्तर स्थायी होता है । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में कहा है—

‘ कफात्कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक् ।’

तथा उक्त सब विसर्पों के लिये सामान्यतः—

‘ स्वदोषलिङ्गैश्चीयन्ते सर्वे स्फोटैरुपेक्षिताः ।

ते पक्वभिन्नाः स्वं स्वं च विभ्रति व्रणलक्षणम् ॥’

रोगी के नख नेत्र मुख त्वचा मूत्र तथा पुरीष का निरीक्षण होता है । निदानोक्त हेतु अनुपशय हैं और उससे विपरीत उशय है । सुश्रुत नि० अ० १० में—

‘ श्लेष्मात्मकः सरति मन्दमशीघ्रपाकः ।

स्निग्धः सितश्वयथुरल्परुग्ग्रकण्डुः ॥’ ३३ ॥

वातपित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः ।

परस्परं लब्धवलं दहद्वात्रं विसर्पति ॥ ३४ ॥

वातपित्तज विसर्प की सम्प्राप्ति—अपने हेतुओं से अत्यधिक कुपित हुए वातपित्त परस्पर बल को पाकर अङ्ग में दाह को करते हुए विसर्प को उत्पन्न करते हैं ॥ ३४ ॥

तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरिवाकीर्यमाणं मन्यते, छर्द्य-

तीसारमूर्च्छादाहमोहज्वरतमकारोचकास्थिसन्धिभेदतृष्णाविपाका-
ङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयते, यं यं चावकाशं विसर्पोऽनुसर्पति सोऽव-
काशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवत्यग्निदग्धप्रकारैश्च स्फोटै-
रुपचीयते, स शीघ्रगत्वादाश्चैव मर्मानुसारी भवति, मर्मणि चोप-
तप्ते पवनोऽतिबलो भिनच्यङ्गान्यतिमात्रं प्रमोहयति संज्ञां हिकाश्वासौ
जनयति नाशयति निद्रां, स च नष्टनिद्रः प्रमूढसंज्ञो
व्यथितचेता न कचन सुखमुपलभते, अरतिपरीतः स्थानादासनात्
शय्यां क्रान्तुमिच्छति क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां लभते दुःखप्रबोधश्च
भवति, तमेवंविधमग्निविसर्पपरीतमाचिकित्स्यं विद्यात् ॥ ३५ ॥

वातपित्तज विसर्प के लक्षण—इस विसर्प के उपताप से रोगी
ऐसा अनुभव करता है जैसे सारे शरीर पर अङ्गारे बिखरे हुए
हों। वह कै अतीसार मूर्च्छा दाह मोह ज्वर तमक अरुचि
अस्थिसन्धियों में पीड़ा तृष्णा अपचन तथा अङ्गभेद आदि लक्षणों
से पीड़ित होता है। जिस जिस स्थान पर विसर्प फैलता है वह
वह स्थान बुझे हुए अङ्गारे वा कोइले के सदृश कृष्ण वा अत्यन्त रक्त
होता है। आग से जलने पर जैसे स्फोट उठ आते हैं उसीप्रकार
के फोड़े उस देश पर उत्पन्न हो जाते हैं। शीघ्र गति करने के
कारण यह शीघ्र ही मर्म देश में पहुँच जाता है। मर्म के विसर्प से
पीड़ित होने पर अत्यन्त बलवान् वायु अत्यधिक अङ्गभेद (देह में
भेदनवत् पीड़ा) को उत्पन्न करता है, संज्ञा को नष्ट कर देता है,
हिका और आस को उत्पन्न करता है। निद्रा नहीं आती। निद्रानाश
संज्ञामोह तथा चित्त के दुःखित होने से उसे कहीं भी सुख
अनुभव नहीं होता। किसी कार्य में मन के न लगने के कारण
दुःखित हुआ वह कहीं बैठना वा खड़ा होना पसन्द नहीं करता

१ 'क्वचित्' ग. । २ 'परितः' ग. । ३ 'दुष्प्रबोधी' ग. ।

वह चाहता है कि मैं शय्या पर लेट जाऊँ । इस प्रकार अत्यन्त दुःखित होने पर शीघ्र ही ऐसी निद्रा आती है जिससे जगाना कठिन होता है (अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है) । इसप्रकार के अग्निविसर्प से पीड़ित रोगी को असाध्य जानना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में भी इसे विस्तार से श्लोकों में संग्रह किया है—

‘ वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छातीसारवृद्धभैः ।
अस्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः ॥
करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ।
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत्स सः ॥
शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाशु च चीयते ।
अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद् द्रुतश्च सः ॥
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ।
व्यथेताङ्गं हरेत्संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ॥
हिध्मां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना ।
क्वचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमिशय्यासनादिषु ।
चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनोदेहश्रमोद्भवाम् ॥
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते ’ ॥ ३५ ॥

कफपित्तं प्रकुपितं बलवत् खेन हेतुना ।

विसर्पत्येकदेशे तु प्रक्लेदयति चाधिकम् ॥ ३६ ॥

कर्दमविसर्प की सम्प्राप्ति—अपने हेतु से कुपित हुए बलवान् कफपित्त एक देश में विसर्प को उत्पन्न करते हैं और वहां अत्यधिक क्लिन्नता कर देते हैं ॥ ३६ ॥

१ ‘०मानः स्वतः’ पा० । २ ‘मनोदेहप्रमोहवान्’ इति विजयरचितयतः पाठः । ३ ‘विसर्पत्येकदेशं तु प्रक्लेदयति देहिनः’ पा० ।

तद्विकाराः—शीतज्वरः शिरोरुक् दाहः सौमित्यमङ्गावसदनं निद्रा तन्द्रा प्रमोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थिभेदो मूर्च्छा पिपासा स्रोतसां प्रलेपो जाड्यमिन्द्रियाणां आमोपवेशन-मङ्गविक्षेपोऽङ्गमर्दोऽरतिरौत्सुक्यं चोपजायते, प्रायशश्चामाशये विसर्पत्येकदेशग्राही च स्यात्; यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशो रक्तपीतपाण्डुपिडकावकीर्णोऽति मेचकाभो मलिनः स्निग्धो बहूष्मा गुरुः स्तिमितवेदनः श्वयथुमान् गम्भीरपाको निरास्त्रावः शीघ्रक्लेदः स्विन्नक्लिन्नपूतिमांसश्च क्रमेणाल्परुक् संज्ञा-स्मृतिहन्ता परामृष्टोऽवदीर्यते कर्दम इवावपीडितोऽन्तरं प्रयच्छ-त्युपक्लिन्नपूतिमांसत्यागी सिरास्नायुसंदर्शी कुणपगन्धी च भवति, तं कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ॥ ३७ ॥

कर्दमविसर्पके विकार वा रूप—शीतज्वर, शिरोवेदना, दाह, स्तिमितता, देह की शिथिलता, निद्रा, तन्द्रा, प्रमोह (मनका अपने विषयके ग्रहणमें असमर्थ होना), अन्नसे द्वेष (अरुचि), प्रलाप, अग्नि-नाश, दुर्बलता, अस्थियोंमें भेदनवत् पीड़ा, मूर्च्छा, प्यास, स्रोतों का कफ आदि से लिप्त रहना, इन्द्रियों की जड़ता, आमयुक्त मल का त्याग, अङ्गविक्षेप (हाथ पैर आदि का इधर उधर मारना), अङ्गमर्द, अरति (किसी कार्य में प्रीति न होना) तथा उत्सुकता ये लक्षण होते हैं । यह प्रायशः आमाशय में विसर्पण करता है । यह देह के एकदेश को आक्रान्त करता है सम्पूर्ण शरीर को नहीं । और जिस स्थान में यह विसर्प फैलता है वह लाल पीली वा पाण्डु वर्ण की पिडकाओं से अत्यन्त व्याप्त मेचक (कृष्णाञ्जन) की आभा वाला, मलिन, स्निग्ध, बहुत गरम, भारी, मन्द मन्द वेदना

१ ' शिरोरुक्त्व ' पा० । २ ' प्रायोपवेशन ' पा० । ३ ' विसर्पत्येकस एकदेश ' पा० । ४ ' ०पिडकावकीर्ण इव ' पा० । ५ ' मेचकाभः कालो मलिनः ' पा० । ६ ' मलिनस्निग्धो ' ग. । ७ ' शीघ्रक्लेदनश्च भवति ' ग. । ८ ' ०मांसत्वक् ' पा० । ९ ' पादपृष्ठञ्चावदीर्यते ' ग. । १० ' इव चोपपीडितो ' ग. ।

युक्त, शोथयुक्त, गम्भीर पाक वाला (अर्थात् यह विसर्प बड़ी गहराई तक पक जाता है), सावरहित, शीघ्र ही क्लिन्न होने वाला—गल जाने वाला होता है । इसमें क्रमशः रोगी का मांस भी स्विन्न एवं सड़ गल जाता है । वेदना अल्प होती है । संज्ञा तथा स्मृति नष्ट हो जाती है । छूने से ही विसर्पस्थान विदीर्ण हो जाता है । यदि अंगुलि से दबाया जाय तो वह स्थान कीचड़ की तरह अवकाश दे देता है—दब जाता है । विसर्पाक्रान्त स्थान से सड़ा गला मांस झड़ता जाता है यहां तक कि नीचे की सिरा स्नायुएं आदि भी दीखने लगती हैं । उसमें से मुर्दे की सी गन्ध आती है । इस कर्दमविसर्प के रोगी को असाध्य जानना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में इन लक्षणों को श्लोकों में संगृहीत किया है—

‘ कफपित्ताज्ज्वरस्तम्भस्तन्द्रा निद्रा शिरोरुजा ।

अङ्गावसादविक्षेपप्रलापारोचकभ्रमाः ॥

मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थनां पिपासेन्द्रियगौरवम् ।

आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति ॥

प्रायेणामाशये गृह्णन्नेकदेशं न चातिरुक् ।

पिडकैरवकीर्णोऽति पीतलोहितपाण्डुरैः ॥

मेचकाभोऽसितः क्लिग्धो मलिनः शोफवान् गुरुः ।

गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते ॥

पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पृष्टस्नायुसिरागणः ।

शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशान्ति तम् ’ ॥ ३७ ॥

स्थिरगुरुकठिनमधुरशीतस्निग्धान्नपानाभिष्यन्दिसेविनामन्या-
यामसेविनामप्रतिकर्मशीलानां च श्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते,
तावुभौ दुष्टप्रवृद्धावतिबलौ प्रदृष्य दृष्यान् विसर्पाय कल्पेते; तत्र
वायुः श्लेष्मणा विवद्धमार्गस्तमेव श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् क्रमेण

२१ प्र० २१]

ग्रन्थिमालां कृच्छ्रपाकसाध्यां कफाशये संजनयति, उत्सन्नरक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं सिरास्नायुमांसत्वगाश्रितानां ग्रन्थीनां मालां कुरुते तीव्ररुजानां स्थूलानामणूनां दीर्घवृत्तरक्तानाम् ॥ ३८ ॥

ग्रन्थिविसर्प की सम्प्राप्ति और लक्षण—स्थिर गुरु कठिन मधुर शीतल तथा स्निग्ध अन्नपान के सेवन से, अभिष्यन्दी भोजन से, व्यायाम वा कोई परिश्रम का कार्य न करने से, तथा प्रतिकर्म (चिकित्सा) न कराने से अथवा उचितकाल में पञ्चकर्म विशेषतः कफनाशक वमन और वायुनाशक वस्ति आदि का प्रयोग न करने से) कफ और वायु प्रकुपित हो जाता है। वे दुष्ट होकर प्रवृद्ध हुए हुए अति बलवान् दोनों दोष रक्त आदि दूष्यों को दूषित करके विसर्प को उत्पन्न करते हैं।

कफ द्वारा वायु के मार्ग के रुक जाने पर वह वायु और भी अधिक प्रबल होकर उसी कफको अनेकधा विदीर्ण करके कफाशय (विशेषतः छाती) में क्रमशः ग्रन्थियों की माला को प्रकट करता है। ये ग्रन्थियां देर से एवं कोईर ही पकती हैं और कष्टसाध्य होती हैं।

अथवा जिसमें रक्त अत्यन्त प्रवृद्ध होता है उसके रक्तको दूषित करके वातकफ दोष सिरा स्नायु मांस एवं त्वचामें आश्रित ग्रन्थियों की माला को उत्पन्न करते हैं। इनमें वेदना अत्यन्त तीव्र होती है। ये ग्रन्थियां छोटी बड़ी लम्बी वा गोल दोनों प्रकार की हो सकती हैं। इनका वर्ण लाल होता है ॥ ३८ ॥

तदुपतापाज्ज्वरातीसारकासहिकाश्वासशोषप्रमोहवैवर्ण्यारोचकाविपाकच्छर्दिमूर्च्छाङ्गभङ्गनिद्रारतिसदनानि प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः, तैरुपद्रुतः सर्वकर्मणां विषयमतिपतितो विवर्जनीयो भवतीति ग्रन्थिविसर्पः॥

ग्रन्थिविसर्प के उपद्रव—इन ग्रन्थियों के उपताप से ज्वर, अतीसार, कास, हिका, श्वास, शोष, प्रमोह, विवर्णता, अरुचि, अपचन,

कै, मूर्च्छा, अङ्गभङ्ग (अङ्गों का टूटना), निद्रा, किसी कार्य में मन न लगना, शिथिलता; ये उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इन उपद्रवों से युक्त रोगी की कोई चिकित्सा नहीं हो सकती, वह असाध्य हो जाता है, उसकी चिकित्सा न करनी चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में भी कहा है—

‘ कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम् ।

रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्सिरास्त्रावमांसगम् ॥

दूषयित्वा च दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम् ।

ग्रन्थीनां कुरुते मालां रक्तानां तीव्ररुग्ज्वराम् ॥

आसकासातिसारास्यशोषहिध्मावमिभ्रमैः ।

मोहवैवर्ण्यमूर्च्छाङ्गभङ्गाभिसदनैर्युताम् ॥

इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफमारुतकोपजः ॥’

वृद्धवाग्भट ने शोष से आस्यशोष (मुख का सूखना) का ग्रहण किया है । परन्तु शोष से राजयक्ष्मा का ग्रहण भी हो सकता है । चक्रपाणि ने कहा है कि इसी ग्रन्थिवीसर्प को कई तन्त्रान्तरों में अपची मानते हैं । परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं प्रतीत होता । वहां दूष्यों में मेद का दूषित होना अत्यावश्यक कहा है ।

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंज्ञः । तत्र प्रधानो व्याधिः, व्याधेर्गुणीभूत उपद्रवः; तस्य प्रायः प्रधानग्रशमे ग्रशमो भवति । स तु पीडाकरतरो भवति पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्रिष्टशरीरत्वात्, तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिवाधेत ॥ ४० ॥

उपद्रव का लक्षण—रोग से पीछे उत्पन्न होने वाला रोग का आश्रय रोग ही उपद्रव कहाता है । यह स्थूल वा अणु दोनों प्रकार का हो सकता है । यह रोग के पश्चात् उत्पन्न होता है अतएव इसे उपद्रव कहते हैं । उप उपसर्ग पूर्वक द्रु-गतौ धातु

इसकी सिद्धि होती है । वस्तुतः उपद्रव रोग ही होता है परन्तु तः पूर्वोत्पन्न रोग के हेतु भूत दोष आदि के कारण ही उससे आत्काल में इसकी उत्पत्ति होती है अतः इसे रोग न कह कर उपद्रव यह भिन्न संज्ञा की गई है । अन्यत्र कहा भी है—

‘यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स मूल एवोपद्रवसंज्ञः ।’

रोग से पीछे उत्पन्न होने का यह अभिप्राय नहीं कि रोग जाय और उसके अनन्तर दूसरा रोग हो । अपि तु रोग के उपद्रव होने के पश्चात् रोग के रहते रहते ही जो उसी रोग पर आश्रित अन्य रोग होता है उसे उपद्रव कहा जाता है ॥

औपद्रविक रोग में रोग प्रधान होता है और उस रोग की अपेक्षा उपद्रव गौण होता है । उस उपद्रव की प्रायः प्रधान रोग की शान्ति से शान्ति होती है । परन्तु रोग से पीछे उत्पन्न होता आ भी वह उपद्रव अपेक्षया अधिक पीड़ा का कारण होता है क्योंकि रोगी का शरीर पूर्व ही रोग से दुःखी एवं निर्बल हुआ होता है । अतएव ही शीघ्रता से उपद्रव का नाश करना चाहिये ।

उपद्रव की चिकित्सा जहां मूलभूत रोग की शान्ति से होती है । जहां केवल उपद्रव की चिकित्सा भी कभी पूर्व करनी पड़ती है । अन्तान्तर में कहा भी है—

‘सोपद्रवमन्योऽन्याविरोधेनोपक्रमेत बलवन्तमुपद्रवं वा ॥’

अर्थात् यदि उपद्रव अत्यन्त बलवान् हो तो पूर्व उपद्रव की चिकित्सा करनी चाहिये । अन्यथा रोग की ही ऐसी चिकित्सा करनी चाहिये जो उपद्रव से विरोधी न हो ॥ ४० ॥

सर्वायतनसमुत्थं सर्वलिङ्गं सर्वाङ्गव्यापिनं सर्वधात्वनुसारिण-
शुकारिणं महात्ययिकमिति सान्निपातविसर्पमचिकित्स्यं विद्यात् ।

सान्निपातिक विसर्प की चिकित्सा—सान्निपातज विसर्प सब

उक्त निदानों से उत्पन्न, सब (उक्त तीनों दोषों) के लक्षणों से युक्त, सर्वाङ्गव्यापी, सब धातुओं में अनुसरण करने वाला शीघ्रकारी तथा महालयकारी (मृत्युकर) होता है । इसे असाध्य जानना चाहिये । सुश्रुत नि० अ० १० में कहा है—

‘सर्वात्मकस्त्रिविधवर्णरुजोऽवगाढः ।

पक्वो न सिध्यति च मांससिराप्रणाशात् ॥’

क्षत के आगन्तु हेतु होने के कारण सुश्रुताचार्य ने क्षतज विसर्प का पृथक् परिगणन किया है और उसका स्वरूप निम्न प्रकार से बताया है—

सद्यःक्षतव्रणमुपेत्य नरस्य पित्तं

रक्तं च दोषबहुलस्य करोति शोफम् ।

श्यावं सलोहितमतिज्वरदाहपाकं

स्फोटैः कुलत्थसदृशैरसितैश्च कीर्णम् ॥

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में भी—

वाद्यहेतोः क्षतात्क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ।

विसर्पं मारुतः कुर्यात्कुलत्थसदृशैश्चितम् ॥

स्फोटैः शोफज्वररुजादाहाढ्यं श्यावलोहितम् ॥

प्रकृतसंहिता में तो निदानों में ही क्षत को भी एक हेतु कहा है । यतः क्षत से कुपित वायु रक्त और पित्त को प्रेरित करके विसर्प को उत्पन्न करता है अतः वातजविसर्प के समान ही सम्प्राप्ति होने से पृथक् नहीं गिना । इस क्षतज विसर्प को असाध्य माना गया है । सुश्रुत नि० अ० १० में कहा है—

‘सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति ’ ॥ ४१ ॥

तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता विसर्पास्त्रयः साध्याः भवन्ति; अग्निकर्दमारुख्यौ पुनरनुपसृष्टौ मर्मण्यनुपहते वा सिरास्नायुमांस-
क्लेदे साधारणक्रियाभिरुभावेवाभ्यस्यमानौ प्रशान्तिमापद्येयाताम्

अनादरोपक्रान्तः पुनस्तयोरन्यतरो हन्यादेहमाश्वेवाशीविषवत् ; तथा
ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवमारभेत चिकित्सितुमुपद्रवोपद्रतं त्वेन परि-
हरेत् ; सन्निपातजं सर्वधात्वनुसारित्वादाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वा-
चासाध्यं विद्यात् ॥ ४२ ॥

विसर्पों की साध्यासाध्यता—वातज पित्तज तथा कफज
तीनों विसर्प साध्य होते हैं । अग्निवीसर्प और कर्दमविसर्प में
यदि उपद्रव न हुए हों, मर्म को आक्रान्त न किया हो, सिरा
स्नायु तथा मांस यदि गल न गये हों तो साधारण चिकित्साक्रम (द्वन्द्वमें
उस२ दोषकी नाशक) से ही लगातार चिकित्सा करने पर दोनों विसर्प
शान्त हो जाते हैं । यदि उपेक्षादृष्टि से चिकित्साकी जायगी तो इन
दोनों में से कोई भी शीघ्र ही सर्पविष के सदृश देह का घातक
सिद्ध होगा ।

तथा जिस ग्रन्थिविसर्प में ज्वर अतीसार आदि उपद्रव
उत्पन्न न हुए हों वैद्य को चाहिये कि उसकी ही चिकित्सा प्रारम्भ
करे । उपद्रवयुक्त ग्रन्थिविसर्प का रोगी विवर्जनीय होता है ।

सन्निपातज विसर्प यतः सम्पूर्ण धातुओं को आक्रान्त कर
लेता है, शीघ्रकारी होता है और चिकित्सा में एक दोष का दूसरे
दोष से विरोध होता है (अर्थात् यदि एक की चिकित्सा की
जाय तो दूसरा बढ़ जाता है) अतः उसे असाध्य जानना चाहिये
अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में भी कहा है—

‘ पृथग्दोषैस्त्रयः साध्या द्वन्द्वजाश्चानुपद्रवाः ।

असाध्यौ क्षतसर्वोत्थौ सर्वे चाक्रान्तमर्मकाः ॥

शीर्णस्नायुसिरामांसाः प्रक्षिन्नाः शवगन्धयः ’ ॥

सुश्रुतसंहिता में वातपित्तज (अग्निवीसर्प), कफपित्तज

१ ‘ दहेव ’ ग. ।

३४६

(कर्दमवीसर्प), तथा वातकफज (ग्रन्थिवीसर्प) का पृथक् परिगणन नहीं किया । वातज पित्तज में ही उनका समावेश कर दिया है । जैसे वातज में उसने कहा है—

‘गण्डैर्यदा तु विषमैरतिदूषितत्वात् ।

युक्तः स एव कथितः खलु वर्जनीयः ॥’

यह ग्रन्थिवीसर्प ही है । कफ के बिना गण्डोत्पत्ति नहीं होती अतः इसे वस्तुतः वातकफज ही जानना चाहिये । इसीप्रकार पित्तज विसर्प के लक्षण में कहा है—

‘दोषप्रवृद्धिहतमांससिरो यदा स्यात्

स्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिध्येत् ।’

इसमें स्रोतोऽञ्जन के सदृश कृष्णवर्ण होने से अग्निवीसर्प का ग्रहण है । वात के कारण पित्त अत्यधिक प्रबल होकर त्वचा आदि को जला देता है । जब पित्त त्वचा मांस आदि पर शोथ कर कर्दम (कीचड़) के सदृश करता है तब पित्त के साथ ही प्रवृद्ध कफ का मिश्रण होता है । अन्यथा उस स्थान का स्वरूप ही कीचड़ के सदृश नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

तत्र साध्यानां साधनमनुव्याख्यास्यामः—

लङ्घनोल्लेखने शस्ते तिक्ककानां च सेवनम् ।

कफस्थानगते सामे रूक्षशीतैः प्रलेपनम् ॥ ४३ ॥

अब साध्यविसर्पों की चिकित्सा की व्याख्या की जायगीः— यदि दोष साम हो और कफस्थान-गत हो तो विसर्प रोगों में लङ्घन वमन और तिक्करस द्रव्य वा औषध आदि का सेवन हितकर होता है । इसमें रूक्ष एवं शीत द्रव्यों का प्रलेप लगाना चाहिये ४३

१ ‘तत्र कफस्थानाश्रिते सामे पित्तस्थानगते च रूक्षाः विशीताः प्रलेप-परिषेकाः’ इति वृद्धवाग्भटोऽप्याह । अत्र विशीता इति पदं विशदीकरोतीन्दुः— ‘विशीता इति स्पर्शेऽम्बुवत् शीतानां प्रतिषेधः । उष्णप्रतिषेधो विसर्पत्वादेव । तेनानुष्णाशीतत्वमभिमतम् ।’

पित्तस्थानगतेऽप्येतत्सामे कुर्याच्चिकित्सितम् ।

शोणितस्यावसेकं च विरेकं च विशेषतः ॥ ४४ ॥

यदि सामदोष पित्तस्थान-गत हो तो भी यही चिकित्सा की जाती है। परन्तु इसमें रक्तावसेचन और विरेचन विशेष किया जाता है॥

मारुताशयसंभूतेऽप्यादितः स्याद्विरूक्षणम् ।

रक्तपित्तान्वयेऽप्यादौ स्नेहनं न हितं मतम् ॥ ४५ ॥

वाताशय में उत्पन्न होने वाले विसर्प में भी प्रारम्भ में विरू-
क्षण करना होता है। सब विसर्पों में रक्तपित्त का अनुबन्ध होने
पर भी प्रारम्भ में स्नेहन करना हितकर नहीं। अष्टाङ्गसंग्रह
चि० अ० २० में कहा है—

‘पूर्वरूपेष्वेव सर्वविसर्पाणां लङ्घनं रूक्षणं सिरामोक्षणमुल्लेखनं
विरेचनं च कुर्यात् । न तु कदाचिदपि स्नेहनम् ॥’ ४५ ॥

वातोल्बणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते ।

लघुदोषे, महादोषे पैत्तिके स्याद्विरेचनम् ॥ ४६ ॥

वातोल्बण विसर्प तथा अल्पदोष पैत्तिक विसर्प में तिक्तघृत
(कुष्ठोक्त) का प्रयोग प्रशस्त है। जो पैत्तिक विसर्प महादोष हो
उसमें विरेचन देना चाहिये ॥ ४६ ॥

न घृतं बहुदोषाय देयं यन्नं विरेचयेत् ।

तेन दोषो ह्यवष्टब्धस्त्वङ्मांसरुधिरं पचेत् ॥ ४७ ॥

तस्माद्विरेकेमेवादौ शस्तं विद्याद्विसर्पिणः ।

रुधिरस्यावसेकं च तद्ध्यस्याश्रयसंज्ञितम् ॥ ४८ ॥

बहुत दोष वाले रोगी को ऐसा घृत नहीं देना चाहिये
जो विरेचक न हो। अन्यथा रोगी को घृतपान कराने
से दोष अन्दर ही रुक जाते हैं और वे वहां आबद्ध होकर त्वचा
मांस और रुधिर को पचा देते हैं। अतएव विसर्प के रोगी को

१ ‘तं च’ ग. ।

(बहुदोष पैत्तिक) प्रारम्भ में विरेचन कराना ही प्रशस्त है ।

इसीप्रकार रुधिर का अवसेचन भी हितकर होता है यतः रुधिर विसर्प का आश्रय कहा गया है । दुष्ट रुधिर रूप आश्रय के उच्छेद से विसर्प का उच्छेद भी होगा ॥ ४७-४८ ॥

इति वीसर्पिणामुक्तं समासेन चिकित्सितम् ।

एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः संप्रवक्ष्यते ॥ ४९ ॥

यह हमने संक्षेप में विसर्प की चिकित्सा कह दी है । यही पुनः विस्तार से कही जाती है ॥ ४९ ॥

मदनं मधुकं निम्बं वत्सकस्य फलानि च ।

वमनं संप्रदातव्यं विसर्पे कफपित्तजे ॥ ५० ॥

मदनादिवमनयोग—कफपित्तज विसर्प में मैनफल, मुलहठी, नीम की छाल, इन्द्रजौ; इस योग द्वारा वमन कराना चाहिये । वमनार्थ इसे शीतल जल में अथवा अष्टाङ्गसंग्रह के विधान के अनुसार ईख के रस में भी चूर्ण को डालकर प्रयोग कराया जा सकता है । अथवा नीम की छाल का काथ कर शेष द्रव्यों का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलाना चाहिये ॥ ५० ॥

पटोलपिचुमर्दाभ्यां पिप्पल्या मदनेन च ।

विसर्पे वमनं शस्तं तथा चेन्द्रयवैः सह ॥ ५१ ॥

पटोलादिवमनयोग—पटोल का नाल (कफहर) और पत्र (पित्तहर), नीम की छाल, पिप्पलीचूर्ण, मैनफल तथा इन्द्रजौ, इस योग को वमनार्थ प्रयोग करावें । पटोल (परवल के नाल और पत्र) तथा नीम की छाल का काथकर शेष द्रव्यों का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलाने का व्यवहार है ।

कई इसे दो योग मानते हैं—एक पटोल और नीम की छाल से और दूसरा पिप्पली और मैनफल से । वे इन्द्रजौ को इन दोनों योगों में डालने को कहते हैं । परन्तु व्यवहार पूर्वोक्त

२१ अ० २१]

विधान से ही है ।

यतः अष्टाङ्गसंग्रह में उक्त दोनों योगों से मिलता जुलता एक योग
 श्रय कहा है और उसमें पानार्थ ईख का रस दिया है—

‘ तत्र मदनेन्द्रियवपटोलपिचुमन्दमधुकेतुरसान् वमनेऽवचार-
 वेत् । ’ चि० अ० २० ॥ ५१ ॥

यही यांश्च योगान् प्रवक्ष्यामि कल्पेषु कफपित्तिनाम् ।
 विसर्पिणां तु योज्यास्ते दोषनिर्हरणाः शिवाः ॥ ५२ ॥
 और जो योग (वमनार्थ) मैं (ग्रन्थकार) कफ पित्त के
 रोगियों के लिये कल्पस्थान में कहूंगा वे भी विसर्प रोगियों को
 प्रयोग कराने चाहियें । वे दोष को निकालने वाले तथा कल्याण-
 कारक हैं ॥ ५२ ॥

मुस्तनिम्बपटोलानां चन्दनोत्पलयोरपि ।
 सारिवामलकोशीरमुस्तानां वा विचक्षणः ॥ ५३ ॥
 कषायान् योजयेद्वैद्यः सिद्धान् वीसर्पनाशनान् ।
 तीन कषाययोग—१ मोथा, नीम की छाल, पटोलपत्र
 मिलित २ तोले, काथार्थ जल ३२ तोले, अवशिष्ट काथ ८ तोले ।
 २—लालचन्दन, नीलोत्पल; इनका काथ ।

३—सारिवा (अनन्तमूल), आंवला, खस, मोथा; इन
 का काथ ।

इन तीनों वीसर्पनाशक सिद्ध कषाययोगों को बुद्धिमान् वैद्य
 प्रयोग करावें ॥ ५३ ॥

किराततिक्कं लोभ्रं चन्दनं सदुरालभम् ॥ ५४ ॥

नागरं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलं सविभीतकम् ।

मधुकं नागपुष्पं च दद्याद्वीसर्पशान्तये ॥ ५५ ॥

किराततिक्कादि कषाय—चिरायता, लोध, लालचन्दन, दुरा-
 लभा (धमासा), सोंठ, कमलकेसर, नीलोत्पल, वहेड़ा, मुल-

हठी, नागपुष्प (नागकेसर), मिलित २ तोले । काथार्थ जल ३२ तोले । अवशिष्ट क्वाथ ८ तोले । इसे वीसर्प की शान्ति के लिये देना चाहिये ॥ ५४-५५ ॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम् ।

नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ॥ ५६ ॥

प्रपौण्डरीकाद्य काथ—पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, कमलकेसर, नीलोत्पल, नागकेसर, लोध्र; इसे भी उसी विधि से पीना चाहिये ।

द्राक्षां पर्पटकं शुण्ठीं गुडूचीं धन्वयासकम् ।

निशापर्युषितं दद्यात्तृष्णावीसर्पशान्तये ॥ ५७ ॥

द्राक्षाद्य शीतकषाय—मुनक्का, पित्तपापड़ा, सोंठ, गिलोय, धमासा; इन्हें २ तोला प्रमाण में लेकर छह गुना जल में भिगो दें । रातभर पड़ा रहने देने के पश्चात् प्रातःकाल छानकर तृष्णा एवं विसर्प की शान्ति के लिये दें ॥ ५७ ॥

पटोलं पिचुमर्दं च दार्वीं कटुकरोहिणीम् ।

यष्ट्याह्वां त्रायमाणां च दद्याद्वीसर्पशान्तये ॥ ५८ ॥

पटोलादि शीतकषाय—पटोलपत्र, नीम की छाल, दारुहल्दी, कटुकी, मुलहठी, त्रायमाणा; इन्हें २ तोला प्रमाण में लेकर पूर्ववत् शीतकषाय तय्यार कर लें । इसे वीसर्प की शान्ति के लिए रोगी को दें ॥ ५८ ॥

पटोलादिकषायं वा भिषक् त्रिफलेया सह ।

मसूरविदलैर्युक्तं घृतमिश्रं प्रदापयेत् ॥ ५९ ॥

अथवा उक्त पटोलादिकषाय के द्रव्यों में त्रिफला और मसूर की दाल डालकर काथ करें । इस काथ में वैद्य भी मिला रोगी को दे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २० में भी कहा है—

‘ घृतमिश्रं वा दार्वीत्वक्तिकापटोलयष्ट्याहारिष्टमसूरत्रिफला-

१ ‘ दुरालमां पर्पटकं गुडूचीं विश्वभेषजम् ’ ग. । २ ‘ वा सर्पिस्त्रिवृतया सह ’ ग. । ‘ वा पिबेत्त्रिफलया सह ’ पा० ।

२१ प्र० २१] चिकित्सितस्थानम् ।

२७६५

जल
लिये
त्रायमाणानाम् ॥'

पटोलपत्रमुद्रानां रसमामलकस्य च ।

पाययेत् घृतोन्मिश्रं नरं वीसर्पपीडितम् ॥ ६० ॥

पटोलादिकषाय—पटोलपत्र, मूंग, आवला; इनके काथ में
मिश्रित करके विसर्प के रोगी को पिलावें ॥ ६० ॥

यच्च सर्पिर्महातिक्तं पित्तकुष्ठनिर्वहणम् ।

निर्दिष्टं तदपि ग्राज्ञो दद्याद्वीसर्पशान्तये ॥ ६१ ॥

और जो पित्तकुष्ठ का नाशक महातिक्तघृत कहा जा चुका
उसे भी बुद्धिमान् वैद्य विसर्प की शान्ति के लिये दे ॥ ६१ ॥

त्रायमाणाघृतं सिद्धं गौल्मिके यदुदाहृतम् ।

विसर्पाणां प्रशान्त्यर्थं दद्यात्तदपि बुद्धिमान् ॥ ६२ ॥

गुल्मचिकित्सित में जो त्रायमाणाघृत कहा गया है बुद्धिमान्
वैद्य विसर्पों की शान्ति के लिए उसे भी दे ॥ ६२ ॥

त्रिवृच्चूर्णं समालोड्य सर्पिषा पयसाऽपि वा ।

घर्माम्बुना वा संयोज्य मृद्वीकानां रसेन वा ॥ ६३ ॥

विरेकार्थं प्रयोक्तव्यं सिद्धं वीसर्पनाशनम् ।

विसर्प में विरेचनयोग—त्रिवृत् (निसोत) के चूर्ण को
घी, दूध, उष्णजल, अंगूरों का रस (वा मुनके का क्वाथ);
इनमें से किसी एक में आलोडित कर वीसर्प के नाश के लिये
रोगी को विरेचनार्थ देना चाहिये ॥ ६३ ॥

त्रायमाणाशृतं वापि पयो दद्याद्विरेचनम् ॥ ६४ ॥

अथवा त्रायमाणा से यथाविधि साधित दूध विरेचनार्थ देना
चाहिये । वृद्धबाग्भट ने बताया है कि यह साधित दूध पित्त के
आधिक्य में देना प्रशस्त है ।

‘त्रायमाणाशृतं पित्तोद्बृत्तौ क्षीरमिति ॥’ ६४ ॥

त्रिफलारससयुक्तं सर्पिस्त्रिवृतया सह ।

प्रयोक्तव्यं विरेकार्थं विसर्पज्वरशान्तये ॥ ६५ ॥

विसर्प तथा उसमें उत्पन्न ज्वर की शान्ति के लिये त्रिफला के काथ में घी और निसोत का चूर्ण डाल कर विरेचन देना चाहिये ॥ ६५ ॥

रसमामलकानां वा घृतमिश्रं प्रदापयेत् ।

स एव गुरुकोष्ठाय त्रिवृच्चूर्णयुतो हितः ॥ ६६ ॥

अथवा आंवलोंके रस वा क्वाथ में घी मिलाकर विरेचनार्थ दें । यदि कोष्ठ क्रर हो तो इसी में त्रिवृत् का चूर्ण भी मिला देना चाहिये ॥ ६६ ॥

दोषे कोष्ठगते भूय एतत्कुर्याच्चिकित्सितम् ।

यदि दोष कोष्ठाश्रित हो तभी बहुधा यह उक्त चिकित्सा की जाती है ।

शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत् ॥ ६७ ॥

शाखाश्रित (वाह्य) विसर्प की चिकित्सा—यदि रुधिर शाखादुष्ट हो तो सब से पूर्व रक्तनिर्हरण ही करना चाहिये । रुधिर भी यद्यपि शाखा में ही परिगणित हैं परन्तु यहां शाखा शब्द से त्वचा मांस स्नायु आदि का ग्रहण करना श्रेष्ठ है ॥ ६७ ॥

भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत् ।

पित्तान्वितं जलौकोभिः कफान्वितमलाबुभिः ॥ ६८ ॥

यदि रक्त वात से युक्त वा दूषित हो तो वैद्य विषाण (सिंगी) से रक्तनिर्हरण करे । यदि पित्तयुक्त हो तो जोंकें लगाकर रक्त निकालना चाहिये । यदि कफयुक्त हो तो तुम्बी से ॥ ६८ ॥

यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा सिराम् ।

त्वद्भांसस्नायुसंज्ञेदो रक्तक्लेदाद्भि जायते ॥ ६९ ॥

१ ' ०कुर्यान्निषग्जितम् ' पा० ।

थवा विकार से आक्रान्त देश के पास ही शीघ्र शिरोवेध
खोलना) करे । यतः रक्त के क्लेद से त्वचा मांस ह्रायु
भी क्लेद (गलना) होजाता है ॥ ६६ ॥

निर्हृतदोषाणां दोषे त्वङ्मांससंश्रिते ।

अदितो वाऽल्पदोषाणां क्रिया बाह्या प्रवक्ष्यते ॥ ७० ॥

सप्रकार दोष के निकाल देने पर त्वचा और मांस में दोष
श्रित होने पर अथवा स्वल्पदोष वाले रोगियों को प्रारम्भ
जाने वाली बाह्य चिकित्सा कही जायगी—

अभिप्राय यह है कि यदि दोष बहुत हो तो पूर्व दोष का

आवश्यक है । और उसके पश्चात् आगे कही जाने वाली

चिकित्सा जाननी चाहिये । परन्तु यदि दोष अल्प है तो रक्त

की आवश्यकता नहीं वहां प्रारम्भ से ही आगे कही जाने

प्रदेह आदि चिकित्सा होती है ॥ ७० ॥

उदुम्बरत्वङ्माधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम् ।

नागपुष्पं प्रियङ्गुश्च प्रदेहः सघृतो हितः ॥ ७१ ॥

उदुम्बरादिप्रदेह—गूलर की छाल, मुलहठी, पद्मकेसर,

उत्पल, नागकेसर, प्रियंगु; इनके अत्यन्त शूद्रण चूर्ण को घी

मिला रोगी को प्रदेह लगाना चाहिये ॥ ७१ ॥

न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः ।

विसग्रन्थिश्च लेपः स्याच्छतधौतघृतामृतः ॥ ७२ ॥

न्यग्रोधपादाद्यलेप—वट की नवीन कोमल जटा, कदली-

के बीच का दण्ड, विसग्रन्थि (कमलकन्द); इन्हें पीस-

रतधौत घृत के साथ मिलाकर लेप करना चाहिये । अथवा

तण्यग्रोधपाद' से नवीन वटांकुरों का भी प्रायः ग्रहण

होता है । चक्रदत्त नामक ग्रन्थ के मूलपाठ में ' तरुणाः ' के

२७६८

चरकसंहिता ।

स्थान पर ' गुन्द्रा च ' ऐसा पाठ है । पर वाग्भट में
पाठ होने से प्रमादपाठ ही मानना चाहिये । अथवा
न्तर मान सकते हैं ॥ ७२ ॥

कालीयं मधुकं हेम वन्यं चन्दनपद्मकौ ।

पत्रं मृणालं फलिनी प्रलेपः स्याद् घृतामृतः ॥ ७३ ॥

कालीयादिप्रलेप—कालीय (कालिया की लकड़ी अथवा
हलदी), मुलहठी, नागकेशर, वन्य (केवटी मोथा), लालचन्दन,
तेजपत्र, मृणाल (कमलदण्ड वा खस), फलिनी (फली)
इनके चूर्ण को घी में मिला प्रलेप करना चाहिये ॥ ७३ ॥

शाद्वलं च मृणालं च शङ्खं चन्दनमुत्पलम् ।

वेतसस्य च मूलानि प्रदेहः स्याद् घृतमृतः ॥ ७४ ॥

शाद्वलादि प्रदेह—शाद्वल (दूब), मृणाल (खस),
शङ्ख, लालचन्दन, नीलोत्पल, वेतस की जड़
चूर्ण को घी में मिला प्रदेह करना चाहिये ॥ ७४ ॥

सारिवा पद्मकिञ्जल्कमुशीरं नीलमुत्पलम् ।

मञ्जिष्ठा चन्दनं लोध्रमभया च प्रलेपनम् ॥ ७५ ॥

सारिवाद्यप्रलेप—अनन्तमूल, पद्मकेसर, खस,
मञ्जिष्ठा, लोध्र, चन्दन, लोध्र, हरड़; इनके चूर्ण को घी
में मिला प्रलेप करना चाहिये ॥ ७५ ॥

नलदं च हरेणुश्च लोध्रं मधुकमुत्पलम् ।

दूर्वा सर्पसर्पैश्च सघृतं स्यात्प्रलेपनम् ॥ ७६ ॥

नलदाद्यप्रलेप—नलद (उशीर अथवा लामज्जक
(मटर अथवा काबुली मोटा चना), लोध्र, मुलहठी,
दूब, राल; इनके चूर्ण को घी में मिला प्रलेप करें ॥ ७६ ॥

यावकाः सक्त्वथैव सर्पिषा सह योजिताः ।

श्री धर्मपाला पाठ । २ 'शूलकं' ग. ।

ट में
थवा

॥ ७७

कड़ी

ल

नी

॥ ७८

॥

७८

ल

की

॥

७५

स,

घी

॥

जक

ठी,

॥ ७६

